रिलिजस डाटा इन मार्कण्डेय पुराण

(इलाहाबाद विश्वविद्यालय की डी० फिल्० उपाधि हेतु प्रस्तुत)

शोध - प्रबन्ध

प्रस्तुतकर्त्री

मीनू अग्रवाल

निर्देशक

श्री वी० डी० मिश्र

इलाहाबाद विश्वविद्यालय

इलाहाबाद

प्राचीन इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्त्व विभाग

इलाहाबाद विश्वविद्यालय

इलाहाबाद

१९९१

विषयानुक्रमणिका

प्राक्कथन

प्राक्कथन

"इतिहास पुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत् " के द्वारा पुराण एक और - दुरूह, क्लिष्ट, गम्भीर, दार्शनिक अनुभूतियों तथा यज्ञ-विशिष्ट-विधानों की संहृत काया-वेद को जन-जन के मानस पटल पर पहुँचाने की प्रक्रिया को गति प्रदान करते हैं, तो दूसरी ओर पुराण हिन्दू जाति के अनेक प्राचीन विश्वासों , परम्पराओं और मान्यताओं की आधार-शिला भी हैं । ये पुराण वैदिक ऋचाओं की क्लिष्टता से दूर, उपनिषदों की दार्शनिकता को अपने आँचल में नये रूप में समेटे, सीधी सादी लोक भाषा में आख्यानों, उपाख्यानों आदि के माध्यम से कहीं पर दशावतारों की लीलाओं का वर्णन कर जनता को मुग्ध करते हैं, कहीं तीर्थों, मन्दिरों व अन्य पवित्र धार्मिक स्थानों को वर्णित कर भारत के विशिष्ट स्थानों से जनमानस को जोड़ने का प्रयास करते हैं, और कहीं रोचक आख्यानों के द्वारा देव विशेष के प्रति भक्ति के सागर में मानस को अवगाहित कराते हैं । राजनीतिक इतिहास भी इन पुराणों में सम्पृक्त है। यही कारण है कि पुराण "विश्वकोष" के रूप में परिगणित होने लगे ।

पुराणों को मुख्य रूप से धार्मिक ग्रन्थ ही समझा जाता है। पुराण वेद विहित धर्म को सरल, सुबोध, रूप में प्रस्तुत करते हैं। कौटिल्यीय अर्थशास्त्र की जयमंगला टीका में उद्धृत श्लोक विशेष महत्वपूर्ण है जो इस प्रकार है -

सृष्टि-प्रवृत्ति-संहार-धर्म-मोक्ष प्रयोजनम् ।

ब्रह्मभिर्विविधैः प्रोक्तं पुराणं पंच्चलक्षणम् ।।

इस श्लोक से स्पष्ट हो जाता है कि धर्म, पुराण का एक अविभाज्य लक्षण था। प्रारम्भ से ही पुराणकार का उद्देश्य धार्मिक मान्यताओं, आख्यानों, विश्वासों, परम्पराओं आदि के संकलन से साहित्य को परिवृत करके उसे पौराणिक रूप प्रदान करना था। यही कारण है कि प्राचीन धार्मिक तत्वों को प्रस्तुत करते समय पुराणों मे नवीन परिस्थितियों के अनुरूप नवोदित आख्यान, उपाख्यान आदि संयुक्त किये गये ।

अष्टादश महापुराणों में मार्कण्डेय पुराण अपना विशिष्ट स्थान रखता है। इसके 13 अध्यायों में निबद्ध "देवी माहात्म्य" एक आकर्षक भक्ति का स्रोत तथा शाक्त सम्प्रदाय का अनूठा विवरण माना जाता है। इसके अतिरिक्त सूर्य, ब्रहमा, दत्तात्रेय आदि देवों से सम्बद्ध आख्यान भी प्राप्त होते हैं । इस प्रकार धार्मिक दृष्टि से मार्कण्डेय पुराण का महत्व और भी बढ़ जाता है। इसी लिये "रिलिजस डाटा इन मार्कण्डेय पुराण" विषय पर शोध के लिये इच्छा जाग्रत हुई ।

यद्यपि पुराण वाङ्मय पर पूर्वकालीन माननीय विद्वज्जनों ने विविध पक्षों पर महत्वपूर्ण अनुसन्धान किया है, जिनमें पार्जीटर, विल्सन, विण्टर नित्ज, वासुदेवशरण अग्रवाल, हाजरा, पुसाल्कर, बलदेव उपाध्याय एस०एन० राय आदि की समीक्षायें और ग्रन्थ वैदुष्यपूर्ण एवं श्रद्धेय है ।

लेकिन पुराण साहित्य इतना विशाल एवं गम्भीर है कि अनवरत शोध समीक्षकों की अन्वेषणात्मक समीक्षायें पौराणिक सूचनाओं के आलोक में प्रस्तुत की जा रही है ।

जहाँ तक मार्कण्डेय पुराण पर अन्वेषण, शोध, समीक्षा और ग्रन्थों का प्रश्न है- कतिपय विद्वानों के समीक्षात्मक ग्रन्थ और शोधात्मक लेख ही प्रकाशित है जिनमें वासुदेव शरण अग्रवाल कृत- 'मार्कण्डेय पुराण, एक अध्ययन' ई. एफ. पार्जीटर कृत मार्क० पुराण का अंग्रेजी अनुवाद प्रमुख हैं। समीक्षात्मक लेखों में कुछ लेख 'पुराणं' पत्रिका में प्रकाशित हुऐ हैं । इस प्रकार मार्कण्डेय पुराण के धर्म से सम्बद्ध एक समग्र अध्ययन से सम्बद्ध ग्रन्थ का अभाव सा है । फलत: इस दिशा में यह शोध प्रबन्ध एक अति लघु एवं अकिंचन प्रयास है जो मेरे अल्प ज्ञान एवं सीमित सामर्थ्यानुसार विवेचित है ।

मार्कण्डेय पुराण का रिलिजस डाटा प्रस्तुत करने से पहले यह भी स्पष्ट कर देना अपेक्षित है कि प्रस्तुत शोध प्रबन्ध में "धर्म" किस सन्दर्भ में विवेचित है क्योंकि धर्म का अर्थ भी अत्यन्त व्यापक है । प्राचीन युग में धर्ममय संस्कृति में भारतीय चेतना की सजीवता थी। जो कुछ भी प्राचीन काल में श्रेष्ठ , उदात्त , कल्याणकर और श्रेयस्कर था, वह धर्म था । महाभारत के अनुसार धारण करने के कारण "धर्म"

इस शब्द की उत्पत्ति हुई । धर्म के व्यापक अर्थ के कारण ही इसकी कई श्रेणियाँ हो गयी, यथा – राजधर्म, मोक्षधर्म, स्त्रीधर्म, नैतिक धर्म, युग धर्म, साम्प्रदायिक धर्म, उपासनीय धर्म आदि । पी.वी. काणे ने तो वर्णाश्रम धर्म को भी धर्म की परिभाषा की परिधि में संजोया । प्रस्तुत अध्ययन में धार्मिक डाटा प्रस्तुत करते समय देव विशेष से सम्बद्ध धर्म पर अधिक ध्यान दिया गया है । निवृत्तिमूलक पक्ष के अन्तर्गत योग-धर्म की चर्चा कर लेना अपेक्षित समझा क्योंकि प्रस्तुत पुराण में – भागवतीय धर्म के सन्दर्भ में दत्तात्रेय और उनकी योग चर्या का विस्तृत वर्णन प्राप्त होता है । चूंकि प्रत्येक धर्म का एक नैतिक पक्ष होता है जो सदाचार का पोषक होता है । नैतिक धर्म, धर्म का एक चारित्रिक पहलू है जो धर्म को सार्वजनीय बना देता है, इस लिये धर्म के नैतिक पक्ष का अनुशीलन भी अत्यन्त संक्षिप्त में किया गया है ।

मार्कण्डेय पुराण में मुख्यत: तीन संस्करण उपादेय है – बैनर्जी संस्करण कलकत्ता § जिसका अँग्रेजी अनुवाद पार्जीटर ने प्रस्तुत किया § वैंकटेश्वर प्रेस बाम्बे, तथा पूना संस्करण । प्रस्तुत अध्ययन में नाग पब्लिशर्स, दिल्ली द्वारा प्रकाशित §खेमराज श्री कृष्ण दास द्वारा सम्पादित वेंकटेश्वर प्रेस बम्बई द्वारा प्रकाशित मार्क. पुराण के पुर्नमुद्रित संस्करण§ मार्कण्डेय पुराण ग्रन्थ को आधार बनाकर अनुशीलन किया गया है ।

प्रस्तुत अध्ययन के इस अकिंचन प्रस्तुतीकरण में अनेक श्रद्धेय विद्वज्जनों व गुरूवरों का सहयोगात्मक एवं आर्शीवादात्मक योगदान रहा है, जिसे विस्मृत करना बहुत बड़ी भूल होगी। सर्वप्रथम मैं अपने शोध सम्प्रेरक गुरू माननीय श्री बी०डी० मिश्र के प्रति कृतज्ञ हूँ जिनके वैदुष्यपूर्ण सुझावों से यह लेखन सम्भव हो सका। समय-समय पर निरलस होकर उन्होंनें मुझे जो अमूल्य सुझाव और प्रेरणा दी उसके प्रति मैं आभार किन शब्दों में व्यक्त कर सकती हूँ। मैं उन सभी विद्वज्जनों, विभागीय गुरूवरों एवं परिवारीय सदस्यों के प्रति हार्दिक रूप से विनयावत हूँ जिनकी सतत प्रेरणा और सहयोगात्मक सुझावों ने पग-पग पर मार्गदर्शन किया। मैं उन सभी विद्वज्जनों की ऋणी हूँ जिनके द्वारा उद्‌भावित तथ्यों का मैनें प्रस्तुत अध्ययन में उपयोग किया है और जिसका निर्देशपाद टिप्पणियों में स्थान-2 पर कर दिया गया है।

शोध प्रबन्ध के अन्त में चित्रों को डा० बलराम श्रीवास्तव कृत 'आइकोनोग्राफी ऑफ शक्ति,' जे०एन० बैनर्जी कृत 'डेवेलपमेन्ट ऑफ हिन्दू आइनोग्राफी", वासुदेवशरण अग्रवाल कृत "भारतीय कला" तथा वी०सी० श्रीवास्तव कृत "सन वरशिप इन इन्शयेन्ट इण्डिया" से उद्धृत किया गया है, उनके प्रति भी मैं कृतज्ञता अर्पित करती हूँ। "रूपमण्डन" तथा पूर्व कारणागम" जैसे संस्कृत के मूल ग्रन्थों को अनुपलब्धता के कारण तत्सम्बन्धी

उद्धरण "आइकोनोग्राफी ऑफ शक्ति " से प्रस्तुत किये गये हैं अतः उनके प्रति भी मैं आभार प्रकट करती हूँ । गंगानाथ झा केन्द्रीय पुस्तकालय से मुझे ग्रन्थों के पर्यालोचन में जो सहयोग मिला उसके लिये भी मैं कृतज्ञ हूँ ।

प्रस्तुत अध्ययन 8 अध्यायों में निबद्ध है जिनमें क्रमशः विषय प्रवेश, शाक्त धर्म, सूर्यपूजा, ब्रह्मा, भागवतीय धर्म और दत्तात्रेय, गौण देवता, नैतिक धर्म और उपसंहार विवेचित है जिसमें मार्कण्डेय पुराण के धार्मिक विवरणों को प्रस्तुत करते समय प्रसंग वश साम्यता व विभिन्नता समन्वित अन्य पुराणों के उद्धरण भी सीमित मात्रा में प्रस्तुत कर दिये गये हैं । जिनमें प्रधानतः विष्णु, मत्स्य, वामन, वाराह, अथवा, भागवत पु० की चर्चा है ।

क्षुद्रबुद्धि और अल्पसामर्थ्य से प्रणीत प्रस्तुत अध्ययन में विषयगत व शैलीगत उभयनिष्ठ त्रुटियों के लिये क्षमा प्रार्थिनी होकर यही निवेदन है-

क्वाहमल्पवयश्चाज्ञः क्वच भागवतार्णवः ।
तितीर्षुर्दुस्तरं मोहादुडुपेनास्मि सागरम् ।।
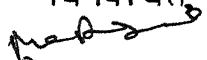
अन्त में परमाशक्ति के प्रति-

विद्यासु शास्त्रेषु विवेकदीपेष्वाद्येषु वाक्येषु च का त्वदन्या ।
ममत्वगर्ते ऽतिमहान्धकारे विभ्रामयत्येतदतीव विश्वम् ।।

विनयावत्,
[signature]
मीनू अग्रवाल

संकेत सूची

अग्नि पु०	–	अग्नि पुराण
अग्रवाल, वा.श.	–	अग्रवाल, वासुदेव शरण
अभि०	–	अभिलेख
अभि० शाकु०	–	अभिज्ञान शाकुन्तलम्
कठो० उप०	–	कठोपनिषद्
कूर्मपु०	–	कूर्मपुराण
गीता	–	श्रीमद्भगवद् गीता
गरूड़ पु०	–	गरूड़ पुराण
छान्दो०उप०	–	छान्दोग्य उपनिषद्
ज०आ० बि०ओ० रि० सो०	–	जर्नल ऑफ बिहार ओरिसन रिसर्च सोसाइटी
देवी भागवत पु०	–	देवी भागवत पुराण
पद्म पु०	–	पद्म पुराण
पु०	–	पुराण
ब्रहमाण्ड पु०	–	ब्रहमाण्ड पुराण
भविष्य पु०	–	भविष्य पुराण
भागवत पु०	–	भागवत पुराण
मत्स्य पु०	–	मत्स्य पुराण
म०म० शास्त्री	–	महामहोपाध्याय हर प्रसाद शास्त्री

मार्क० पुराण	–	मार्कण्डेय पुराण
याज्ञ० स्मृ०	–	याज्ञवल्क्य स्मृति
लिंग पु०	–	लिंग पुराण
वराह पु०	–	वराह पुराण
वामन पु०	–	वामन पुराण
वायु पु०	–	वायु पुराण
विष्णु पु०	–	विष्णु पुराण
विष्णुधर्मोत्तर	–	विष्णुधर्मोत्तर पुराण
शत० ब्रा०	–	शतपथ ब्राह्मण
श्वेता० उप०	–	श्वेताश्वेतर उपनिषद
स्कन्द पु०	–	स्कन्द पुराण
हरिवंश पु०	–	हरिवंश पुराण
इ० हि० क्वा०	–	इण्डियन हिस्टारिकल क्वार्टली,
भण्डारकर, गोपाल कृष्ण	–	राम गोपाल कृष्ण भण्डारकर

चित्र परिचय

चित्र संख्या		1-	महिषमर्दिनी दुर्गा की प्रतिमा, भूमरा, गुप्त काल, पाँचवी शताब्दी,
,,	,,	2-	देवी का महिषासुर से युद्ध, महाबलीपुरम्
,,	,,	3-	महिष के मस्तक पर खड़ी अष्टभुजा दुर्गा महाबलीपुरम्
,,	,,	4-	सिंहवाहिनी दुर्गा, भीटा, पाँचवी सदी
,,	,,	5-	महिषमर्दिनी दुर्गा मथुरा, कुषाण काल,
,,	,,	6-	सप्तमातृका-पट्ट कुषाण काल,
,,	,,	7-	ब्रह्माणी. पुरी §उड़ीसा§
,,	,,	8-	माहेश्वरी, पुरी §उड़ीसा§
,,	,,	9-	वैष्णवी, § पुरी §
,,	,,	10-	कौमारी, § पुरी §
,,	,,	11-	वाराही, § पुरी §
,,	,,	12-	इन्द्राणी §वाराणसी § छठी शताब्दी
,,	,,	13-	इन्द्राणी § पुरी §
,,	,,	14-	नारसिंही§ सतना§

चित्र संख्या 15- सैन्धव मुद्रा

,, ,, 16- शाकम्भरी, (भौटा एंव अजयवीर)

,, ,, 17- नवपाषाण कालीन गुफा चित्रों में सूर्य की आकृति का अंकन

,, ,, 18- मीरपुर से प्राप्त ब्रह्मा की मूर्ति

,, ,, 19- बलराम, कुकरगाँव से प्राप्त, कुषाणकाल,

विशेष :- उपरोक्त सूची में चित्र संख्या 1 से 5 तथा 7 से 14 तथा 16 "आइकोनोग्राफी ऑव शाक्त रिलिजन" लेखक बलराम श्रीवास्तव से उद्धृत है । चित्र संख्या 6, 19 "भारतीय कला", लेखक वा.श. अग्रवाल से तथा चित्र संख्या 15 और 18 "डेवेलपमेन्ट ऑव हिन्दू आइकोनोग्राफी" लेखक जे. एन. बैनर्जी, से तथा चित्र [illegible] 17 वी. सी. श्रीवास्तव कृत "सन "वॅरशिप इन एन्शयेन्ट इण्डिया" से उद्धृत है ।

अध्याय 1

1- प्रस्तावना - विषय, महत्त्व, काल निर्देश आदि

(क) पुराणों का वर्गीकरण और मार्कण्डेय पुराण

(ख) पुराण लक्षण और मार्कण्डेय पुराण

(ग) मार्कण्डेय पुराण का रचनाकाल

पुराण प्राचीन भारतीय जीवन के उच्च आदर्शों, विद्या-वैभव, सभ्यता और संस्कृति के उत्कर्ष के अनुपम निदर्शन हैं । वेदार्थ का उपबृंहण पुराणों का प्रमुख लक्ष्य तो है ही, साथ ही साथ ज्ञान, कर्म उपासना से समन्वित भारतीय संस्कृति का चूड़ान्त निदर्शन भी इन पुराणों में प्राप्य है। धर्मनीति, राजनीति, सदाचार, अर्थशास्त्र, तत्वज्ञान समाज, सभी का सांगोपांग चित्रण पुराणों में हुआ है। ये पुराण संख्या में 18 है जिन्हे महा पुराण की संज्ञा दी जाती है । देवी भागवत, जो एक उपपुराण माना जाता है, मे सूत्र पद्धति में आद्य- अक्षर- निर्देश द्वारा 18 पुराणों को निबद्ध कर प्रस्तुत किया गया है [1]।

---

1. मद्वयं भद्वयं चैव ब्रत्रयं वचतुष्टयं ।
   अनापद् लिंग कूस्कानि पुराणानि पृथक- पृथक ।। देवी भागवतपु॰ (1/3/21)

   अर्थात म अक्षर से दो पुराण- मत्स्य व मार्कण्डेय
   भ ,, ,, ,, ,, भागवत् व भविष्य
   ब्र , ,, तीन ,, ब्रह्म, ब्रह्माण्ड, ब्रह्मवैवर्त
   व ,, चार ,, वायु, विष्णु, वराह, वामन
   अ ,, से ,, अग्नि
   ना ,, ,, ,, नारद
   पद् ,, ,, ,, पद्म
   लिं ,, ,, ,, लिंग
   ग ,, ,, ,, गरूड़
   कू ,, ,, ,, कूर्म
   स्क ,, ,, ,, स्कन्द

अष्टादश पुराणों की सूची प्राय: हर पुराण में थोड़े बहुत अन्तर के साथ उपलब्ध होती है। मार्कण्डेय पुराण में अष्टादश पुराणों की जो सूची प्राप्य है उनके नाम क्रम से इस प्रकार हैं :-

§1§ ब्रह्म §2§ पद्म §3§ विष्णु §4§ शिव §5§ भागवत §6§ नारद §7§ मार्कण्डेय §8§ अग्नि §9§ भविष्य §10§ ब्रह्म-वैवर्त §11§ लिंग §12§ वराह §13§ स्कन्द §14§ वामन §15§ कूर्म §16§ मत्स्य §17§ गरूड़ §18§ ब्रह्माण्ड ।[1]

इस सूची में मार्कण्डेय पुराण की नाम- क्रम संख्या सातवी है । लेकिन अन्य पुराणों की अलग-अलग सूचियों में मार्क० पुराण की क्रम संख्या अलग-अलग दी है। पद्म पुराण के उत्तर खण्ड में दो स्थानों पर [2] तथा

---

§1§ ब्राह्मं पाद्मं वैष्णवं च शैवं भागवतं तथा ।।
तथान्यन्नारदीयं च मार्कण्डेयं च सप्तमम् ।।
आग्नेयमष्टमी प्रोक्तं भविष्यं नवमं तथा ।।
दशमं ब्रह्मवैवर्त लैंगमेकादशं स्मृतम् ।।
वाराहं द्वादशं प्रोक्तं स्कंदमत्र त्रयोदशम् ।।
चतुर्दशं वामंन च कौर्मं पंचदश तथा ।।
मात्स्यं च गारूड़ं चैव ब्रह्माण्डं च ततः परम् ।। मार्क. पुराण, 134/8-11

§2§ पद्म पुराण, उत्तर खण्ड , 219/ 25-27, 261/77-81

आदि और पाताल खण्ड में पुराणों की सूची प्रदिष्ट है। आदि खण्ड में प्रस्तुत पुराण सूची में सातवां पुराण मार्क० पुराण प्रोक्त है जब कि पाताल खण्ड में वर्णित सूची में छठवा पुराण, मार्क० पुराण है । [1] इसी प्रकार वायु पुराण में 16 पुराणों की सूची में मार्क॰पुराण तीसरा पुराण प्रोक्त है [2] लेकिन मार्क० पुराण में इसका नाम क्रम सातवां वर्णित है ।[3]

मार्कण्डेय पुराण का देवी- माहात्म्य अंश सर्वाधिक आकर्षक तथा महत्वशाली है जो "दुर्गा- सप्तशती" के नाम से प्रसिद्ध है, तथा प्राय: सम्पूर्ण उत्तर भारत में बड़े आदर व श्रद्धा से नवरात्र मासों में जिसका स्तवन किया जाता है। प्रो॰ एच॰ एच॰ विल्सन ने "विष्णु पुराण" की

---

[1] पद्म पुराण, पाताल खण्ड 10॰/51- 53,

[2] वायु पुराण, 104/ 1॰

[3] अष्टादश पुराणानि यानि प्राह पितामह: ।।
तेषां तु सप्तमं ज्ञेयं मार्कंडेयं सुविश्रुतम् ।। [मार्क॰ पुराण, 134/7

प्रस्तावना में ﴾1﴿ मार्क० पुराण की विशेषताओं की ओर ध्यान आकर्षित करते हुए देवी माहात्म्य अंश को संकलन कर्ता की अनूठी शैली का प्रतीक कहा है, उसके अनुसार यह पुराण अन्य पुराणों से अपनी अलग पहचान रखता है, इसकी वर्णन शैली चरित्रात्मक या आख्यानात्मक है। जिसमें आख्यानों का सक्रम प्रवाह है - जिनमें अधिकांश मौलिक है।"

मार्क० पुराण में तद्युगीन समाज, धर्म, राजनीति, सम्प्रदाय आचार विधि, आदि की सम्पूर्ण पीठिका प्रस्तुत की गयी है। वासुदेव शरण अग्रवाल महोदय मार्क० पुराण को गुप्तकालीन संस्कृति की उदात्त भावना से ओत- प्रोत मानते हैं। उनके अनुसार "स्वर्ण युग की संस्कृति के निर्माण में जिन अनेक धार्मिक और सामाजिक संस्थाओं और - विचारधाराओं से प्रेरणा मिल रहीं थी उन्हें हम इस पुराण के वर्णनों

---

(1) This Purana has a character different from that of all the others. It is nothing of a sectorial spirit, little of Religious tone, rarely inserting prayers and in vocations to any duty, and such as are enserted are brief and modestate -- --------------- Its leading feature is narrative and it presents on uninterrupted succession of legends------------------ and the whole has been narrated in the compilers own manner, a manner superior to that of the puranas in general with exception of the Bhagavata."

H.H. Wilson

में स्पष्ट पहचान सकते हैं उस नये युग में जीवन और कर्म, धर्म और आचार, त्याग और संग्रह, प्रवृत्ति और निवृत्ति के विषय में जो नई आस्था और नई भावनाएं उत्पन्न हो रही थी उनके तरंगित वर्णन पुराण साहित्य में अनेक स्थानों पर मिलते हैं, उनमें श्रीमार्कण्डेय पुराण तो जागरूक विचारों के उस आन्दोलन की प्रबल अभि-व्यक्ति है ।-[1] साथ ही साथ शक्ति पूजा, दत्तपूजा, अग्नि, शिव, ब्रहमा, इन्द्र, विष्णु आदि देवों के विवरणों से इसका धार्मिक पक्ष अधिक सुसमृद्ध है । लगभग 13 अध्यायों में वर्णित शक्ति आख्यान के कारण यह पुराण शक्ति सम्प्रदाय का विशिष्ट ख्याति प्राप्त पुराण है। लेकिन अलग- अलग विद्वानों ने विभिन्न आधार पोठिकाओं पर वर्गीकृत कर मार्क-पुराण को भिन्न- 2 कोटियों में रखा है ।

<u>पुराणों का वर्गीकरण और मार्क0 पुराण-</u> महामहोपाध्याय हर प्रसाद शास्त्री महोदय ने अष्टादश पुराणों को छ: वर्गों में विभाजित किया है ।[2]

---

[1] अग्रवाल वासुदेव शरण- मार्क0 पुराण एक सांस्कृतिक अध्ययन पृष्ठ -1

[2] ज0 आ0 बि0 ओ0 रि0 सो0, 14, पृष्ठ - 330- 337

§1§ साहित्यिक पुराण- के अन्तर्गत गरूड़, नारद व अग्नि पुराण।

§2§ तीर्थ सम्बन्धी पुराण- पद्म, स्कन्द, भविष्य पुराण।

§3§ परिवर्धित पुराण- ब्रह्म, ब्रह्मवैवर्त, भागवत ।

§4§ ऐतिहासिक पुराण- ब्रह्माण्ड, लुप्त वायु, विष्णु ।

§5§ साम्प्रदायिक पुराण- मार्कण्डेय, लिंग, वामन, ।

§6§ संशोधित पुराण - वाराह, कूर्म मत्स्य, ।

इस प्रकार मार्कण्डेय पुराण की गणना साम्प्रदायिक पुराण के अन्तर्गत की गयी । सम्भवत: देवी महात्म्य अंश की प्रधानता के कारण इसे शाक्त सम्प्रदाय का प्रमुख ग्रन्थ माना गया। लेकिन यहां पर यह तथ्य विचारणीय है कि मार्क॰ पुराण में किसी भी प्रकार का सम्प्रदायवाद नहीं है स्वयं देवी महात्म्य अंश शाक्त सम्प्रदायवाद से असम्पृक्त है । पुनश्च शक्ति के साथ-2 सूर्य अग्नि, ब्रहमा, शिव, विष्णु, का भी वर्णन प्रस्तुत पुराण में प्राप्य है जिससे किसी सम्प्रदाय विशेष से ही सम्बन्धित नहीं कहा जा सकता । यदि देवी माहत्म्य अंश को पुराण से पृथक भी कर दिया जाये तो सूर्य प्रधान महत्त्व शाली देवता प्रतीत होते हैं जिनसे सम्बद्ध आख्यान लगभग 8 अध्यायों में मिलता है यही नहीं ब्रहमा विषयक आख्यानों में ब्रहमा सर्वोच्च देव के रूप में अधिष्ठित है [1] अग्नि स्तोत्र में सर्वोच्च देव का स्थान अग्नि को [2] शक्ति

---

§1§ मार्क० पुराण, 43/14-15

§2§ वही, 96/67

आख्यान में देवी को [1] - तथा सूर्य आख्यान में भास्कर देव को [2] दिया गया है अतः मार्क० पुराण को साम्प्रदायिक पुराण की संज्ञा देने में आपत्ति हो सकती है वैसे भी कुछ विद्वान देवी माहात्म्य को प्रक्षिप्तांश स्वीकार करते हैं ।

कुछ विद्वानों ने देवों के आधार पर भी पुराणों का वर्गीकरण किया है जिनमें दीक्षितार महोदय प्रमुख है जिनका वर्गीकरण इस प्रकार है[3]

1-	ब्रहमा विषयक पुराण-	ब्रहम और पद्म पुराण
2-	सूर्य- ,, ,,	ब्रहम वैवर्त पुराण
3-	अग्नि ,, ,,	अग्नि
4-	शिव ,, ,,	शिव, स्कन्द, लिंग, कूर्म, वामन, वराह, भविष्य, मत्स्य, मार्क०, ब्रहमाण्ड
(5)	विष्णु ,, ,,	नारद, भागवत, गरूड़, विष्णु ।

---

(1) वही, 78/65

(2) वही, 100/8.

(3) इ० हि० क्वा. वाल्यूम, 8, पृष्ठ 766, कलकत्ता

दीक्षितार महोदय का यह वर्गीकरण तामिल ग्रन्थों पर आधारित है । इसमें मार्कण्डेय पुराण शैव पुराण के अन्तर्गत परिगणित है । यह तथ्य विचारणीय हो जाता है कि मार्कण्डेय पुराण में शिव गौण देव के रूप में व्यंजित है । शिव से सम्बन्धित आख्यान भी नहीं के बराबर है । केवल शिवभक्त मार्कण्डेय ऋषि द्वारा प्रोक्त होने के कारण मार्कण्डेय पुराण शैव पुराण नहीं स्वीकार किया जा सकता । यदि देव पूजा को आधार बना कर पुराणों का वर्गीकरण किया जाता है तो मार्कण्डेय पुराण को शक्ति की महत्ता का द्योतक पुराण कहा जा सकता है और इस रूप में यह शक्ति विषयक पुराणों की कोटि में परिगणित किया जाना चाहिये ।

गुणों के आधार पर भी पुराणों का वर्गीकरण किया गया है । तीन प्रधान गुणों के आधार पर पुराण भी तीन प्रकार के माने गये हैं - सात्त्विक, राजस और तामस । इनके अतिरिक्त चौथे प्रकार में भी पुराणों का वर्गीकरण किया गया वह था -

संकीर्ण पुराणों का रूप । मत्स्य पुराण में विष्णु को प्रधानता देने वाले पुराणों को सात्त्विक, ब्रम्हा को महत्ता प्रदान करने वाले पुराणों को राजस, तथा शिव की प्रधानता से युक्त पुराणों को तामस पुराण की संज्ञा दी गयी है । सरस्वती और पितृगणों का माहात्म्य द्योतित करने वाले पुराण संकीर्ण पुराण कहे गये हैं[1] इस दृष्टि से मार्कण्डेय पुराण को शक्ति

---

1. सात्त्विकेषु पुराणेषु माहात्म्यमधिकं हरे : ।
   राजसेषु च माहात्म्यमधिकं ब्रह्मणो विदुः ।।
   तद्वदग्ने माहात्म्यं तामसेषु शिवस्य च ।
   संकीर्णेषु सरस्वत्याः पितृणां च निगद्यते ।। - मत्स्य पु0,53/66-67-68

माहात्म्य की दृष्टि से संकीर्ण पुराणों की कोटि में रखा जा सकता है । पद्म पुराण में सात्त्विक, राजस और तामस पुराणों का वर्गीकरण भी ऊपर लिखित प्रकार से किया गया है[1] इस प्रकार उपरोक्त वर्गीकरण के आधार पर यह कहा जा सकता है कि निश्चित रूप से पुराणों को किसी वर्ग विशेष में वर्गीकृत करने का ठोस आधार नहीं है । वस्तुत: सभी पुराण "एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति" अथवा "एको देव सर्वभूतेषु गूढं सर्वव्यापी सर्व भूतान्तरात्मा" के सिद्धान्त का ही अनुमोदन करते हैं चाहे वे देव विशिष्ट के उपासक हो । मार्क0 पुराण इस तथ्य का अपवाद नहीं हैं । वस्तुत: प्रस्तुत पुराण में भी एकोदेव की प्रतिष्ठा परिलक्षित होती है जो भिन्न - भिन्न अवसरों पर भिन्न - भिन्न रूप धारण करते हैं । भिन्न - भिन्न आख्यानों में ब्रहमा, विष्णु, शिव और शक्ति परस्पर एक दूसरे की उत्पत्ति के कारण बन जाते हैं । देवी माहत्म्य में शक्ति ही विष्णु, ब्रहमा, शिव को स्वकार्य में नियोजित करती है तो ब्राहम विषयक आख्यानों में ब्रहमा सर्वोच्च परम ब्रहम के रूप में निरूपित है जो स्वयं सत्त्व, रज, तम गुणोधारी होकर ब्रहम, विष्णु और शिव नाम को प्राप्त होते हैं । सूर्य सम्बन्धी

---

[1] पद्म पुराण, उत्तर खण्ड, 263/81-84

सात्त्विक पुराण : विष्णु, नारदीय, भागवत, गरूड़, पद्म, वराह ।
राजस पुराण : ब्रहमाण्ड, ब्रहमवैवर्त, मार्कण्डेय, ब्रहम, वामन, भविष्य
तामस पुराण : मत्स्य, कूर्म, लिंग, शिव, स्कन्द, अग्नि ।

आख्यानों में यह कार्य सूर्य द्वारा सम्पादित होना वर्णित है । वस्तुत: एक परम् ब्रहम की सत्ता को सभी पुराण एक स्वर से स्वीकार करते जान पड़ते हैं । अत: देव विशेष की परिधि में पुराणों को नहीं बांधा जा सकता । तथापि देवी माहत्म्य अंश की महत्ता के कारण कुछ विद्वान मार्क० पुराण को शाक्तों का प्रसिद्ध ग्रन्थ स्वीकार करते हैं ।

पुराण लक्षण और मार्क० पुराण

सामान्य रूप से पुराणों के पंच लक्षण प्रतिष्ठित है - सर्ग, प्रतिसर्ग, वंश, मन्वन्तर, और वंशानुचरित।[1] प्राचीनतम पुराणों में इन पंच लक्षणों का निर्वाह हुआ है जिनमें विष्णु पुराण प्रमुख है । इस लिये पंचलक्षणों की कल्पना को प्राचीन माना जा सकता है । जब पुराणों में धर्मशास्त्रीय विषयों जैसे तीर्थ, यात्रा, दान, जप आदि का समावेश हुआ तो इन पंच-लक्षणों के अनुपालन में शिथिलता प्रारम्भ हो गयी और यही कारण है कि कुछ विद्वानों ने कुछ पुराणों को पंचलक्षणात्मक परिभाषा के अनुरूप नहीं स्वीकार किया । पुसालकर महोदय[2] के अनुसार तो उपलब्ध पुराणों

---

1. सर्ग: प्रतिसर्गश्च वंशो मन्वन्तराणि च ।
   वंशानुचरितं चैव पुराणं पञ्चलक्षणं ।।"

   पुराणों के ये पांच लक्षण थोड़े अन्तर के साथ या
   समान शब्दावली में निम्न॰ पुराणों में भी प्राप्त होते है -
   विष्णु पु०, 3/6/24, मार्कण्डेय पु०, 134/13, मत्स्य पु०, 53/64

2. पुसालकर कृत "हमारे पुराण: एक समीक्षा"
   कल्याण 1950 सं० 1, पृष्ठ 551 - हिन्दू संस्कृति अंक

में कोई भी पुराण पूर्ण रूप से पंचलक्षणात्मक परिभाषा के अनुरूप नहीं प्रतीत होता । पुसाल्कर महोदय का यह मत मार्कण्डेय पुराण पर सही नहीं बैठता। प्रस्तुत पुराण के वर्ण्य विषय की विवेचना से उसमें पंचलक्षणों का समाहार परिलक्षित होता है। सर्ग जो प्रधानत: ब्रह्माण्ड की सृष्टि से सम्बन्धित है, का समाहार मार्क० पुराण में अध्याय- 43-44 में हुआ है । प्रतिसर्ग अर्थात प्रलय के बाद पुन: सृष्टि का वर्णन अध्याय 44 से अध्याय 49 तक हुआ है जिसके अन्तर्गत वाराहरूप धारण कर पृथ्वी का जल से उद्धार, पुनश्च पर्वत, लोक, पुरस्कृत, वैकृत सृष्टि, देवादि सृष्टि मिथुन व रूद्रादि सृष्टि का वर्णन है। वंश का चित्रण अध्याय 49 में प्राप्त होता है । मन्वन्तर के अन्तर्गत अध्याय 50, 58 से 64, 66, 77 , 91 से 97 में क्रमश: स्वायम्भुव, स्वारोचिष, औत्तम , सावर्णिक, दक्षसावर्णिक, ब्रहमसावर्णिक, धर्मसावर्णिक, रूद्रसावर्णिक, दक्षसावर्णिक, ब्रहमसावर्णिक धर्मसावर्णिक, रूद्र सावर्णिक, रौच्य और भौत्य आदि मन्वन्तरों की कथा तथा सम्बन्धित मनुओं की उत्पत्ति वर्णित है। वंशानुचरित नामक पाँचवे लक्षण का निर्वाह पुराण के 98 वे, तथा 108 वें अध्याय से 133 वे अध्याय तक हुआ है। जिसमें राजाओं के चरित्र सम्बन्धित आख्यान है इनमें राजा खनित्र, करंन्धम, प्रांशु, विविंश, नाभाग, अवीक्षित, मरूत, तथा नरिष्यन्त के जीवन कथा प्रसंग प्रस्तुत किये गये हैं । इस प्रकार प्रस्तुत पुराण पंचलक्षणों की परिभाषा की कसौटी पर सही उतरता है।

आगे चलकर पुराण दशलक्षणात्मक भी माने गये। भागवत पुराणानुसार महापुराणों के दस लक्षण है- सर्ग, विसर्ग, वृत्ति, रक्षा, अन्तर, वंश, वंशानुचरित

संस्था, हेतु, अपाश्रय । मार्क० पुराण मे दस लक्षणों का उल्लेख नहीं है ।
भुवनकोश, जो पुराणों का एक महत्त्वपूर्ण अंग बन गया था, के अन्तर्गत
भारत वर्ष का भूगोल वर्णित है। भारत वर्ष के भूगोल का वर्णन प्रस्तुत पुराण
में दो विधानों से अभिव्यक्त हुआ है । §1§ कार्मुक संस्थान जिसमें भारत
की स्थिति धनुष सदृश है ।

§2§ कूर्म संस्थान- जिसमें भारत को कूर्म की आकृति का कल्पित किया
गया है। कार्मुक संस्थान का निर्देश प्रस्तुत पुराण के 54 में प्राप्त होता है
जिसमें भारत वर्ष के नवखण्डात्मक विभाजन का वर्णन है। ये भेद हैं-

§1§	इन्द्रद्वीप	जिसका समीकरण अंडमान द्वीप से करते हैं।
§2§	ताम्रवर्ण-	सिंघल या श्रीलंका
§3§	कसेरूमान-	मलयद्वीप
§4§	गभस्तिमान-	?
§5§	नागद्वीप	निकोबार जिसका उल्लेख चोललेखों में नक्कवरै के रूप में हुआ है ।
§6§	सौम्य	?
§7§	गान्धर्व	?
§8§	वरूण	-बोर्नियो
§9§	भारत-	भारत

वस्तुत: ये बृहत्तर भारत के ही अंग थे। यह वह समय था जब भारतीय
संस्कृति व सभ्यता का प्रसार सुदूर पूर्व के द्वीपों में हो रहा था और वे

भारतीय भौगोलिक विस्तार के अन्तर्गत ही माने जाते थे। मार्क0पुराण का यह भी कथन है कि ये सभी खण्ड एक दूसरे से समुद्र द्वारा विभक्त थे।[1]

नवखण्डों के अतिरिक्त भारत के सात कुलपर्वतों, नदियों, जनपदों की विस्तृत सूची भी प्राप्त होती है। जनपदों की नामावली पूरे भारत को 7 भागों में विभक्त कर प्रस्तुत की गयी है ये सात विभाग थे - मध्यदेश [2] उदीच्य [3] प्राच्य [4] दक्षिणपथ [5] पाश्चात्य [6] विन्ध्याश्रयी [7] तथा पर्वताश्रयी।[8]

---

[1] वही, 54/5. समुद्रान्तरिता ज्ञेयास्ते त्वगम्या: परस्परम् ।

[2] वही, 54/33.

[3] वही, 54/42.

[4] वही, 54/42.-44

[5] वही, 54/45-48

[6] वही, 54/49-54

[7] वही, 54/55

[8] वही, 54/56-57

कूर्म संस्थान के अन्तर्गत भारत के नवखण्डों की कल्पना भगवान कूर्म के (1) मध्य भाग (2) मुख (3) पूर्व दक्षिणी पाद (4) दक्षिणी कुक्षि (5) पश्चिम दक्षिणी पाद (6) पृष्ठ भाग तथा (7) पश्चिमोत्तरी पाद (8) उत्तर कुक्षि (9) पूर्वोत्तरी पाद में की गयी और इन्हीं नव भागों में भारतीय जनपदों की अवस्थिति की कल्पना की गयी । मार्क॰पुराण के 55 वें अध्याय में यह कूर्म संस्थान विस्तार से वर्णित है। इस में पूर्व सूची की अपेक्षा कई नूतन जनपदों के नाम सम्मिलित हैं जो गुप्तकाल में पहली बार मिलते हैं । मार्क० पुराण के कूर्म संस्थान का विवरण वराहमिहिर के बृहत्संहिता के नक्षत्र कर्माध्याय, नरपति जयचर्या तथा पराशर तन्त्र में भी प्राप्य है। (1) अलबेरूनी ने भी नक्षत्रीय आधार पर भारत के नवखण्डात्मक विभाजन का उल्लेख किया है । (2)

मार्क० पुराण का रचना काल-

मार्कण्डेय पुराण की रचना कब हुई इस सन्दर्भ में विद्वानों के अलग अलग मत है । जैमिनी के महाभारत विषयक चार प्रश्नों के साथ शुरू होने वाले मार्क०पुराण को निःसन्देह "महाभारत" के बाद की रचना माना जा सकता है। इस सन्दर्भ में प्रो॰ विल्सन के मत की विवेचना करना भी आवश्यक

---

(1) सिंह, एम॰ आर, ज्याँग्राफिकल डाटा इन अर्ली पुरानाज, पृष्ठ-11

(2) वही पृष्ठ -11

हो जाता है। विष्णु पुराण के अनुवाद की प्रस्तावना में प्रो0 विल्सन ने यह मत व्यक्त किया कि यह§मार्क0§पुराण महाभारत के बाद की लेकिन ब्रह्म, पद्म, नारदीय और भागवत पुराण के पहले की रचना है और इस प्रकार वे प्रस्तुत पुराण का रचना काल नवीं या दसवीं शतो में मानते हैं ।§1§ प्रो0 विल्सन के उपरोक्त मत को यथा तथ्य रूपेण पार्जीटर स्वीकार नहीं करते और मार्क0 पुराण को मोटे तौर पर चौथी या पाँचवीं शताब्दी में रचित मानते हैं । उनके तर्क §2§ इस प्रकार है -

1. प्रो. विल्सन स्कन्द पुराण को अपेक्षाकृत आधुनिक मानते हैं, विशेषकर काशी खण्ड के अधिकांश भाग का रचना काल वे बनारस पर महमूद गजनी के प्रथम आक्रमण के पहले का मानते हुये इसे ।।वीं सदी ई0 के पहले की रचना स्वीकार करते हैं । लेकिन महामहोपाध्याय हर प्रसाद शास्त्री महोदय को नेपाल के रायल लाइब्रेरी से "स्कन्दपुराण" की एक प्रति छठी या सातवी सदी की अर्थात परवर्ती गुप्त काल की लिखी हुई मिली इससे स्कन्द पुराण की रचना तिथि विल्सन द्वारा प्रतिपादित तिथि से 400-500 वर्ष पहले की प्रमाणित होती है। अत: यही क्रम मार्क0 पुराण की विल्सन द्वारा प्रति-पादित रचनातिथि के विषय में भी अपनाया जाना चाहिये, और इस प्रकार मार्क. पुराण की रचना तिथि चौथी- पाँचवी सदी मानी जानी चाहिए । परत: उसके संस्करण , प्रतिसंस्करण बाद तक तैयार होते रहे ।

---

§1§ पार्जीटर, ई. एफ., द्वारा अनूदित मार्कण्डेय पुराण की प्रस्तावना से उद्धृत

§2§ वही,

2. पार्जीटर महोदय ने विल्सन के मत के प्रतिपक्ष में दूसरा तर्क यह दिया कि जैन ग्रन्थों में भी पुराण सूचियां उपलब्ध है यथा जैनों का 'पद्मपुराण' जो 678 ई. के लगभग रविसेन द्वारा लिखा गया था, सभी हिन्दू पुराणों का भी उल्लेख करता है। पुनश्च जिनसेन कृत 'आदि पुराण' में भी सभी पुराणों का उल्लेख है जिससे प्रमाणित होता है कि संस्करणों और प्रतिसंस्करणों को छोड़ दे तो सभी हिन्दू पुराण लगभग छठी सदी के अन्त में और सम्भवत: 5 वीं सदी के अन्त में लिखे और सम्पादित किये जा चुके थे।

महामहोपाध्याय पी.वी. काणे [1] ने प्रस्तुत पुराण को 300 ई. और 600 ई. के बीच रचित माना है। एम.ए. महेण्डल ने इसे सातवी शती के पहले की रचना स्वीकार किया है। [2] जे.एन. फरकुहर ने मार्क. पुराण के प्रारम्भिक अंश को (42-77 अध्याय तथा 91-133 अध्याय) 200 ई. व 500 ई. के बीच रचित माना है। [3]

पार्जीटर ने मार्क. पुराण का रचना काल उसके विभिन्न भागों के वर्गीकरण के आधार पर निर्धारित किया है। बैनर्जी महोदय ने भी मार्क॰ पुराण को 5 भागों में विभक्त किया, जो इस प्रकार है। [4]

---

(1) काणे, पी वी, धर्मशास्त्र का इतिहास, पृष्ठ 10,

(2) क्लासिकल एज, पृष्ठ 299 से उद्धृत

(3) फरकुहर, जे0एन0, एन आउटलाइन ऑव दि रिलिजस लिटरेचर आव इण्डिया, पृष्ठ 140, 148, 150, 152

(4) पार्जीटर द्वारा उल्लिखित अध्याय क्रम संख्या बैनर्जी संस्करण की है बाम्बे संस्करण में यह संख्या भिन्न है।

1. अध्याय 1 से 9 [1] जिनमें मार्कण्डेय जैमिनी को अपनी प्रच्छाओं और शंकाओं का समाधान पाने के लिये पक्षियों के पास भेजते हैं और पक्षी जैमिनी के महाभारत विषयक चारो प्रश्नों का उत्तर देते हैं ।

2. अध्याय 10 से 44 [2] जिनमें जैमिनी कर्म विपाक, आदि के बारे में प्रश्न पूछते है और पक्षी उनका उत्तर देते हैं, इनमें कर्मविपाक, दत्तात्रेय, मदालसा, सदाचार आख्यान वर्णित है ।

3. अध्याय 45 से 81 [3] जिसमें मूल वक्ता मार्कण्डेय ऋषि है ।

4. 82 से 92 [4] जिसमें देवी माहात्म्य अंश संरक्षित है ।

5. 93 से 136 वाँ अध्याय [5] जिसमें अध्याय 81 के आगे से सूत्र जुड़ता है । अन्तिम - 137 वाँ अध्याय, जो अन्त की कड़ी है ।

---

[1] अध्याय 1-9, बाम्बे संस्करण

[2] अध्याय 10-41, बाम्बे संस्करण

[3] अध्याय 42-77, बाम्बे संस्करण

[4] अध्याय 78 से 90 , बाम्बे संस्करण

[5] अध्याय 91 से 133, बाम्बे संस्करण

पार्जीटर का मत है कि इनमें चौथा भाग अर्थात §78 से 90 अध्याय§ § बाम्बे संस्करण§ बाद की रचना है । मूल रूप में तीसरा व पाँचवा भाग §42 से 77 अध्याय तथा 91 से 133-134 वाँ अध्याय§ ही रचित था जिसके मूल वक्ता मार्कण्डेय थे और इसी कारण इसका नाम मार्कण्डेय पुराण पड़ा जब कि प्रथम दो भाग के मूल वक्ता मार्कण्डेय ऋषि न होकर पक्षीगण है। 42 वे अध्याय के प्रारम्भ में यह आख्यान है कि "पक्षियों ने कहा- पहले कौष्टुकि ने भी मार्कण्डेय से यही प्रश्न पूछा था और उन्होनें कौष्टुकि को जो कहा था वही वर्णन करते हैं । —— मार्कण्डेय को यह ज्ञान क्रमशः दक्ष से, दक्ष को आद्य ऋषियों से और आद्य ऋषियों को यह ज्ञान ब्रहमा से प्राप्त हुआ था ।" §1§

स्पष्ट है कि मूल पुराण का प्रारम्भ यही से होता है। मार्कण्डेय ऋषि का यह कथन कि "दक्ष से प्राप्त ज्ञान अब तुमसे कहते हैं " इसका प्रमाण है । और इस प्रकार इस मूल भाग में पहला और दूसरा भाग §1 से 41 अध्याय§ बाद में जोड़ा गया तथा देवी माहात्म्य और बाद का अंश है। जो बाद में मूल पुराण के साथ संयुक्त कर दिया गया। उनके अनुसार मूल अंश तीसरी सदी के लगभग लिखा जा चुका था ।

वस्तुतः मार्क० पुराणों के विविध विवरणों, परम्पराओं और आख्यानों के आलोचनात्मक व तुलनात्मक अध्ययन के आधार पर उसके विभिन्न अंशो का कालक्रम निर्धारित करने में सहायता मिल सकती है जिसमें से कतिपय आलोचनायें व विवेचनाएं इस प्रकार हैं ।

---

§1§ मार्क० पुराण,42/ 16-26

प्रस्तुत पुराण के 55 वें अध्याय में कूर्म रूप में भारत के नव खण्डों का उल्लेख करते हुये उनमें तीन-तीन नक्षत्र प्रत्येक भाग में अवस्थित बताये गये हैं और इस प्रकार इन नक्षत्रों की परिगणना प्राप्त होती है। जिसके अनुसार कृत्तिका, रोहणी मृगशिरा नक्षत्र कूर्म के मध्यभाग में, आर्द्रा, पुनर्वसु, और पुष्य मुख भाग में, आश्लेषा, मघा, पूर्वाफालगुनी, पूर्व दक्षिणपाद में, उत्तरा फाल्गुनी, हस्त और चित्रा ये तीनों नक्षत्र कूर्म के दक्षिण में विराजमान रहते है, तो स्वाती, विशाखा, और अनुराधा दक्षिण पाद में, ज्येष्ठा, मूल और पूर्वाषाढ़ कूर्म की पूँछ में, उत्तराषाढ़ श्रवण, और धनिष्ठा कूर्म के वामपाद में, शतभिषा, पूर्वभाद्रपद, और उत्तरभाद्रपद कूर्म की वामकुक्षि में, रेवती, अश्विनी और भरणी कूर्म के पूर्वोत्तर में अवस्थित है। [1] इस प्रकार पुराणकार की दृष्टि में देश नक्षत्रों से शासित है। यहां पर नक्षत्रों का उल्लेख- क्रम महत्वपूर्ण है। उपरोक्त उल्लेख से स्पष्ट है कि पुराण के 55 वे अध्याय में [पार्जीटर कृत तीसरा अनुभाग] नक्षत्रों की गणना 'कृत्तिका से प्रारम्भ होकर भरणी तक' की गयी है यद्यपि नक्षत्रों की संख्या व नामों में पूर्व काल से निर्गत परम्परा का ही निदर्शन प्राप्त होता है ।

यहां पर ध्यातव्य है कि वैदिक साहित्य, वेदांग-ज्योतिष आदि में भी नक्षत्रों का क्रम यही मिलता है ।[2] याज्ञवल्क्य स्मृति जिसे काणे ने पहली शती व तृतीय शती के बीच की रचना माना है [3]

---

[1] मार्क० पुराण, 55/10-53
दृष्टव्य, काणे, पी.वी., धर्मशास्त्र का इतिहास भाग 4 पृष्ठ 251, 252, जिसमें तै. स. 4/4/101-3, तै. ब्रा-1/5/ व 3/1 और अथर्ववेद 2/13/30 सम्बन्धी वर्णन में नक्षत्रों की संख्या 28 है।

[2] वही, पूर्वोक्त

में भी नक्षत्रों का यही क्रम प्राप्त होता है। लेकिन बाद में नक्षत्रों के उल्लेख क्रम में परिवर्तन हुआ । वराहमिहिर की बृहत्संहिता में नक्षत्रों का परिगणन आश्विन से प्रारम्भ होकर रेवती तक समाप्त होता है। आधुनिक ग्रन्थों में भी यही क्रम प्रचलित है। नक्षत्रों का यह क्रम कब परिवर्तित हुआ यह निश्चित रूप से कहना कठिन है तथापि वराहमिहिर के आधार पर इसकी आपेक्षिक तिथि निकाली जा सकती है। काणे के अनुसार वराहमिहिर का समय 500-550 ई. है । अत: स्पष्ट है कि वराहमिहिर के समय में अर्थात 500-550 ई. के लगभग नक्षत्रों का परिगणन आश्विन से रेवती तक होता है और यही क्रम सर्वप्रचलित था। अत: मार्क० पुराणोक्त कृत्तिका से भरणी तक का क्रम प्रस्तुत करने वाला अंश 550 ई. के पहले का ही रचित माना जा सकता है। सम्भवत: इसका रचना काल 300 ई. से 500 ई. के बीच रख सकते हैं, । यहां पर एक तथ्य और विचारणीय है कि पुराण वर्णित उपरोक्त अंश में ग्रहों राशियों का उल्लेख भी है, ग्रह, नक्षत्र राशि के साथ तिथि का उल्लेख बिल्कुल नहीं मिलता । जिससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि आलोचित अंश के रचना काल में तिथियों के परिगणन की जानकारी प्रचलित न थी । राशियों में मेषादि तीन, मिथुन आदि, कर्क व सिंह, कन्या, तुला, वृश्चिक, धनु, मकर, कुंभ, व मीन का उल्लेख है और स्पष्टत: इनके लिए राशि शब्द का प्रयोग हुआ है [1] याज्ञवल्क्य स्मृति के पहले के समय तक [2]

---

[1] मार्क. पुराण, 55/ 75 से80

[2] द्रष्टव्य- हाजरा, आर.सी., पुरानिक रिकॉर्डस ऑन हिन्दू राइटस एवं कस्टमस, पृष्ठ 23,

भारतीय 'राशि' शब्द से परिचित न थे। क्योंकि याज्ञवल्क्य स्मृति के पूर्व के ग्रन्थों में नक्षत्रों ग्रहों का वर्णन तो है पर राशियों का नहीं। इस प्रकार 200 ई. के बाद ही राशि शब्द प्रचलन में आया होगा इस आधार पर पुराणोक्त आलोचित अंश द्वितीय शती के बाद और 550 ई. (वराहमिहिर के) पहले का रचित अंश स्वीकार किया जा सकता है। विष्णु पुराणोक्त नक्षत्र प्रसंग वाले अंश को हाजरा ने कृतिका से भरणी तक के नक्षत्रों के क्रम के आधार पर 550 ई. और प्रथम ई. के मध्य रचित माना है[1] अतः यही तिथि मार्क. पुराणोक्त अंश की भी मानी जा सकती है।

हाजरा ने वामन पुराण की रचना तिथि लगभग 700 ई.-1000 ई. स्वीकार की है [2] जो नक्षत्रों का क्रम आश्विन से रेवती तक प्रस्तुत करता है अतः इस आधार पर भी मार्क. पुराण वर्णित कृतिका से भरणी तक का क्रमोल्लेख युक्त अंश वामन पुराण के तद्विषयक वर्णन के पहले के रचित माने जाने चाहिए। निष्कर्षतः नक्षत्रक्रम के आधार पर मार्क. पुराणोक्त 55 वाँ अध्याय किसी भी प्रकार 500-550 ई. या उसके बाद का रचित नहीं हो सकता। इसकी प्रस्तावित रचना तिथि 300-500 ई० स्वीकार की जा सकती है। यह तिथी कूर्म विभाग- वर्णन के आलोचनात्मक व तुलनात्मक अध्ययन की दृष्टि से भी सही प्रतीत होती है जिसका विवरण इस प्रकार है-

मार्क. पुराण के अध्याय 54 और 55 में भारतीय जनपदों, सीमाओं का उल्लेख क्रमशः कूर्मसंस्थान और कार्मुक संस्थान के अन्तर्गत हुआ है प्रस्तुत पुराण

---

(1) वही, पृष्ठ- 22

(2) वही, पृष्ठ-80

अपने तरह का एक ऐसा पुराण है जो दोनों ही सचियाँ भारतीय जनपदों के सन्दर्भ में प्रस्तुत करता है। कूर्म संस्थान, पूर्व उल्लिखित कार्मुक संस्थान वर्णन से अधिक महत्त्वपूर्ण है क्योंकि अध्याय 55 में कुछ नये जनपदों के नाम भी मिलते हैं। कूर्म रूप भारत की कल्पना और उसके नवखण्डात्मक विभाजन, तदन्तर्गत जनपदों की सूची प्रस्तुत पुराण की रचना तिथि निर्धारित करने में बहुत सहायक है। जनपदों की यह सूची प्राचीन भारतीय ज्योतिषशास्त्र के ग्रन्थों में भी मिलती है यथा- वराहमिहिर कीबृहत्संहिता का नक्षत्रकूर्माध्याय, पराशर तन्त्र तथा अथर्वपरिशिष्ट ।[1] बृहत संहिता में कुछ और नये नाम मिलते हैं अतः मार्क. पुराणोक्त कूर्म अध्याय की प्रस्तावित रचना तिथि 550 ई. के बाद की नहीं हो सकती । और इसी आधार पर कुछ विद्वान इनकी प्रस्तावित तिथि 400ई.से 600 ई. तक स्वीकार करते हैं।[2]

हेमचन्द्र राय चौधरी पुराणोक्त कूर्माध्याय को चौथी शती के पहले की किसीभी प्रकार रचना नहीं मानते ।[3] वास्तव में यदि कूर्म अध्याय के जनपदों की सूची पर ध्यान दिया जाय तो उनमें कुछ नये नाम मिलते हैं जो चौथी शती के पहले प्रचलन में न थे या उनका सर्वप्रथम प्रयोग चौथी सदी या उसके बाद मिलने लगता है,वे नये नाम हैं- महाराष्ट्र, कामरूप, कोंकण, कर्नाट, हूण आदि ।

महाराष्ट्र का नाम मार्क. पुराण के अतिरिक्त वामन [4] पुराण में

---

[1] द्रष्टव्य- सिंह, एम.आर. ज्यॉग्राफिकल डाटा इन द अर्ली पुराणाज, पृष्ठ-51

[2] वही, पृष्ठ -52

[3] वही , पृष्ठ- 51

भी मिलता है। मार्क॰ पुराण के कूर्माध्याय में महाराष्ट्र की गणना दक्षिणा पथ के जनपदों में हुई है। [1] अशोक के समय में यह नाम (महाराष्ट्र) प्रचलित न था अशोक के अभिलेख यद्यपि रठियों का उल्लेख अवश्य करते हैं । कुछ विद्वान महारठियों या राष्ट्रियों को महाराष्ट्र से सम्बद्ध मानते है और कुछ नहीं ।[2] यहां पर यह विशेष रूप से विचारणीय है कि महाराष्ट्र नाम कब से प्रयुक्त हुआ। सम्भवत: चौथी सदी के पहले यह नाम अभिलेखों या ग्रन्थों में नहीं मिलता । [3] ऐहोल अभि में (पुलकेशिन ।। के) महाराष्ट्रकों का उल्लेख है । ह्वेनसांग भी महाराष्ट्र से परिचित था वह उसे मो- हा- ल -चा -कहता है। महाराष्ट्र का प्रारम्भिक उल्लेख चौथी सदी की रचना मणिमेकले में मिलता है ।[4] अत: इस सन्दर्भ में मार्क॰ पुराण का कूर्माध्याय चौथी सदी के बाद ही रचित माना जाना चाहिये । लगभग यही तर्क कोंकण, कर्णाट व कामरूप के सन्दर्भ में दिये जा सकते हैं । कामरूप शब्द का उल्लेख सर्वप्रथम प्रयाग प्रशस्ति में है । विष्णु पुराण में भी भारत की सीमाओं के व जनपदों की सूची के वर्णन में हूण,पारसीक आदि का उल्लेख है। विष्णु पुराण का एतद्‌विषयक वर्णन मार्क॰ पुराण से काफी साम्य रखता है लेकिन वह मार्क॰ की अपेक्षा संक्षिप्त

---

(1) मार्क॰ पुराण,55/23, 54/46

(2) सिंह, एम0आर0, ज्याग्राफिकल डाटा इन द अर्ली पुराणाज, पृष्ठ-273

(3) वही, पृष्ठ -50

(4) वही, पृष्ठ -45

है जिसे पाँचवी सदी ई. के बाद का रचित माना जाता है [1] इस आधार पर भी मार्क० पुराण की प्रारम्भिक रचना तिथि चौथी- पाँचवी शताब्दी प्रतीत होती है।

ब्रहमा की महत्ता और क्रमशः उनके घटते हुये प्रभाव की दृष्टि से भी मार्क. पुराण के तद्सम्बन्धी आख्यानांशों की रचना तिथि प्रस्तावित की की जा सकती है। प्रस्तुत पुराण में 43 वें अध्याय में त्रिदेवों में ब्रहमा की सर्वोच्चता और परम ब्रहम के रूप में महत्ता में आख्यान- वर्णन प्राप्त है। जिसके अनुसार ब्रहमा आदि कर्ता ब्रहम: ही सत्व रज तम गुण समन्वित होकर क्रमशः सृजन , पालन व संहार करते हैं [2] ब्रहमा की सर्वोच्चता का वर्णन उस काल की स्थिति का सूचक है जब ब्रहमा की उपासना काफी प्रबलता से प्रचलित थी । बाद में ब्राहम- उपासकों को वैष्णव, शैव, शाक्तादि सम्प्रदायों की प्रतिद्वन्द्विता का सामना करना पड़ा जिसके परिणाम में ब्रहमा की स्थिति उत्तरोत्तर गिरती गयी और ब्रहमा मात्र सृजनकर्ता माने जाने लगे । उन्हें विष्णोर्नाभि कमलोत्पन्न ब्रहमा के रूप में ही मान्यता मिली । प्रश्न यह है कि ब्रहमा की स्थिति में परिवर्तन कब आया। यहाँ यह तथ्य ध्यातव्य है कि वृहत्संहिता में प्रमुख सम्प्रदायों की सूची में ब्राहम उपासकों का नाम भी सम्मिलित है । [3] जिससे ज्ञात होता है कि कम से कम 550 ई. तक

---

(1) वही, पृष्ठ-5।

(2) मार्क. पुराण, अध्याय -43

(3) वृहत्संहिता 60/19 -हाजरा, आर. सी., पूर्वोक्त ग्रन्थ से उद्धृत।

ब्राह्म सम्प्रदाय का अस्तित्व विद्यमान था । विद्वानों के अनुसार यदि वह मान लें कि लगभग सातवीं सदी में ब्रह्मा की स्थिति में अन्तर आ चुका था [1] उस समय वैष्णव, शैव, शाक्त व सौर सम्प्रदाय अधिक बलवती थे तो यह कहा जा सकता है कि प्रस्तुत पुराण का ब्रह्मा की सर्वोच्चता सम्बन्धी पूर्वोक्त अध्याय (अध्याय 42 - 43) सातवीं सदी के पहले लिखा जा चुका था ।

लगभग सातवीं शताब्दी में ब्रह्मा की उपासना का प्रचलन कम हो जाने व ब्रह्मा की स्थिति में परिवर्तन होने के साहित्यिक व अभिलेखीय साक्ष्य भी है । दण्डी कृत दशकुमार चरित्र (सातवीं सदी) तथा अवन्ती सुन्दरी कथा (पृष्ठ 98 - 151) में त्रिदेवों का क्रम - शिव, विष्णु और ब्रह्मा - वर्णित है । इसी प्रकार बाण के कादम्बरी में [2] तथा हर्ष रचित रत्नावली में [3] में त्रिदेवों में ब्रह्मा का नाम अन्त में है । पाँचवी - छठी ईसवी के कुछ प्रारम्भिक कदम्ब अभि. भी इसी क्रम का उल्लेख करते है । [4] इससे स्पष्ट होता है कि लगभग छठी - सातवीं शती ई. अर्थात् बाण के काल में ब्रह्मा का स्थान, शिव व विष्णु की अपेक्षा गौण हो गया था क्योंकि छठी - सातवीं ई. के पहले क्रमशः

---

1. वही,
2. कादम्बरी, पैरा 36
3. रत्नावली, 4/10
4. द्रष्टव्य, पुराण 20, नं० 2, पृष्ठ 227

ब्रहमा, विष्णु, शिव नाम क्रम ही मिलता है । अतः इस दृष्टि से भी ब्रहमा की सर्वोच्चता की प्रतिपादक स्थल (42 - 43 वां अध्याय) निश्चित रूप से 650 ई. के बाद का रचित नहीं माना जा सकता ।

मालव सवंत 589 = 533-534 ई. के मन्द सोर शिलालेख में, (1) जो यशोधर्मन विष्णुवर्धन के समय का है, में यद्यपि ब्रहमा को, सृष्टि, पालन व संहार करने वाला तो कहा गया है लेकिन वे यह कार्य शिव की आज्ञा और कृपा से कार्य करते हुए वर्णित किये गये है । इसी सन्दर्भ में प्रस्तुत अभिलेख शिव को 'भवसृज' यानि विश्व का रचयिता भी कहता है इस प्रकार स्पष्ट है कि 533-534 ई. में (छठी सदी में) ब्रहमा नाममात्र के सृष्टिकर्ता रह गये थे । इस तथ्य से भी मार्क. पुराण के अध्याय 42-43 को छठी सदी के पूर्वार्द्ध के पहले की रचना मानने में आपत्ति नहीं होनी चाहिये ।

मार्क. पुराण में ब्रहमा को आदि देव, देवाधिदेव, चतुरानन, निर्गुण अमूर्त्त पर-ब्रहम तो कहा ही गया है, लेकिन ऐसे अनेक अन्य आख्यान भी वर्णित है जिससे ब्रहमा की अपेक्षाकृत गिरती दशा का बोध होता है और वे अंश छठी सदी के बाद के रचित प्रतीत होते हैं जिनकी विवेचना अग्रलिखित है -

---

1. यशोधर्मन का मन्दसोर लेख - बैनर्जी, जे. एन. डेवेलपमेण्ट आफ हिन्दू आइकोनोग्राफी, पृष्ठ 512-513 से उद्धृत

मधुकैटभ - वध प्रसंग में ब्रहमा भगवती योगनिद्रा की स्तुति करते हैं । विष्णु के कर्ण के मल से उद्भूत कैटभ - व मधु राक्षस ब्रहमा को निहत करने के लिये उद्यत होते हैं । स्वयं ब्रहमा उनसे अपनी रक्षा अशक्य देखकर विष्णु के नेत्र में वासित भगवती योगनिद्रा की स्तुति करते हैं और स्वयं उन्हें सृजन, पालन व संहार कारिणी मानते हैं ।[1] स्पष्ट है कि ब्रहमा की स्थिति, देवी से भी कम महत्वपूर्ण थी । ब्रहमा केवल नामधारी देव रह गये थे । शक्ति से प्रेरित होकर वे सृजन कार्य में शक्त थे । अतः मधु कैटभ वध प्रसंग की रचना तिथि छठी सदी या उसके बाद की ही प्रस्तावित की जानी चाहिये, जब ब्रहमा का स्थान त्रिदेवों में ह्रासमान तो था ही, शक्ति व सूर्य से भी वे अब कम महत्वशाली हो गये थे ।

लगभग समान तर्क उस अध्याय की रचना तिथि के सन्दर्भ में भी प्रस्तुत किये जा सकते हैं जिनमें ब्रहमा के द्वारा सूर्य की शक्ति से प्रेरित होकर सृजन कार्य में सफल होने की बात आख्यात है । तद्विषयक प्रसंग के अनुसार आदित्य के तेज द्वारा संतापित होने पर सृष्टि की कामना करने वाले पद्मयोनि ब्रहमा यह चिन्ता करने लगे कि मेरे सृष्टि करने पर भी महात्मा भास्कर के तीव्र तेज से वह नष्ट हो जायेगी । उनके तेज से समस्त प्राणी प्राण हीन व जल शुष्क हो जायेगा, फिर जल के बिना सृष्टि भी नहीं होगी अतः तब ब्रहमा ने भगवान की स्तुति की ।[2]

---

1. मार्क. पुराण, 78/65
2. वही., 100/1 से 4

ब्रह्मा कृत रवि स्तुति में स्वयं ब्रह्मा सूर्य की आद्या शक्ति से प्रेरित होकर सृजन, पालन व संहार की बात स्वीकार करते है।[1] और सृष्टि कार्य को सफल बनाने के लिये सूर्य से तेज निवृत्त करने का आग्रह करते है।[2]

उपरोक्त विवरण से भी ब्रह्मा की स्थिति सूर्य की अपेक्षा गौण सिद्ध होती है यद्यपि ब्रह्मा सृष्टिकर्ता के रूप में मान्य थे तथापि उनके परम ब्रह्म, अव्यक्त, निराकार, शाश्वत रूप से अब अन्य सम्प्रदायों ने अपने - अपने इष्ट को संयुक्त कर प्रस्तुत किया। फलत: मार्क-पुराणोक्त 100वाँ अध्याय भी ब्रह्मा की अपेक्षाकृत गौण स्थिति के आधार पर लगभग छठी - सातवीं या उसके बाद का रचित माना जाना चाहिए।

ब्रह्मा की अन्य देवों कीअपेक्षाकृतगिरती स्थिति का सूचक वह आख्यान भी है जिसमें ब्रह्मा, विष्णु की नाभि से निकले कमल से उत्पन्न कहे गये। ब्रह्मा के वराह, मत्स्य, कूर्म रूप धारण करने की कथा को अब वैष्णवों ने अपना कर इन अवतारों को विष्णु से संयुक्त कर दिया।

---

1. सृष्टिं करोमि यदहं तवशाक्तिराधात्तत्प्रेरितो....
   ....नात्मेच्छया स्थितिलयावपि तद्वदेव ।। - मार्क. पुराण, 100/8

2. उपसंहर तेजो यत्तेजस: संहतिस्तव ।
   सृष्टेर्विघाताय विभो सृष्टौ चाहं समुद्यत: ।। - वही, 100/12

जहाँ तक देवी माहात्म्य अंश की रचना तिथि का प्रश्न है, अधिकांश विद्वान इसे प्रक्षिप्तांश या अवान्तरकालीन रचना मानते है । महामहोपाध्याय हर प्रसाद शास्त्री महोदय को देवी माहात्म्य की एक प्रति नेपाल के रॉयल लाइब्रेरी से प्राप्त हुई जिसकी तिथि 998 ई. है । इस आधार पर पार्जीटर देवी माहात्म्य को नवीं सदी के बाद की रचना नही मानते, उनके मत से यह अंश 9वीं या 10वीं सदी के पहले ही निर्विवाद रूप से संकलित हुआ था ।[1] जोधपुर से प्राप्त दधिमती माता के शिलालेख में "सर्वमंगल मांगल्ये......." वाला श्लोक उद्‌धृत है । जो देवी माहात्म्य का प्रसिद्ध श्लोक है । इससे ज्ञात होता है कि एतद् शिलालेख के समय देवी माहात्म्य अंश लिखा जा चुका था और उसके कुछ श्लोक विशेषत: "सर्वमंगल०...." वाला श्लोक सर्वप्रचलित था। इस शिलालेख का समय 289..... दिया है जिसे भंडारकर ने गुप्त संवत माना है इस प्रकार 289 + 319 ई. = 608 ई. में देवी माहात्म्य अंश प्रचलित था। इस प्रकार यह अंश छठो - सातवीं सदी से प्राचीनतर माना जाना चाहिये ।[2] लेकिन मिराशी महोदय इसे भाटिक संवत मानते हुये इसका समय 813 ई. माना है ।[3] और इसे 9 वीं सदी के पहले की रचना मानते हैं ।

---

1. पार्जीटर, ई. एफ, मार्कण्डेय पुराण की भूमिका (अनुवाद) पृष्ठ XIII
2. विस्तृत विवरण हेतु द्रष्टव्य, उपाध्याय, बलदेव, पुराण विमर्श, पृष्ठ - 551
3. द्रष्टव्य मिराशी, वी. वी., का लेख - "ए लोअर लिमिट फॉर द डेट ऑव देवी माहात्म्य" पुराणं IX, नं0 2, पृष्ठ 181 - 186

देवी के चरित्रत्रय का वर्णन देवी भागवत में भी हुआ है और बलदेव उपाध्याय मार्क. पुराण के विवरणों को देवीभागवत के एतद विषयक विवरण से निस्सन्देह प्राचीन मानते है ।[1] मधुकैटभ वध प्रसंग, जो देवी माहात्म्य अंश का प्रथम आख्यान है और जो भगवती योगनिद्रा के रूप में शक्ति की महत्ता का द्योतक आख्यान है, ब्रहमा की अपेक्षाकृत गिरती स्थिति का परिचायक होने के कारण लगभग सातवीं सदी में अथवा 550 ई. के बाद ही रचित माननमें कोई विप्रपत्ति नही हो सकती और इस प्रकार देवी माहात्म्य अंश की प्रारम्भिक रचना तिथि 550 के बाद ही निर्धारित की जा सकती है ।

सप्तमातृकाओं के स्वरूप, वाहन आदि की विवेचना भी रचना तिथि के निर्धारण में सहायक है । ब्रहमाणी, माहेश्वरी, वैष्णवी, नारसिंही, कौमारी, वाराही और इन्द्राणी के स्वरूप, वाहन, शस्त्र, आभूषण की चर्चा से सम्बन्धित आख्यान निस्सन्देह गुप्त या गुप्तोत्तर काल में रचित माने जा सकते हैं क्योंकि गुप्त काल के पहले मातृका पट पर मातृकाओं के वाहन, शस्त्र आदि की कल्पना नहीं की गई थी । गुप्त और गुप्तोत्तर युग में मातृका मन्दिर व मूर्तियों की स्थापना के आभिलेखिक व पुरातत्वीय साक्ष्य उपलब्ध होते है ।[2] स्कन्दगुप्त के बिहार स्तम्भलेख, कुमार गुप्त के अभिलेख, छठी सदी के देवगढ़ शिलालेख, 423 ई. के औलिकर वंशी अभिलेख, बादामी के

---

1. उपाध्याय, बलदेव, पुराण विमर्श, पृष्ठ 55।
2. जिसका विवरण आगे मातृका पूजन के सन्दर्भ में दिया है ।

चालुक्य राजाओं के अभिलेख, मातृका – पूजन के प्रचलन के साक्ष्य प्रस्तुत करते हैं । जिससें देवी माहात्म्य अंश की रचना तिथि छठी शताब्दी के लगभग या पहले ही प्रस्तावित की जा सकती है । इस प्रकार उपरोक्त विवेचन से पार्जीटर द्वारा देवी माहात्म्य की प्रस्तावित प्रारम्भिक सम्भावित रचना तिथि पांचवी या छठवी सदी ई. का समर्थन होता है । पार्जीटर के मत से मार्कण्डेय पुराण के अध्याय 42–77 तथा 91 से अन्त तक का भाग तीसरी सदी के लगभग तथा 1 से 41 तक के अध्याय छठी सदी कें व तीसरी सदी के मध्य में संकलित किये गये ।[1] मोटे तौर पर प्रस्तुत पुराण गुप्त काल की रचना मानी जा सकती है । गुप्तकाल आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न काल था और इस आर्थिक सम्पन्नता का कारण धन और समृद्धि की अधिष्ठात्री देवी लक्ष्मी की उपासना का प्रचलन माना जा सकता है । गुप्त सम्राटों के सिक्कों पर भी सिंहारूढ़ लक्ष्मी का अंकन मिलता है । मार्क० पुराण में वर्णित अमर निधियाँ और उनकी अधिष्ठात्री देवी लक्ष्मी का वर्णन तथा उनसे सम्बन्धित पूजा के वर्णन को §पद्मिनी विद्या" का आख्यान§ गुप्तकालीन लक्ष्मी–पूजा व समृद्धता का सूचक माना जा सकता है । पुराण के अनुसार §1§ पद्म §2§ महापद्म §3§ मकर §4§ कच्छप §5§ मुकुन्द §6§ नन्दक §7§ नील §8§ शंख निधियां श्री लक्ष्मी के आधीन रहती हैं जिनकी सिद्धि से धन व ऐश्वर्य की प्राप्ति होती है ।[2] इस सम्बन्ध में वासुदेव शरण अग्रवाल का मन्तव्य है कि गुप्तों के स्वर्णयुग में धनार्जन के जो मुख्य पेशे थे उन्हीं को

---

1. मार्क० पुराण के अनुवाद की भूमिका, पृष्ठ XIII–II
2. मार्क० पुराण, 65/4

"पद्‌मिनी विद्या" के अन्तर्गत अष्ट निधियों में समाहित किया गया है ।[1]
पद्‌मिनी विद्या के अन्तर्गत वर्णित ये अष्टनिधियां गुप्तयुगीन निम्न० व्यापार व उद्योग पर प्रकाश डालती हैं -

1. सोने चांदी, तांबे का व्यापार
2. मोती, मूंगा आदि रत्न का व्यापार (जिसका केन्द्र उज्जैनी पाटलिपुत्र, काशी, मथुरा आदि रहा होगा)
3. सैनिकों के अस्त्र-शस्त्रों का व्यापार
4. वीणा, वेणु, मृदंग आदि वाद्यों का व्यापार
5. जमींदारी सामन्ती व्यापार
6. वस्त्र, कपास, धान्य आदि का व्यापार

इसमें सन्देह नहीं कि मार्क० पुराण का "पद्‌मिनी विद्या" से सम्बद्ध आख्यान गुप्तकाल की आर्थिक सम्पन्नता के वातावरण में ही लिखा गया हो ।

दूसरा तर्क यह भी है कि आर्थिक सम्पन्नता और समृद्धि के कारण भी स्वर्णयुग कहलाने वाले गुप्त काल के शासकों ने बहुसंख्यक स्वर्ण सिक्के चलायें । सम्भवत: स्वर्णयुग की इन्हीं विशेषताओं की अभिव्यक्ति पुराणकार ने वशांनुचरित खण्ड में 'सर्वकाच्चनमय प्रासादा:, 'सुवर्णमखिलं,' 'सौवर्णप्रासादादि' शाब्दिक प्रयोगों में को हो । मार्क० पुराण का यह वर्णन की "राजा मरूत

---

1. अग्रवाल, वी. एस., मार्क. पुराण एक सांस्कृतिक अध्ययन, पृष्ठ 157

के शासन काल में "......सभी सभा और प्रासाद कांचनमय किये गये थे उनके काल में ब्राहमण, क्षत्रिय और वैश्य भी सुवर्णमय प्रासादादि समस्त वस्तुओं को प्राप्त हुए थे।.... राजा मरूत केवल महीपालों में ही प्रधानता को प्राप्त नहीं हुए थे वरन् उन्होने सैकड़ों यज्ञों का अनुष्ठान भी किया था।"[1] गुप्तकालीन राजाओं और गुप्तकालीन स्वर्णमय परम्परा का स्मरण दिलाता है, जिन्होंने न केवल शत्रुओं को परास्त किया था वरन् वे अनेक 'अश्वमेघ यज्ञों' के अनुष्ठानकर्ता भी थे।[2]

तीसरा तर्क यह है कि पुराणोक्त पद्मिनी विद्या के अर्न्तगत लक्ष्मी का सम्बद्ध कूर्म, मकर, शंख, पदम् आदि से माना गया है। शंख व पदम् का सम्बन्ध पहले से ही कुबेर व लक्ष्मी के साथ था। लेकिन कूर्म और मकर प्रारम्भ में जल देव वरूण के वाहन थे अत: लक्ष्मी का कूर्म व मकर से सम्बन्ध क्षीर सागर से उनकी उत्पत्ति को द्योतित करने के अर्थ में स्थापित किया गया रहा होगा। गुप्तकालीन समुद्रगुप्त और कुमार गुप्त प्रथम की व्याघ्र निहन्ता प्रकार की मुद्राओं के पृष्ठ भाग पर मकरारूढ़ देवी का अंकन है जिसे कुछ विद्वानों ने मकरारूढ़ लक्ष्मी का अंकन ही माना है[3] सम्भवत: इसी की अभिव्यक्ति

---

1. मार्क॰ पुराण, 126/13, 126/15, 126/17 तथा 126/18
2. राय, उदय नारायण, गुप्त सम्राट व उनका काल
   गुप्त, परमेश्वरी लाल, गुप्त साम्राज्य
   विशेषत: समुद्रगुप्त "समरशतावतरण दक्षस्य", 'गोशत सहस्त्रप्रदायिन:', 'अश्वमेघ पराक्रम:', था।
3. द्रष्टव्य....राय, उदयनारायण, पूर्वोक्त, पृष्ठ 109 तथा
   गुप्त, परमेश्वरी लाल, पूर्वोक्त, पृष्ठ 68,
   कुछ अन्य विद्वान इस मत सेसहमत नहीं है क्योंकि गुप्तकालीन मन्दिरों के द्वारपाश्वों पर मकरवाहिनी गंगा व कूर्म वाहिनी यमुना के उच्चित्र हैं।

मार्क० पुराण में लक्ष्मी की आश्रिता मकर निधि के रूप में हुई हो ।

मार्क० पुराण के 126 वें अध्याय में राजा मरूत के काल में दर्शनधारी भुजंगों (नागों) के द्वारा किये गये उपद्रव और राजा द्वारा उसे शान्त करने का उल्लेख गुप्तकालीन घटनाक्रम की ओर संकेत करता प्रतीत होता है । मार्क० पुराण के अनुसार नागों ने मरूत राजा के काल में आतंक फैलाकर सात मुनियों को डस लिया था तब राजा ने उनको दण्डित करने हेतु उनसे युद्ध किया था बाद में मुनियों व उनकी पितामही के हस्तक्षेप से उन्हें छोड़ दिया था । गुप्त काल में भी समुद्रगुप्त ने आर्यावर्त्त युद्ध के दौरान् जिन राजाओं को परास्त किया था उनमें अच्युत, नागसेन, गणपतिनाग, भवनाग निश्चित रूप से नागवंशी थे ।[1]

अतः पुराणोक्त उपरोक्त वर्णन में गुप्तकालीन घटनाक्रम की झलक को समीचीन माना जाये तो भी प्रस्तुत पुराण का रचना काल चौथी शताब्दी के मध्य मानने में संकोच नहीं हो सकता ।

---

1. यद्यपि रैप्सन ने आर्यावर्त युद्ध में परास्त नव नरेशों की पहचान विष्णु व वायु पुराणोल्लिखित नवनागों से की है ।
   "नवनागास्तु भोक्ष्यन्ति पुरीं चम्पावतीं नृपाः ।।
   मथुरां च पुरीं रम्यां नागा भोक्ष्यन्ति सप्तवै ।।
   पुनश्च चन्द्रगुप्त द्वितीय ने नागवंशी कुबेरनागा से विवाह किया था। स्कन्दगुप्त के काल में पुनः नागों के उपद्रव हुये थे और उसे उनका उन्मूलन करना पड़ा था ।
   नरपति भुजगानां मानदर्पोत्फणानां ।।
   प्रतिकृतिगरूडाज्ञां निर्व्विषीं चावकर्ता ।। जूनागढ़अभिलेख
   विस्तृत विवरण के लिये द्रष्टव्य - राय, उदयनारायन, पूर्वोक्त, पृष्ठ 129, तथा 218

नवीन और पूर्ववर्ती प्रवृत्तियों के सूचक साक्ष्यों के आधार पर भी विविध अध्यायों का पूर्वापर कालक्रम निर्धारित किया जा सकता है । उदाहरणार्थ मार्क. पुराण के सृष्टि वर्णन विषयक प्रसंग में (अध्याय 48) में ब्रहमा के लिये 'जनार्दन' अभिधान वर्णित है इसी प्रसंग में ब्रहमा को नारायणात्मक भी कहा गया है और नारायण शब्द की व्याख्या की गयी है "(नार – जल में प्रोक्ता– – – –" के द्वारा ब्रहमा के जलस्थित अण्डे से उत्पत्ति का समीकरण प्रस्तुत किया गया है । लेकिन मार्क. पुराणके ही अध्याय 4 में भगवान विष्णु के लिये जनार्दन उपाधि का प्रयोग और विष्णोः नारायणत्मक रूप में अभि – व्यक्ति है ।[1] पुनश्च इस प्रसंग में नारायण शब्द की व्याख्या प्रायः पूर्वोक्त अर्थ में ही हुई है ।[2] समान अर्थ की अभिव्यंजना वाले श्लोकों की दो स्थलों पर पुनरावृत्ति उनके अपेक्षाकृत पूर्व या अपर काल में रचना की संकेतक मानी जानी चाहिये । चूंकि ब्रहमा और नारायण में तादात्म्य की प्रवृत्ति पूर्व – कालीन तथा विष्णु और नारायण में तादात्म्य की प्रवृत्ति उत्तर कालीन है ।[3] अतः मार्क पुराणोक्त 44 से 48 अध्यायों को मूल पुराण में सन्निहित माने जाने में कोई आपत्ति नहीं हो सकती और अध्याय 4 को बाद में

---

1. मार्क. पुराण 4/31, 4/44 आदि
2. तुलनार्थ – आपो नारा इति प्रोक्ता आपो वै नरसूनवः ।।
   तासु शेते सयस्माच्च तेन नारायणः स्मृतः ।। मार्क. पुराण 44/5
   आपो नारा इति प्रोक्ता मुनिभिस्तत्व दर्शिभिः ।।
   अयनं तस्य ताः पूर्व तेन नारायणः स्मृतः ।। वही, 4/43
3. द्रष्टव्य – राय, एस. एन., पौराणिक धर्म और समाज, पृष्ठ 7।

संयुक्त अंश स्वीकार किया जा सकता है जैसा कि पार्जीटर ने भी अध्याय 42-77 को मूल पुराण और अध्याय 1 से 9 को बाद में संयुक्त किये गये अंश माना है ।

मार्क. पुराण में सृष्टि का आविर्भाव कैसे हुआ इस प्रसंग में आख्यात है कि सत्त्व, रज, तम इन तीन गुणों के संश्लिष्ट होने पर परमब्रहम ही ब्रहम, विष्णु और शिव नाम से क्रमशः सृष्टि, पालन और संहार करते हैं । ये तीन गुण एक ही परम ब्रहम में परस्पर आश्रयपूर्वक विद्यमान है, क्षणमात्र के लिये भी ये गुण पृथक नहीं होते है ।[1]

प्रो. एस.एन. राय उपरोक्त आख्यान को पौराणिक लिंगोद्भव आख्यान से सम्बद्ध मानते हुये उसे भागवत, वायु, ब्रहमाण्ड, मत्स्य पुराणों में वर्णित लिंगोद्भव आख्यान का प्राथमिक स्वरूप स्वीकार करते हैं ।[2] उनकी विवेचना के अनुसार मार्क. पुराणोक्त विवरण के आधार पर ही आगे चलकर लिंगोद्भव आख्यान् कल्पित हुये वहाँ लिंग से तात्पर्य तमोगुण से ही माना जा सकता है जिसका सन्निवेश मार्क. पुराणोक्त गुणत्रयी में हुआ है और जिसके अभाव में केवल सत और रज, सृजन की प्रक्रिया में असमर्थ है । अतः सत, रज, तम इन तीनों गुणों का सृष्टि विधा में संयुक्त

---

1. मार्क. पुराण, 43/14 से 19
2. राय. एस. एन., पौराणिक धर्म एवं समाज, पृष्ठ 388 से 384

महत्व प्रदर्शित करने वाले उत्तरकालीन लिंगोद्‌भव आख्यान का प्राथमिक स्वरूप यदि मार्क॰ पुराणोक्त पूर्वोक्त विवरण को स्वीकार कर लिया जाये तो तद्‌सम्बन्धी स्थल (मार्क॰ पुराण 43 वां अध्याय) पुराण वर्णित लिंगोद्‌भव आख्यानों (1) के पूववर्ती काल में रचित माने जा सकते हैं।

सूर्यपूजा से सम्बन्धित राज्यवर्धन के आख्यान को पार्जीटर ने तृतीय-चतुर्थ शती में संकलित माना है। (2) राज्यवर्धन प्रस्तुत पुराण में सौर उपासक के रूप में चित्रित है। राज्यवर्धन का समीकरण प्रसिद्ध वर्धन राजवंश के राजा राज्यवर्धन से भी किया जा सकता है क्योंकि वर्धनवंशीय शासक सूर्योपासक थे। लेकिन वर्धन वंश का काल 5वी॰ या 6वीं शताब्दी का है इस आधार पर सम्बन्धित अध्यायों का संकलन काल भी इसी समय का माना जाना चाहिये। लेकिन दोनों का तादात्म्य स्थापित करने में एक आपत्ति यह है कि वर्धन वंश के राज्यकाल की तुलना में प्रस्तुत पुराण का राज्यवर्धन आख्यान पार्जीटर ने तीसरी शताब्दी में संकलित माना है साथ ही साथ पुराणवर्णित राज्यवर्धन की वंशावली भी ऐतिहासिक वर्धन वंश से मेल नहीं खाती। इस आधार पर पुराणवर्णित राज्यवर्धन आख्यान में ऐतिहासिकता का पुट संदिग्ध है। पुराण वर्णित राज्य वर्धन आख्यान को तीसरी सदी के पहले का संकलित अंश नहीं माना जाना चाहिये। इस तथ्य का प्रमुख आधार "कामरूप" शब्द

---

1. वामन पु०, 7वां अध्याय
   मत्स्य पु०, 188 वां अध्याय तथा 60/61
2. पार्जीटर, ई॰ एफ॰, मार्क॰ पुराण, प्रस्तावना

का उल्लेख है । यह विदित है कि असम भूभाग का तीसरी-चौथी सदी के लगभग सबसे पहले प्रयाग स्तम्भ लेख में 'कामरूप' नाम प्राप्त होता है इसके पहले के आभिलेखिक या साहित्यिक साक्ष्यों में कामरूप का नाम नहीं मिलता । प्रस्तुत पुराण के राज्यवर्धन – आख्यान में कामरूप में सूर्य मन्दिर के उल्लेख से तत्सम्बन्धी आख्यान की प्रारम्भिक रचना तिथि तीसरी- चौथी सदी के पहले की प्रस्तावित नहीं की जानी चाहिये । डा. वी.सी. श्रीवास्तव ने भी सूर्य पूजा सम्बन्धी आख्यानों की रचना तिथि तीसरी – चौथी सदी के आसपास या बाद की ही प्रस्तावित की है ।[1]

इसी प्रकार विष्णु के अवतारों में बुद्ध के परिगणन सम्बन्धी आलोचना के आधार पर भी प्रस्तुत पुराण के तद्विषयक अंशों की रचना तिथि पर प्रकाश पड़ सकता है । प्रस्तुत पुराण में चतुर्व्यूहात्म विष्णु के अवतारों में बराह, नृसिंह, वामन और माथुर अवतार की चर्चा तो है ही [2] साथ ही साथ विष्णु के दत्तात्रेय अवतार पर विस्तृत विवरण प्राप्य है । प्रस्तुत पुराण में बुद्ध को अवतार परिगणन में स्थान नहीं दिया गया है । बुद्ध की वैष्णवअवतारों में गणना कब की गई , यह जानने से पूर्व इस बात की चर्चा करना आवश्यक हो जाता है कि कुछ पुराण बुद्ध को अवतार रूप में परिभाषित नहीं करते तो कुछ पुराण उन्हें अवतार कोटि में स्थान प्रदान

---

1. श्रीवास्तव, वी.सी., सन वरशिप इन एन्श्येन्ट इण्डिया, पृष्ठ 211, 207
2. मार्क. पुराण. 4/43-56

करते हैं । यथा मत्स्य पुराण बुद्ध को नवां अवतार मानता है । [1] वराह पुराण में दशावतारों की गणना में बुद्ध का नाम मिलता है। [2] भागवत पुराण अवतारों की तीन सूचियां प्रस्तुत करता है। पहली सूची में बुद्ध, कल्कि, व्यास, बलराम व कृष्ण का उल्लेख है । [3] दूसरी सूची में कपिल व दत्तात्रेय का समावेश है । [4] तीसरी सूची में बुद्ध का उल्लेख है । [5] विष्णु पुराण, कूर्मपुराण, हरिवंश भी बुद्ध के अवतार के विषय में मौन है। पांचरात्रों की जयाख्यसंहिता, जिसकी रचना तिथि लगभग 450 ई॰ मानी जाती है, में भी बुद्ध अवतार का उल्लेख नहीं है। अहिर्बुध्न्य संहिता जो जयाख्य संहिता के बाद की रचना मानी जाती है, 39 विभवों की सूची में बुद्ध का नाम नहीं मिलता इससे स्पष्ट होता है कि छठी शताब्दी ई॰ के प्रारम्भ में बुद्ध अवतार के रूप में पूजित नहीं थे । ग्यारहवीं सदी की क्षेमेन्द्र की 'दशावतारचरित' में, जयदेव की 'गीत गोविन्द,' नवीं सदी के नामालवार के गीत में तथा सातवीं सदी के पल्लव अभि॰ में बुद्ध, विष्णु के अवतार के रूप में वर्णित किये गये हैं । स्पष्ट है कि सातवी से दसवींसदी में बुद्ध विष्णु के अवतार के रूप में पूजित थे और

---

1. मत्स्य पु॰ 47/240
2. मत्स्यः कूर्मो वराहश्च नरसिंहोऽथ वामनः ।।
   रामो रामश्च कृष्णाश्च बुद्ध कल्की चेते दश ।। वराह पु॰ 4/2
3. भागवत् पु0 1/3
4. वही, 2/70
5. वही, 6/8.

लगभग सातवीं शताब्दी से ही बुद्ध की पूजा अवतार रूप में होने लगी थी लेकिन उस समय भी कुछ लोग उन्हें अवतार रूप में मानने को तैयार न थे यथा,-कुमारिल भट्ट, जिसका समय लगभग 650 ई० से 750 ई० तक के बीच का माना जाता है, ने बुद्ध को अवतार रूप में स्वीकार नहीं किया। अत: मार्क० पुराण के अवतार विषयक प्रसंग सातवीं सदी के बाद के रचित नहीं माने जाने चाहिए। वृहतसंहिता में अर्हत देवों की प्रतिमा को श्रीवत्स से अंकित करने का उल्लेख है अत: हाजरा के मत से ﴾1﴿ इसकी सम्भावना है कि 550 ई० के लगभग बुद्ध का विष्णु से तादात्म्य स्थापित करना शुरू हो रहा था। इस प्रकार हाजरा महोदय बुद्ध अवतार विषयक प्रसंगों के पुराणों में समावेश की प्रारम्भिक तिथि 550 ई० तक स्वीकार करते हैं । अत: बुद्ध अवतार से असम्प्रक्त होने के कारण० मार्क० पुराण के तद्विषयक प्रसंग 550 ई० के पहले के प्रस्तावित किये जा सकते हैं । वस्तुत: ये अंश सातवीं सदी के पहले ही रचित माने जाने चाहिये क्योंकि इस तिथि के पहले के किसी भी ग्रन्थकार ने बुद्ध का उल्लेख अवतार रूप में नहीं किया है।

इस प्रकार से मार्क० पुराण की रचना तिथि मोटे तौर पर तीसरी शताब्दी से छठी शताब्दी के मध्य स्वीकार की जा सकती है ।

﴾1﴿ हाजरा, आर०सी०, पुरानिक रिकार्ड्स ऑन हिन्दू राइट्स एण्ड कस्टम्स , पृष्ठ 41

अध्याय-2

देवी माहात्म्य-

§1§ मधु-कैटभ-वध प्रसंग में योगनिद्रा का वर्णन
एवं रात्रि देवी से उनका तादात्म्य-

§2§ महिषासुर-मर्दिनी-दुर्गा और तद्सम्बन्धी आख्यान-

§क§ उत्पत्ति सम्बन्धी आख्यान

§ख§ आख्यान की समन्वयात्मकता

§ग§ कात्यायनी देवी के आभूषण, शस्त्र व वाहन

§घ§ महिषमर्दिनी दुर्गा का स्वरूप

§ङ§ दुर्गा का महिषासुर और उसकी सेना से संग्राम

§च§ आख्यान का दार्शनिक पक्ष

§छ§ आख्यान का सामाजिक पक्ष

§ज§ महिषमर्दिनी दुर्गा की प्राचीन प्रतिमायें

§झ§ महिषमर्दिनी दुर्गा की महत्ता- सर्वोच्च देवी के रूप में

§3§ भगवती काली और देवी आख्यान में उनका महत्त्व-

§क§ काली की उत्पत्ति सम्बन्धी आख्यान

§ख§ काली का स्वरूप

§ग§ चामुण्डा आख्यान

§घ§ लोक देवी के रूप में काली की प्रतिष्ठा

§ङ§ असुरों के वध में काली का योगदान

§4§ सप्तमातृकाओं की कल्पना और शक्ति उपाख्यान में उनकी भूमिका-

§क§ मातृकाओं की उत्पत्ति

§ख§ 'सप्तमातृका' की वैदिक कल्पना

§ग§ सप्तमातृकाओं की पौराणिक धारणा

§घ§ मातृका-पूजा के अभिलेखीय तथा पुरातात्त्विक साक्ष्य-

§ड़• § मातृकाओं के स्वरूप, शस्त्र, वाहनादि

§5§ देवी-माहात्म्य- वर्णन में अवतारवाद का तत्त्व और देवी के विभिन्न अवतारों की चर्चा-

§क§ शाकम्भरी देवी के रूप में भगवती का अवतार

§ख§ भीमा देवी के रूप में अवतार

§ग§ "विन्ध्याचल निवासिनी" रूप में भगवती का अवतार

§घ§ भ्रामरी देवी के रूप में अवतार

§ड़• § रक्तदन्तिका-अवतार

देवी माहात्म्य

मार्क० पुराण में वर्णित आख्यानों, स्तुतियों, वर्णनों आदि के आधार पर देवी उपासना प्रधान धर्म प्रतीत होता है और इस आधार पर मार्क० पुराण एक शाक्त पुराण के रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है। यद्यपि प्रस्तुत पुराण देवी के परवर्ती कालीन तान्त्रिक रूप को प्रस्तुत नहीं करता है तथापि लगभग 13 अध्यायों ﴾ 78 से 90﴿ में शक्ति का जो माहात्म्य प्रस्तुत किया गया है वह अति महत्वपूर्ण है । यह अंश अलग से "दुर्गासप्तशती" के नाम से भी विख्यात है। देवी माहात्म्य का यह आख्यान "एकैवाहं द्वितीया का ममापरा" के अनुसार शक्ति को सर्वोच्चता का प्रतिष्ठापक है। क्या मानव, क्या देवता, सभी उसकी व्यापकता और महिमा से प्रभावित है। ब्रहमा, इन्द्र आदि देवता जिनकी स्तुति करते हैं, जो विश्व को आधार शिला, जगत की उत्पत्ति, पालन व संहार कारिका, विश्वात्मिका, सवार्थसाधिका नारायणी है, जो एक होकर विविध रूपों से जगत में व्याप्त है, उसी परमाव्यक्त सनातनी नित्या देवी के विविध रूपों और असुरों के वध में उनके योगदान से सम्बन्धित आख्यान प्रस्तुत अंश में वर्णित है। इन आख्यानों को निम्नलिखित चरणों में विभाजित कर सकते हैं ।

1- भगवान विष्णु की योगनिद्रा स्वरूपा देवी और मधुकैटम वध प्रसंग तथा ब्रहमा द्वारा योगनिद्रा की स्तुति ।

2- देवासुर संग्राम में असुर महिषासुर द्वारा देवों को जीत लेने पर महिषासुर के वध के लिये देवताओं के तेज समूह से देवी का प्रादुर्भाव, उनके द्वारा महिषासुर के सेनानियों का वध और सिंहवाहिनी दुर्गा द्वारा महिषासुर का वध ।

3- पार्वती की स्तुति, कौशिकी की उत्पत्ति, कालिका द्वारा रूप धारण, तथा असुरों से युद्ध ।

4- काली देवी की उत्पत्ति व चण्डमुण्ड का वध करके चामुण्डा नाम धारण करना।

5- मातृकाओं की उत्पत्ति और असुर वध में योगदान ।

6- शिवदूती आख्यान

7- देवी के आगामी युग में लेने वाले अवतारोंका विवरण जैसे, विन्ध्याचल-वासिनी, रक्तदन्तिका, शताक्षी, शाकम्भरी, भीमादेवी, भ्रामरी देवी आदि ।

फलत: इन आख्यानोंमें परमाशक्ति के जिन रूपों, विभूतियों की चर्चायें हैं वे इस प्रकार है-:

1. <u>भगवती योगनिद्रा:-</u> जो भगवान विष्णु को भी मोहित करने वाली है वे ही वैदिक कालीन रात्रि देवी से समीकृत है जो सम्पूर्ण संसार को विमोहित कर अन्धकार में विलीन सुप्तावस्था का कारण है ।

2. <u>महिषमर्दिनी दुर्गा:</u> जो सम्पूर्ण देवों के तेज का सम्मिलित रूप कात्यायनी भी है । महिष का वध करने के कारण महिषमर्दिनी नाम उनका प्रसिद्ध है ।

3. <u>पार्वती</u> -: जिनका सम्बन्ध शिव से है जिनके विविध रूपों में शिवदूती, कौशिकी, चण्डिका, काली, चामुण्डा का आख्यान है ।

4- सप्तमातृकायें : जो संख्या में सात है और सात प्रमुख देवों की शक्तियां है ।

5- विन्ध्याचल निवासिनी: दुर्गा और अन्य रूप ।

इस प्रकार भगवती शक्ति विष्णु व शिव दोनों से सम्बद्ध प्रस्तुत की गयी। महामाया, योगनिद्रा, दुर्गा, विन्ध्याचल वासिनी भगवती विष्णु से सम्बन्धित की गई, तो पार्वती, कौशिकी, शिवदूती, काली, आदि रूपों में महाशक्ति रूद्र-शिव से भी संयुक्त मानी गयी और ये उनके उग्र रूप थे। बाद में अन्य प्रमुख देवों से भी उनका सम्बन्ध सप्तमातृकाओं के रूप में कल्पित करके महाशक्ति आख्यान को तत्कालीन सभी प्रमुख हिन्दू सम्प्रदायों से सम्पृक्त कर दिया गया और परमाशक्ति, सर्वोच्च शक्ति के रूप में भगवती प्रतिष्ठित हुई ।

शक्ति की महत्ता का द्योतक यह आख्यान भगवती पूजा की परम्परा का एक महान निदर्शन है। शक्ति महत्ता की परम्परा की प्राचीनता भारत में वैदिक काल से भी पहले सैन्धव युग में ही अंकित की जा सकती है । सैन्धव युगीन मातृदेवियों की मातृदेवियों की मृण्मूर्तियाँ व मुद्राओं पर उनके अंकन मातृदेवी की उपासना का प्राचीनतम उदाहरण प्रस्तुत करते हैं जिनसे शक्ति का मातृस्वरूप और उनका उत्पादिका शक्ति से सम्बन्ध द्योतित होता है। जिनकी -उपासना और मान्यता न केवल भारत में किन्तु ईरान और मध्यपूर्व एशिया के अन्य देशों में भी प्रचलित थी साहित्य में उन्हें ही

आगे चलकर असुरों को देवी माया और देवों को माता अदिति कहा गया। सैन्धव स्थलों से प्राप्त मातृदेवी की मृण्मूर्तियों मे कटिप्रदेश के पास एक बालक भी प्रदर्शित किया गया जिससे मातृदेवी वात्सल्य की देवी भी घोतित होती है। इस प्रकार सैन्धव वासियों ने महीमाता, मातृदेवी, उत्पादिका शक्ति आदि के प्रतीक के रूप में जिस मातृ का पूजन की परम्परा छोड़ी, उसे आगे चलकर भारतीयों ने दुर्गा देवी के रूप में मान्यता प्रदान कर उनके विविध रूपों की कल्पना प्रस्तुत की।

वैदिक काल में यही देवी पार्वती, उमा, अम्बिका, हेमवती आदि नामों से भी अभिहित की गयी। ऋग्वेद के दशम मण्डल में एक पूरा सूक्त ही शक्ति उपासना के सम्बन्ध में विवृत है, जिसे देवीसूक्त कहते हैं। वाक सूक्त में ब्रहमवादिनी दुहिता वागाम्भृणी के द्वारा स्वयं देवी की ही महानता वर्णित है, जिसके अनुसार स्वयं देवी ही ब्रहम के द्वेषियों को मारने के लिये रूद्र का धनुष चढ़ाती है। वे ही आकाश और पृथ्वी पर सर्वत्र व्याप्त है। वे ही सेनाओं को मैदान में लाकर खड़ा करती है। वे ही सम्पूर्ण जगत की अधीश्वरी अपने उपासकों को धन की प्राप्ति कराने वाले पूज्यनीय देवों में प्रधान तथा अद्वैत रूप से व्याप्त है। वे ही सम्पूर्ण भूतों में व्याप्त है। इस प्रकार वे पृथ्वी व आकाश से परे है। अतः ऋग्वेद में भी देवी तत्व अत्यन्त महिमाशाली है।

वाजसनेयी संहिता में अम्बिका को रूद्र की बहन कहा गया और तैत्तरीय आरण्यक में रूद्र की पत्नी पार्वती के रूप में देवी प्रतिष्ठित हुई।

केन उपनिषद् में उसके "उमा" नाम मिलने लगे हैमवती" भी कही गई । इस प्रकार उमा, हैमवती, पार्वती आदि नामों की अभिव्यंजना में देवी का सम्बन्ध पर्वतीय प्रदेश से जुड़ गया, यही नहीं पर्वत से जुड़े शिव व शक्ति की अभिन्नता भी स्वीकार की गयी । त्रिक के धरातल पर वे ही महालक्ष्मी, महाकाली और महासरस्वती कहलाईं ।

महाभारत काल में भी देवी शक्ति एक स्वतन्त्र देवी के रूप में प्रतिष्ठित हो चुकी थी जिसके अनुसार कृष्ण की सलाह पर भावी युद्ध में विजय प्राप्ति के लिये अर्जुन ने दुर्गा की आराधना की थी जिनमें दुर्गा, कुमारी, विजया , उमा , काली, कपाली, चण्डी, कात्यायनी, कराला कौशिकी, कान्तारवासिनी, उमा नामों से स्तुत्य है। महाभारत में युधिष्ठिर भी देवी को महिषमर्दिनी, यशोदागर्भसम्भूता, विन्ध्यवासिनी कहते हैं देवी को यह महिमा पुराणों में अधिक विस्तार से व विविध रूपों में व्यक्त हुई है ।

पौराणिक काल में यही देवी-तत्व जगज्जननी के रूप में तीनों लोकों की पालक व प्रकाशित करने वाली प्रभा मानी गई, जो काली के रूप में असुरों का संहार करती है, योगनिद्रा के रूप में समस्त प्राणियों को निद्रा के वशीभूत करती है, भद्रकाली के रूप में स्तुत्य होकर मनुष्य को कभी पराजित नहीं होने देती, महामाया के रूप में सभी को सम्मोहित करती है, वही सांख्यों की प्रज्ञा प्रकृति है, वे ही नित्या शक्ति है, जो सृष्टि, पालन व संहार कर्त्री हैं। असुरों के विनाश में उनका सर्वाधिक योगदान है, वे ही जगत

का कारण है ।

इस प्रकार पौराणिक काल में शक्ति की व्यापकता व महत्ता का प्रभाव व्यापक होता गया जिसके दिग्दर्शन स्वरूप मार्क- पुराण का देवी माहात्म्य अंश प्रमुख है। पुरातात्त्विक साक्ष्यों से प्राङ्मौर्य काल में शक्ति की महत्ता घोतित होती है । मौर्य काल के पूर्व नन्दयुग में लौरियानन्दन गढ़ से प्राप्त महीमाता की मृण्मूर्ति निश्चित रूप से उस युग में देवी तत्त्व की प्रधानता को सूचक है । मातृदेवी की उपासना से सम्बन्धित श्री चक्र या मण्डलाकार चक्रियाँ भी तक्षशिला से लेकर पाटलिपुत्र तक के क्षेत्र से प्राप्त हुई है जो काले स्लेटी, बैगनी, सफेद , रंगों में बलुआ पत्थर की बनी है। जिन पर मातृदेवी की मूर्तियों का अंकन, फूलपत्ती, जानवरों या ज्यामितिय रेखांकनों के साथ हुआ है जिनमें से कुछ चक्रों का विवरण अग्रवाल महोदय ने अपने ग्रन्थ 'भारतीय कला' में प्रस्तुत किया है, ये मातृ चक्रियाँ शाक्तों के वर्तमान तन्त्र पट्ट से समीकृत की जा सकती है। इन चक्रियों में मातृपूजा परम्पराके मूल विद्यमान हैं ।

मधु- कैटभ-वध प्रसंग में योगनिद्रा का वर्णन एवं रात्रि देवी से उनका तादात्म्य

भारतीय विश्वोत्पत्ति की मीमांसा के अनुसार कल्पान्त प्रलय के समय जब समस्त संसार जल में विलीन हो जाता है तब विष्णु उस अपार जल राशि में शेषशय्या पर आसीन होकर अवस्थित रहते हैं। प्रलयावस्था में वे भी योगनिद्रा

के वशीभूत हो जाते हैं । ऐसी अवस्था में विष्णु के नाभिकमल पर स्थित ब्रह्मा कर्णमलोद्भूत मधुकैटभ द्वारा हन्यमान होने पर विष्णु को निद्रा से अनावृत करने के लिये भगवती योगनिद्रा की स्तुति करते हैं । भगवती योगनिद्रा द्वारा विष्णु को छोड़ दिये जाने पर विष्णु जागृत होते हैं । मधुकैटभ वध प्रसंग में योगनिद्रा की उत्पत्ति का लगभग समान विवरण प्रस्तुत पुराण में भी आख्यात है। फलतः ब्रह्मा के स्तवन से योगनिद्रा की उत्पत्ति ही वर्णित है ।

उपरोक्त प्रसंग इस तथ्य को उजागर करता है कि विष्णु भी भगवती योगनिद्रा के द्वारा आवृत होने पर कुछ भी करने में असमर्थ है ब्रह्मा स्वयं उन्हें भगवती "निद्रा" कह कर सम्बोधित करते हैं । §1§ विष्णु भी उनके अवलम्बन मात्र से प्रसुप्त होकर निश्चेष्ट हो जाते हैं । §2§ प्रस्तुत पुराण में उन्हें कालरात्रि, मोहरात्रि, तथा महारात्रि की संज्ञा दी गई है। §3§ वे कालरात्रि अर्थात् भयंकर यमस्वरूपा, मोहरात्रि, अर्थात मोहजनक संसार रूपा, तथा महारात्रि अर्थात् प्रलय स्वरूपा है ।

---

§1§ स्तौमि निद्रां भगवतीं विष्णोरतुलतेजसः ।। मार्क॰ पुराण, 78/53

§2§ वही, 78/ 49-51

§3§ कालरात्रिर्महारात्रिर्मोहरात्रिश्च दारूणा ।। - वही, 78/59

इस सम्बन्ध में यह ध्यातव्य है कि रात्रि देवी वैदिक कालीन देवी थी जिनसे पौराणिक योगनिद्रा को समीकृत किया जा सकता है। ऋग्वेद §1§ में एक तथा अथर्ववेद §2§ में पाँच सूक्त रात्रि देवी से सम्बन्धित है जिसके अनुसार रात्रि देवी 'जगतो-निवेशिनी' है ।§3§ वे सम्पूर्ण संसार को निद्रा के वश में कर देती है, यहां तक कि देवता भी उनकी विशाल क्रोड में शयन करते हैं। ऋग्वेद में रात्रि देवी का आह्वान भेड़ियो, चोरों आदि से रक्षा के लिये तथा स्तोताओं को सुरक्षित स्थान पर पहुँचने का निर्देश देने के लिये किया गया है तथा उन्हें 'दुहितर्दिव:' कहा गया है ।§4§

वस्तुत: रात्रि देवी से समीकृत होने के कारण ही योगनिद्रा भी तामसी-प्रकृति-समन्विता है। प्रस्तुत पुराण में उन्हें तामसी कहा गया है ।§5§ तथापि वे पराप्रकृति है । गुणत्रयविभाविनी चित्शक्ति से उन्हें समीकृत किया गया है । §6§ देवी पुराण में उन्हें ब्रहममायात्मिका तथा परमेश्वरयात्मिका कहा गया है । §7§

वैदिक कालीन रात्रि देवी का सम्बन्ध पौराणिक काल में विष्णु से स्थापित हुआ । पौराणिक काल में विष्णु आदित्य वर्ग के प्रधान देव थे सम्भवत: इसी लिये रात्रि देवी को विष्णु से सम्पृक्त करके उन्हें विष्णुमाया रूप में प्रस्तुत करने की चेष्टा की गई और आगे चलकर वे ही लक्ष्मी के रूप में

---

§1§ ऋग्वेद, 10/127
§2§ अथर्ववेद तथा कल्याण, शक्ति उपासना अंक, ।" पृष्ठ 283
§3§ वैदिक पुराकथाशास्त्र,
§4§ ऋग्वेद 10/127/8
§5§ एवंस्तुता तदा देवी तामसी तत्र वेधसा ।। मार्क॰ पुराण, 78/68
§6§ प्रकृतिस्त्वं च सर्वस्य गुणत्रय विभाविनी। वही, 78, /59
§7§ द्रष्टव्य, कल्याण, शक्ति उपासना अंक, । पृष्ठ 286,

प्रसिद्ध हुई । प्रस्तुत पुराण में निद्रा भगवती के लिये अनेक विशेषण प्रयुक्त हुए हैं जिनमें विष्णुमाया, विष्णु के हृदय में स्थित, हरिनेत्रकृतालया, विष्णु की अतुल तेजस्वरूपा, विष्णु की महामाया आदि विशेषण[1] योगनिद्रा का विष्णु से सम्बन्ध द्योतित करते हैं ।

एकार्णव में शयन करने वाले विष्णु के शरीर से योगनिद्रा की उत्पत्ति प्रस्तुत पुराण में आख्यात है। 'आपो नारा.......' मन्त्र के अनुसार जल में विष्णु का अयन है । और भगवती की उत्पत्ति वेद में समुद्र से आख्यात है ।[2] अतः जल से विष्णु और भगवती दोनों का सम्बन्ध होने के कारण दोनों में एकता स्थापित हुई। विष्णु से सम्बन्ध स्थापन के परिणामस्वरूप ही उन्हें खड्गिनी, चक्रिणी, शंखिनी, चापिनी भी कहा गया ।[3] आगे चलकर इन्हीं योगनिद्रा का सम्बन्ध यशोदागर्भ-सम्भूता कृष्णभगिनी से स्थापित हुआ ।

ब्रह्मा कृत योगनिद्रा स्तुति पूर्णतः वैदिक परम्पराओं के अनुकूल है। ब्रह्मा योगनिद्रा की विश्वेश्वरी, जगत-धात्री, संहारकारिणी, परमाशक्ति के रूप में स्तुति करते हैं। ऋग्वेद में भी उन्हें सम्पूर्ण जगत की ईश्वरी, उपासकों को अभीष्ट प्रदाता, याज्ञिकों में प्रथम, अनेक होकर भी एक, सर्वत्र व्याप्त व्यक्त किया गया है ।[4] ऋग्वेद वर्णित "परो दिवा पर एना पृथिव्यैतावती महिना सं बभूव" की ही अनुकृति पर प्रस्तुत पुराण में भगवती को "परापराणां परमा त्वमेव परमेश्वरी"[5] कहा गया है। अन्यत्र उन्हें "देवी जननी परा"

---

(1) मार्क० पुराण, 78 /52 तथा
वही, 78/ 53

(2) योनिरप्स्वन्तः समुद्रे... । ऋग्वेद, वाकसूक्त

(3) मार्क० पुराण, 78/ 61

(4) अहं राष्ट्री संगमनी वसूनां चिकितुषी प्रथमा यज्ञियानाम् ।
तां मा देवा व्यदधुः पुरुत्रा भूरिस्थात्रां भूर्यावेशयन्तीम् ।।
— ऋग्वेद, वाक सूक्त, 3,

(5) मार्क० पुराण.78/ 62

सम्बोधन से भी अभिहित किया गया है ।[1] जगत की सत्-असत् सभी वस्तुओं में निहित शक्ति ही भगवती है [2] प्रस्तुत पुराण के इन वर्णनों में ऋग्वेद की ऋचाओं के स्वर ही गुंजित होते प्रतीत होते हैं ।

स्पष्ट है कि योगनिद्रा वैदिक रात्रि देवी का ही पौराणिक उपबृंहण है जो तामसीस्वरूपा होते हुए भी त्रिगुणात्मक है, जो जगतो-निवेशिनी है उन्हें ही सन्ध्या, सावित्री, सुधा, स्वाहा, स्वधा भी कहते हैं । महाविद्या, महामाया और महामोहा रूप से ये ही महासरस्वती महालक्ष्मी और महाकाली भी है ।

---

[1] मार्क० पुराण, 78/55

[2] वही, 78/ 63.

महिषासुर-मर्दिनी-दुर्गा और तद्सम्बन्धी आख्यान

हिन्दुओं की प्रसिद्ध देवी दुर्गा की पूजा प्राय: समस्त भारत में विशेषत: बंगाल में, दो नवरात्र मासों में बड़े धूमधाम से सम्पन्न होती है। ये महान देवी दुर्गा पौराणिक काल से आज तक महिषासुर नामक असुर का वध करने के कारण महिषमर्दिनी या महिषासुर- मर्दिनी दुर्गा के नाम से भी प्रख्यात है। मार्क0 पुराण के देवी माहात्म्य अंश में इन्हीं महिषासुर- मर्दिनी दुर्गा की उत्पत्ति, उनका स्वरूप, वाहन, शस्त्र, उनका असुरों से युद्ध और दैत्यों का संहार तथा उनके विविध रूपों का विस्तृत वर्णन प्राप्त होता है ।

महिष को मारने के कारण वे महिषमर्दिनी है। संसार को दुर्गति से तथा दुर्गम भव सागर से मानव को छुटकारा दिलाने के कारण वे दुर्गा भी है। वे ही परमा शक्ति नारायणि है जिन्हें ऋग्वेद में वाग् देवी[1] के रूप में प्रस्तुत किया गया है। वाक् देवी के रूप में वे परम् ब्रहम की रचनात्मक व क्रियात्मक शक्ति है। उत्तर वैदिक कालीन उमा, हेमवती, पार्वती भी दुर्गा का ही रूप हैं । यही कारण है कि महाभारत के समय में उमा के लिये दुर्गा नाम मिलने लगता है ।[2] महाभारत के भीष्मपर्व में अर्जुन द्वारा युद्ध में विजय के लिये दुर्गा की की गयी स्तुति वर्णित है जिससे स्पष्ट होता है कि उसकी रचना के पहले दुर्गा शक्ति सम्पन्न देवी बन चुकी थी और उनकी आराधना इच्छापूर्ति के लिये होती थी ।[3]

---

(1) ऋग्वेद, वाक्सूक्त

(2) महाभारत, भीष्म व विराट पर्व

(3) भण्डारकर, गोपालकृष्ण, वैष्णव , शैव और अन्य धार्मिक मत पृष्ठ- 163

दुर्गा नाम से प्रसिद्ध यह आद्या शक्ति देवताओं का कार्य सिद्ध करने तथा संसार को दानवोत्था विपत्ति से बचाने के लिये बार-बार अवतरित होती है।[1] तथापि वे नित्या है।[2] दुर्गा प्रमुखत: विजय की देवी है अपने वीर कार्यों के लिये ही वे सर्वोच्च देवी है।

महिषासुर मर्दिनी दुर्गा का विस्तृत आख्यान मार्क० पुराण में वर्णित है। वामन, वराह, देवी भागवत्, तथा मत्स्य पुराण आदि में भी इनके आख्यान उपलब्ध होते हैं, जिसके आधार पर महिषमर्दिनी दुर्गा की उत्पत्ति उनके स्वरूप, वाहन, शस्त्र, महिषासुर वध, तथा उनके अन्य नामों का विवेचन प्रस्तुत किया जा सकता है जो इस प्रकार है:-

<u>उत्पत्ति सम्बन्धी आख्यान</u>-मार्क० पुराण में मधुकैटभ वध प्रसंग में विष्णु माया योगनिद्रा के महत्त्व का निरूपण करने के पश्चात उनके अन्य प्रभावों के दिग्दर्शन में यह वर्णन है कि इन्द्र के देवाधिदेव बनने पर महिष नामक असुर के नेतृत्व में जब असुरों ने देवताओं को पराजित कर दिया तब पराजित देवता ब्रहमा को आगे करके महादेव व विष्णु के पास गये और सब

---

[1] इत्थंयदा यदा बाधा दानवोत्था भविष्यति।
तदा तदावतीर्याहं करिष्याम्यरिसंक्षयम् ।।
- मार्क० पुराण, 88/5।

[2] वही, 78/47

वृतान्त कह दिया तथा महिषासुर को मारने के उपाय विचारने के लिए विनय की[1] उस समय देवताओं का वचन सुनकर विष्णु और महादेव अत्यन्त क्रोधित हुए तथा क्रोध से उनका मुख कुटिल हो गया ।[2] अत्यन्त कोपपूर्ण ब्रह्मा, विष्णु व महादेव के मुख से एक महत् तेज आविर्भूत हुआ [3] इसी प्रकार अन्य देवों के शरीर से भी तेज प्रकट हुआ [4]

मार्क0 पुराण वर्णित वर्णन क्रम में आगे यह आख्यात है कि वह देवताओं के शरीर से निर्गत [5] समस्त, दिशाओं में प्रसरित [6] पर्वत के समान ज्वलन्त तेज [7] एक नारी के रूप में परिणत हो गया ।[8]

<u>आख्यान की समन्वयात्मकता</u> इस प्रकार मार्क0 पुराण वर्णित आख्यान के अनुसार दुर्गा देवी वास्तव में समस्त देवताओं का पुँजी भूत- तेजस्वरूपा शक्ति थी[9] यहां तक कि,प्रसिद्ध देव विष्णु, शिव व ब्रह्मा की शक्तियां भी

---

[1] मार्क0 पुराण,अध्याय 79,

[2] वही, 79/ 8- 9

[3] ततोऽतिकोपपूर्णस्य चक्रिणो वदनात्ततः ।
निश्चक्राम महत्तेजो ब्रह्मणः शंकरस्य च ।। - वही , 79/9

[4] अन्येषां चैव देवानां शक्रादीनां शरीरतः ।
निर्गतं सुमहत्तेजस्तच्चैक्यं समगच्छत ।।- वही, 79/ 10

[5] सर्वदेवशरीरजम् .... ।। वही, 79/12

[6] ज्वाला व्याप्त दिगन्तरम् ।। वही, 79/11

[7] अतीवतेजसः कूटं ज्वलन्तमिव पर्वतम् ।। वही, 79/11

[8] एकस्थं तदभून्नारी व्याप्त लोकत्रयं त्विषा । वही, 79/12

[9] वही, 80/ 3.

उनमें समाहित थी । मार्क० पुराण में महिषासुर वध के पश्चात देवों द्वारा उनको की गयी स्तुति में उन्हें "निःशेष देवगणशक्ति समूहमूर्ति" रूप से सम्पूर्ण संसार मे व्याप्त वर्णित किया गया है ।

मार्क० पुराण वर्णित इस प्रकार का आख्यान [जिसमें आद्या शक्ति को विभिन्न देवताओं के सम्मिलित तेज का मूर्त्त रूप व्यक्त किया है,] पौराणिक समन्वयवाद को स्पष्ट करता है। सम्भवतः उस काल में [जिस समय इस प्रकार के वर्णनों की रचना हुई] वैष्णवों, शैवों आदि सम्प्रदायों के बीच बढ़ती स्पर्धा की भावना को समाप्त करके, सभी सम्प्रदायों की भेदगतनीति को विस्मृत करके, उनकी एकता परबल दिया जा रहा था और एक सर्वोच्च शक्ति के रूप में भगवती को प्रतिष्ठा करके समन्वयात्मक दृष्टिकोण को महत्व दिया जा रहा था और इसी लिये पुराणों में भी उस समन्वयात्मकता और एकात्मकता के दर्शन होते हैं . क्योंकि साहित्य समाज का दर्पण होता है।

अथवा यह भी सम्भव है कि बढ़ते हुए बौद्ध धर्म को प्रभावशून्य घोषित करने व हिन्दू धर्म की प्रतिष्ठा स्थापित करने के लिये तत्कालीन हिन्दु सम्प्रदायों, - वैष्णवों, शैव, ब्राहम, व इतर देवों में समन्वय का प्रयास साहित्य के माध्यम से किया जा रहा था क्योंकि साहित्य का प्रभाव जनमानस पर गहराई से पड़ता है।

फलतः इस प्रकार के आख्यानों की रचना भागवतों का एक सम्मिलित प्रयास था जो बौद्ध आदि नास्तिक धर्म के विरोध में था जो पौराणिक

---

[1] वामन पुराण 18/ 6

काल में सफल भी हुआ। और आगे चलकर यही देवी शाक्तों की प्रधान देवी बन गई। निष्कर्षत: इस आख्यान की रचना के प्रेरक तत्व तत्कालीन सामाजिक-धार्मिक परिस्थितियाँ अधिक थी ।

महिषमर्दिनी दुर्गा की उत्पत्ति से सम्बन्धित आख्यान अन्य पुराणों में भी प्राप्त होते हैं ।

वामन पुराण में विवेचित पुराण के सदृश ही देवताओं के शरीर से निर्गत तेज के पुँजीभूत रूप से देवी की उत्पत्ति वर्णित है [1] लेकिन वामन पुराण में वर्णन प्रसंग में यह भी आख्यात है कि देवों के शरीर से प्रकट वह तेज कात्यायन ऋषि के आश्रम में एकत्र हुआ । कात्यायन महर्षि ने भी उस तेज में अभिवृद्धि की जिसके संकलन से वह तेज एक नारी के रूप में परिणत हो गया और वह देवी कात्यायनी देवी के नाम से प्रसिद्ध हुई [2]

इस प्रकार वामन पुराण के अनुसार कात्यायन ऋषि के आश्रम में उनके तेज से अभिभूत होने के कारण दुर्गा का नाम " कात्यायनी" प्रसिद्ध हुआ ।

---

[1] वामन पु०, 18/ 6

[2] तच्चैकतां पर्वतकूटसंनिभं जगाम तेज: प्रवराश्रमे मुने ।
कात्यायनस्याप्रतिमस्य तेन महर्षिणा तेज उपाकृतं च ।।
तेनर्षिसृष्टेन च तेजसा वृतं ज्वलत्प्रकाशार्क सहस्त्रतुल्यं ।
तस्माच्च जाता तरलायताक्षी कात्यायनी योग विशुद्ध देहा ।।

— वामन पु०, 18/ 7-8

मार्क. पुराण में भी परमाशक्ति के अनेक नामों में कात्यायनी, नाम आख्यात है [1] लेकिन कात्यायनी नाम पड़ने के कारण से सम्बन्धित कोई आख्यान नहीं वर्णित है ।

देवी भागवत पुराण में भी कात्यायनी या महिषमर्दिनी दुर्गा का विविध देवों के तेज से प्रकट होने का वर्णन है। तथापि इसका आख्यान आलोच्य पुराण के वर्णन से थोड़ा भिन्न है। इस पुराण में यह वर्णन है कि देवों ने महिषासुर के अत्याचार से पीड़ित होकर विष्णु के पास जाकर निवेदन किया कि ब्रहमा द्वारा पुरूष मात्र से अवध्य होने का वरदान प्राप्त कर महिषासुर के वध का कोई उपाय करें तब विष्णु ने सम्पूर्ण देवताओं से कहा कि यदि सम्पूर्ण देवों की सम्मिलित शक्ति के अंश से कोई देवी प्रकट हो तो वह महिषासुर को मारने में सफलता प्राप्त कर सकेगी । अत: विष्णु ने देवताओं से स्वस्व. शक्तियों से अनुरोध करने का आग्रह किया जिससे सम्मिलित तेजभूता शक्ति से उत्पन्न देवी मदोन्मत व दुराचारी महिषासुर का वध कर सके । विष्णु के उपर्युक्त वचन कहते ही ब्रहमा के शरीर से एक महान तेज प्रादुर्भूत हुआ, जो लाल रंग से शोभायमान था। इसके बाद शंकर के शरीर से उत्पन्न तेज गौर वर्ण का, तीक्ष्ण, विकराल, आकृति वाला, तमोगुण से युक्त उत्पन्न होकर प्रकट हुआ। विष्णु के शरीर से प्रादुर्भूत तेज सत्वगुण युक्त व श्यामवर्ण वाला था। इसी प्रकार इन्द्र, वरूण, यम, अग्नि आदि सभी देवों के शरीर से पृथक-पृथक तेज प्रकट हुआ जो समवेतरूप से एक परम सुन्दरी स्त्री में परिणत हो गया जो महालक्ष्मी थी तथा तीनों गुणों से

---

§1§ मार्क. पुराण, 88/ 1.
वही, 85./ 28

युक्त अष्टादश भुजा सम्पन्न देवी थी ।[1] इस प्रकार देवी भागवत पुराण भी सभी देवों की शक्ति के पुँजीभूत रूप से भगवती दुर्गा की उत्पत्ति वर्णित करता है जिन्होंने महिषासुर का वध करके महिषमर्दिनी दुर्गा नाम धारण किया, जिनको महालक्ष्मी भी कहा गया ।

इस प्रकार प्रायः देवताओं के तेज से प्रादुर्भूत सम्मिलित शक्ति का नाम ही दुर्गा है जो महिष रूप धारी असुर का वध करती है । इसी वर्णन क्रम में देवी के स्वरूप, वाहन व आयुध की भी चर्चा पुराणों में आख्यात है। उपर्युक्त सभी पुराण लगभग समान रूप से देवी के विविध अंगों की सृष्टि भिन्न-भिन्न देवों के तेज से वर्णित करते हैं । मार्क0पुराण में वर्णित आख्यान के अनुसार देवताओं के तेज से देवी के मूर्त्तरूप के जिन-जिन अंगों का सृजन हुआ वे इस प्रकार है:-

---

[1] देवी भागवत पु0, 5 वां स्कन्ध

देवताओं का तेज	भगवती का शरीरांग
1. शंभु (शिव) के तेज से देवी का	मुख
2. यम के तेज से देवी का	केश
3. विष्णु के तेज से देवी की	बाहुएं
4. सौम्य (चन्द्रमा) के तेज से देवी का	युग्मस्तन
5. इन्द्र के तेज से देवी का	मध्य भाग
6. वरूण के तेज से देवी का	जंघा व ऊरू
7. पृथ्वी के तेज से देवी का	नितम्ब
8. ब्रहमा के तेज से देवी का	दोनों चरण
9. सूर्य के तेज से देवी के	पैरों की अंगुली
10. वसुगणों के तेज से देवी के	हाथ की अंगुली
11. कुबेर के तेज से देवी की	नासिका
12. प्रजापति के तेज से देवी के	दाँत
13. पावक के तेज से देवी का	त्रिनयन
14. दोनों संन्ध्याओं के तेज से देवी की	भ्रकुटि
15. अनिल के तेज से देवी के	दोनों कान[1]

लगभग इसी प्रकार का वर्णन वामन व देवी भागवत पुराण भी प्रस्तुत करते हैं। वामन पुराण में [2] देवी की अष्टादश भुजाओं के (विष्णु के तेज से) सृजन की बात वर्णित है इस प्रकार वामन पुराणोक्त कात्यायनी

---

(1) मार्क० पुराण, 79/ 13 से 17

(2) .... हरितेजसा च भुजास्तथाष्टादश.... ।।

—वामन पु०, 18/9

देवी अष्टादशभुजा देवी है। इसी प्रकार वामन पुराण देवी के तीन नेत्रों की उत्पत्ति अग्नि से तथा नासिक की उत्पत्ति यक्ष से वर्णित करता है ।[1] जब कि मार्क० पुराण में देवी की नासिका की सृष्टि कुबेर से वर्णित है। अन्य वर्णन मार्क० पुराण के ही समान है ।

देवी भागवत का उपरोक्त सन्दर्भ का विवरण भी मार्क. पुराण के विवरणों से साम्य रखता है । लेकिन देवी भागवत में देवी के अधरोष्ठ को अरूण के तेज से तथा ऊपरी ओष्ठ को कार्तिकेय के तेज से उत्पन्न होने का वर्णन है [2] जो आलोच्य पुराण में नहीं मिलता ।

<u>कात्यायनी देवी के आभूषण, शस्त्र व वाहन-</u>

देवगणशक्ति-समूह के समवेत रूप से देवी कात्यायनी की उत्पत्ति के प्रसंग में ही उनके शस्त्रों, आभूषणों व वाहनों का भी उल्लेख प्राप्त हो जाता है । पुराण एक मत से यह स्वीकार करते हैं कि उन देवों ने (जिनके तेज से देवी के शरीरांग निर्मित हुए) अपने-अपने आयुध, आभूषण आदि उस परमाशक्ति को प्रदान किये, जिनसे सज्जित होकर दुर्गा देवी महिषासुर का वध कर सके। मार्क. पुराण के वर्णन के अनुसार देवों ने जो आयुध आभूषण आदि देवी को प्रदान किये [3] वे इस प्रकार है:-

---

(1) वामनपु. 18./12

(2) देवी भागवत, 5 वां स्कन्ध,

(3) ततो देवा ददुस्तस्यै स्वानि स्वान्यायुधानि च ।।

– मार्क० पुराण, 79/19

देवता का नाम	आयुध	आभूषण	वाहन
पिनाकभृत शिव ने	§1§ शूल §त्रिशूल§		
कृष्ण § विष्णु§ ने	§2§ चक्र		
वरूण ने	§3§ शंख		
हुताशन §अग्नि§ "	§4§ शक्ति		
मारूत	§5§ चाप		
	§6§ और बाण से युक्त तरकस		
अमराधिप इन्द्र "	§7§ वज्र		
सहस्त्राक्ष इन्द्र	§8§ ऐरावत हाथी से घंटा खोलकर दिया		
यम	§9§ काल दंड		
अम्बुपति वरूण	§10§ पाश		
प्रजापति		§1§ अक्ष माला	
ब्रहमा		§2§ कमण्डलु	
दिवाकर		किरणें	
काल	§11§ खड्ग		
	§12§ और चर्म		
क्षीर सागर		§3§ हार व वस्त्र,	
		§4§ चूडामणि	
		§5§ कुंडल	
		§6§ व कटक §कंगन§	

§7§ अर्धचन्द्र
§8§ बाजु बन्द
§9§ ग्रैवेयक,
§10§ नूपुर
§11§ अँगूठी आदि

विश्वकर्मा §13§ परशु तथा अन्य
§14§ अभेद्य कवच

§12§ अम्लान पंकजो की माला
§13§ तथा सिर पर धारण करने के लिए दूसरी माला ।

हिमालय रत्न §1§ सिंह

कुबेर §14§ सुरापूर्ण पान पात्र
§15§ महामणि से विभूषित नागहार

देवी के असुरों के साथ युद्ध के विवरण के आधार पर उनके आयुधों की सूची निम्न॰ रूप में प्रस्तुत की जा सकती है -

§1§ त्रिशूल[1]
§2§ गदा [2]
§3§ शर [3]
§4§ खड्ग [4]
§5§ घंटा [5]
§6§ पाश [6]
§7§ मुसल [7]
§8§ बाण[8]
§9§ धनुष[9]

---

§1§ मार्क० पुराण, 79/56
§2§ वही, 79/56
§3§ वही, 74/56
§4§ वही, 79/56
§5§ वही, 79/57
§6§ वही, 79/57
§7§ वही, 79/59
§8§ वही, 79/60
§9§ वही, 80/4

(10) शूल(1)
(11) भिन्दिपाल (2)
(12) असि(3)
(13) कालदण्ड(4)
(14) महाअसि (5)

इनमें शूल, खड्ग, गदा, घंटा तथा धनुष प्रमुख आयुध थे। इस प्रकार मार्क० पुराण के विवरणों के आधार पर भगवती दुर्गा सिंहवाहिनी है(6) जिन्हे हिमालय ने सिंह वाहनार्थ प्रदान किया था(7) उपरोक्त सूची में भगवती देवी के 14 आयुध, वाहन सिंह तथा 15 प्रकार के आभूषणों का उल्लेख है। मार्क० पुराण कात्यायनी दुर्गा की भुजाओं की संख्या के विषय में मौन है। केवल 'सर्वबाहुषु'(8), 'बाहव:'(9), 'समस्तास्वंगुलीषु'(10) शब्दों के प्रयोग तथा आयुधों की संख्या के आधार उनकी बहुभुजाओं का अनुमान लगाया जा सकता है। मार्क० पुराण में एक स्थल पर उन्हें हजार भुजाओं से समस्त दिशाओं को व्याप्त करने वाली देवी के रूप में प्रस्तुत किया गया है(11)

ऐसा प्रतीत होता है कि कात्यायनी दुर्गा की कल्पना अष्टादशभुजा देवी के रूप में मान्य थी क्योंकि 14 आयुधों, सुरापूर्ण पानपात्र, कमण्डलु, अक्षमाला को धारण करने वाली दुर्गा का वर्णन उनके अष्टादशभुजा स्वरूप का ही परिचायक है। इस प्रकार कात्यायनी दुर्गा के प्रमुख आयुधों में त्रिशूल,

---

(1) वही, 80/12

(2) वही, 80/17

(3) वही, 80/19

(4) वही, 80/19

(5) वही, 80/40

(6) मार्क. पुराण 79/34... ताम्ूचु: सिंहवाहिनीम् ।।- ।।

(7) हिमवान्वाहनं सिंह.....वही, 79/29

(8) वही, 79/26

(9) वही, 79/73

(10) वही, 79/26

(11) दिशो भुजसहस्रेण समंताद्व्याप्य संस्थिताम् ।। वही, 79/38

चक्र, गदा, पाश, चर्म, घण्टा, शक्ति, धनुष, बज्र, खड्ग और परशु का उल्लेख मार्क॰ पुराण में प्राप्त होता है ।

जहाँ तक दुर्गा की अष्टादश भुजाओं का प्रश्न है, वामन, मत्स्य, देवी भागवत् आदि पुराण भी भगवती को 18 भुजाओं वाली देवी के रूप में ही प्रस्तुत करते हैं ।

वामन पुराण में तो यह स्पष्ट वर्णन है कि विष्णु के तेज से भगवती की अष्टादश भुजायें निर्मित हुई [1] जो इन भुजाओं में त्रिशूल, चक्र, शंख, शक्ति, धनुष, बाणयुक्त तरकस, घण्टा सहित वज्र, दण्ड, गदा, कमण्डलु, रूद्राक्षमाला, ढाल, खड्ग व कुठार, चवॅर, मद्य पात्र, धारण करती है जो क्रमशः शिव, मुरारि, वरूण, अग्नि, वायु, सूर्य, इन्द्र, यम, कुबेर, ब्रह्मा, काल, चन्द्रमा, विश्वकर्मा, गन्धर्वराज आदि द्वारा भगवती को प्रदान की गयी थी ।[2]

मत्स्य पुराण में प्रतिमा लक्षण प्रसंग में देवी कात्यायनी दुर्गा दशभुजा रूप में प्रस्तुत की गयी है [3] जो दाहिने हाथ में त्रिशूल, खड्ग, चक्र, तीक्ष्ण बाण, शक्ति तथा बायें हाथ में ढाल, धनुष, पाश,अंकुश, घण्टा, परशु धारण किये हुये प्रदर्शित की जानी चाहिए ।[4]

---

1. वामन पु०, 18/9
2. वही, 18/14 – 17
3. कात्यायन्याः प्रवक्ष्यामि रूपं दशभुजं तथा ।। – मत्स्य पु०, 260/55
4. त्रिशूलं दक्षिणे दध्यात् खड्गं चक्रं क्रमादधः
   तीक्ष्णबाण तथा शक्तिं वामतोऽपि निबोधत ।
   खेटकं पूर्णचापं च पाशमकुंशमेव च ।।
   घण्टां वा परशुं वापि वामतः सन्निवेशयेत् । – वही, 260/59-61

महिषमर्दिनी कात्यायनी दुर्गा की जो प्राचीन प्रतिमायें मिली है उनमें उन्हें द्विभुजा, चतुर्भुजा, अष्टभुजा, दशभुजा, आदि प्रदर्शित किया गया है ।

भीटा से प्राप्त गुप्तकालीन महिषमर्दिनी दुर्गा की दो भुजा वाली प्रतिमा उपलब्ध है ।[1]

भूमरा से 5वीं शती की चतुर्भुजी दुर्गा प्रतिमा की उपलब्धता[2] उदयगिरि (भिलसा) से द्वादशभुजी प्रतिमा,[3] बादामी, ऐहाल, गंगै - कोडंचोलपुरम्, महाबलीपुरम् आदि स्थानों से अष्ट, दश, भुजा की दुर्गा प्रतिमा, महिषमर्दिनी दुर्गा की महत्ता की परिचायक है साथ ही साथ ये प्रतिमायें इस तथ्य की दृष्टान्त है कि समय - समय पर इन प्रतिमाओं में देवी की भुजाओं की संख्या परिवर्तित होती रही । महाबलिपुरम से अष्टभुजी महिषमर्दिनी की प्रतिमा उपलब्ध है ।[4]

सिंह पर आसीन होने के कारण[5] दुर्गा सिंहवाहिनी है । उनके वाहन के लिये सिंह [6], केसरी,[7] आदि नाम प्राप्त होते हैं । वामन पुराण भी उन्हें मृगेन्द्र,[8] सिंह आदि नामों से अभिव्यक्त करता हुआ

---

1. श्रीवास्तव, बलराम, आइकोनोग्राफी ऑव शक्ति, पृष्ठ 70
2. चित्र संख्या - 1
3. बैनर्जी, जे.एन., डेवेलपमेण्ट ऑव हिन्दू आइकोनोग्राफी, प्लेट X का चित्र नं0 4
4. दृष्टव्य चित्र संख्या - 2 व 3
5. मार्क. पुराण, 79/52
6. वही, 79/52
7. वही, 79/52
8. वामन, पु0 18/21

देवी को सिंहवाहिनी रूप में प्रस्तुत करता है । सिंह की भी देवी के असुरों के साथ युद्ध में प्रमुख भूमिका है जो अपने गर्जन से [1] असुरों की सेना के मध्य, वन में अग्नि की भांति विचरण करते हुए, [2] अपने बालों को कंपाते हुये, असुरों का प्राण हरण करके, [3] अपने पंजों के प्रहार से असुर के मस्तक को शरीर से अलग करके, [4] युद्ध में देवी भगवती के साथ असुर विनाश में संलग्न था ।

प्राय: उपलब्ध महिषमर्दिनी दुर्गा की प्रतिमायें सिंह वाहिनी है । भीटा से प्राप्त 5वीं शती की सिंहवाहिनी दुर्गा की एक प्रतिमूर्ति में [5] भगवती चर्तुभुजा रूप से सिंह पर आरूढ़ प्रदर्शित है । इसी प्रकार महाबली पुरम् से प्राप्त चित्र में महिषासुर व उनके सेनानियों से युद्ध करती दुर्गा सिंह पर आरूढ़ तथा अष्टभुजा, प्रदर्शित है । [6] पर कहीं - कहीं उन्हें महिष के मस्तक पर खड़ी हुई भी प्रदर्शित किया गया है । [7]

---

1. मार्क. पुराण, 79/69
2. सोऽपि क्रुद्धो धुतसटो देव्या वाहन केसरी ।।
   चचारासुरसैन्येषु वनेष्विव हुताशन: ।। - वही, 79/52
3. शरीरेभ्योऽमरारीणामसूनिव विचिन्वति ।। - वही, 79/69
4. वही, 80/15
5. चित्र संख्या - 4
6. चित्र संख्या - 2
7. चित्र संख्या -3

मत्स्य पुराण के प्रतिमा निर्माण प्रसंग के अनुसार महिषमर्दिनी कात्यायनी के वाहन सिंह को मुख से रक्त उगलते हुए प्रदर्शित करना चाहिये तथा देवी का दाहिना पैर सिंह के ऊपर तथा बांया पैर कुछ ऊपर उठा हो।[1]

महिषमर्दिनी दुर्गा का स्वरूप -

जहाँ तक महिषमर्दिनी दुर्गा के स्वरूप का प्रश्न है, मार्क॰ पुराण में अति सौम्य और अति रौद्र दोनों ही रूपों को धारण करने वाली देवी भगवती रूप में प्रस्तुत किया गया है।[2] इनमें देवी कात्यायनी का जगत्प्रतिष्ठा,[3] कल्याणी,[4] सिद्धि,[5] नित्या,[6] गौरी,[7] शिवा,[8] भद्रा,[9] सुरवा,[10] ज्योत्सना,[11] चन्द्ररूपा,[12] व लक्ष्मी[13] रूप सौम्य रूप है। जब कि, दुर्गा, रौद्रा कृष्णा, धूम्रा, काली, कालिका, चामुण्डा, शिवदूती, कौशिकी, आदि उनके रौद्र रूप है। तथापि वे अत्यन्त सौम्य रूप वाली है, उदय होते हुये पूर्णिमा के चन्द्र के समान उनके मुख की कांति है।[14]

---

1. वमद्रुधिरवक्त्रं च देव्या: सिंह प्रदर्शयेत् ।।
   देव्यास्तु दक्षिणं पादं समं सिंहोपरि स्थितम् ।
   - मत्स्य पु0, 261/64-65
2. अतिसौम्यातिरौद्रायै नमस्तस्यै नमोनम: ।। मार्क॰ पुराण, 82/11
3. वही, 82/11
4. वही, 82/9
5. वही, 82/9
6. वही, 82/8
7. वही, 82/8
8. वही, 82/7
9. वही, 82/7
10. वही, 82/9
11. वही, 82/9
12. वही, 82/9
13. वही, 82/10

लेकिन क्रोध व भृकुटि के तन जाने से वे भीषण व उग्र रूप धारण कर लेती है ।[1] देवी कात्यायनी प्रस्तुत पुराण में मंद मुस्कान से युक्त, निर्मल तथा पूर्ण चन्द्र के समान सुवर्ण कांति वाली, अत्यन्त अद्भुत वक्त्रं से सम्पन्न वर्णित है ।[2] प्रस्तुत पुराण में उनके मुख मण्डल के लिये एक अन्य स्थल पर 'इन्दुखंडयोग्यानन',[3] वाक्यांश आख्यात है । अन्य स्थल पर उनके रूप व पराक्रम को अतुलनीय और अनुपम वर्णित किया गया है ।[4] अन्यत्र उनके रूप को अचिन्त्य और अतुल्य कहा गया है ।[5] जिसके रूप व प्रभाव का वर्णन ब्रह्मा, विष्णु व शंकर भी नहीं कर सकते हैं ।[6] जिन भगवती का रूप ही असुर विनाशकारी है उसका वर्णन कैसे किया जा सकता है ।[7] और यही कारण है कि मार्क. पुराण में कात्यायनी दुर्गा के स्वरूप पर विस्तार से चर्चा नहीं मिलती वरन् उसे अतुल्य, अचिन्त्य, अनुपम और अवर्णनीय कह कर उनके प्रभाव का प्रतिपादन किया गया

---

1. .....कुपित भृकुटि करालम्...।। - मार्क. पुराण, 81/13
2. वही, 81/12
3. वही, 81/20
4. "केनोपमा भवतु ते ऽस्य पराक्रमस्य रूपं
   च शत्रुभयकार्यतिहारि कुत्र ।।.....।।
   - वही, 81/22
5. ....रूपं तथैतदविचिंत्यमतुल्यं - मन्यैः ।। वही, 81/21
6. वही, 81/4
7. किं वर्णयाम तव रूपमचिंत्यमेतत्किं -
   चातिवीर्यमसुरक्षयकारी भूरि ।।
   - वही, 81/6

है । जब कि मत्स्य और देवी भागवत पुराण अपेक्षाकृत उनके स्वरूप का स्पष्ट वर्णन प्रस्तुत करते हैं ।

मत्स्य पुराण के वर्णन के अनुसार कात्यायनी देवी की आकृति, तीनों देवों की आकृतियों का अनुकरण करने वाली, जटाजूट से विभूषित, सिर पर अर्द्धचन्द्र, त्रिनेत्रों से युक्त, पूर्णचन्द्र के समान मुखवाली, अलसी के पुष्प के समान नीलवर्णा, तेजोमय, नवयौवन सम्पन्ना, आभूषणों से विभूषित, सुन्दर दांतों से युक्त, स्थूल व उन्नत. पयोधरा, त्रिभंगी रूप से स्थित महिषासुर नाशिनी आदि चिन्हों से युक्त होनी चाहिए ।[1]

देवीभागवत पुराण में आलोच्य पुराण के समान ही भगवती का रूप ब्रहमा, विष्णु, महेश सभी के द्वारा भी अचिन्त्य और अवर्णनीय आख्यात है तथापि निःशेष देवगणसमूहमूर्ति रूप भगवती को सत्व, रज, तम तीनों गुणों से युक्त, तीन वर्णो वाली, स्वच्छ वक्त्र, कृष्णनेत्र, ओठों में लालिमा से युक्त, हाथों के लाल तलवे, व अलौकिक अलंकारों से युक्त वर्णित किया है ।[2]

विष्णुधर्मोत्तर में महिषमर्द्दिनी दुर्गा को स्वर्ण के समान वर्ण वाली त्रिनेत्रा, कृशमध्या, विशालाक्षी, चारूपीनपयोधरा, यौवनस्था, सुरूपिणी,

---

1. मत्स्य पु०, 261/ 56 - 59

2. देवीभागवत पुराण, 55 वां स्कन्ध

एक वक्त्रा, सुग्रीवा रूप में प्रस्तुत किया है ।[1]

मार्क० पुराण के विवरणों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि सर्वाभरण भूषिता के रूप में देवी कात्यायनी अक्षमाला, अम्लान पंकजों की माला, ग्रैवेयक हार, चूड़ामणि, बाजूबन्द, कंगन, अंगुलीयकरत्न, नूपुर, महामणि से विभूषित नागहार, सिर पर पंकज की माला, अर्धचन्द्र, कानों में कुंडल, तथा एक हाथ में कमण्डलु धारण करती हैं । शेष हाथों में आयुध व सुरापूर्ण पान पत्र प्रदर्शित रहता है । ये सभी आभूषण मार्क० पुराण के अनुसार विविध देवों द्वारा भगवती को प्रदान किये गये थे ।[2]

भगवती दुर्गा का महिषासुर और उसकी सेना के साथ युद्ध-

मार्क० पुराण में वर्णित आख्यान के अनुसार महिषासुर ने जब भगवती दुर्गा को निःशेष देवगण समूह की शक्ति के साक्षात सम्मिलित स्वरूपा, 'व्याप्तलोकत्रयां'[3] रूप से हजार भुजाओं से समस्त दिशाओं में व्याप्त[4] तथा धनुष की प्रत्यंचा की टंकार से सम्पूर्ण पाताल को क्षोभित करते देखा[5] तब उसका सेनापतियों, सेनानियों सहित देवी के साथ संग्राम छिड़ गया । देवी के साथ महिषासुर के संग्राम में असुर सेनापतियों की एक लम्बी सूची प्रस्तुत की जा सकती है जिन्हें भगवती ने विनष्ट किया जिनके नाम इस प्रकार है :-

(1) विष्णुधर्मोत्तर, 117/ 18-25

(2) मार्क० पुराण, 79 वां अध्याय

(3) वही, 79,/37

(4) वही, 79/38

(5) क्षोभिताशेष पातालां धनुर्ज्यानिःस्वनेन ताम् ।। वही 79/38

(1) महाअसुर चिक्षुर [1]

(2) चामर [2] नामक असुर जो चतुरंगिणी सेना के साथ युद्ध करने आया

(3) उदग्र [3] ,, ,, जो छः अयुत रथ लेकर युद्ध के लिये आया।

(4) महाहनु [4] ,, ,, हजार ,, ,, ,,

(5) असिलोमा ,, ,, पाँच करोड़ रथ सेना के साथ युद्ध करने आया

(6) वाष्कल ,, ,, साठ हजार रथ सेना के साथ युद्ध के लिए आया

(7) परिवारित ,, ,, करोड़ रथों के साथ ,, ,,

(8) विडाल ,, ,, पाँच लाख रथों के साथ रणस्थल पर आया

(9) काल ,, ,,

(10) ताम्र [5] ,, ,,

(11) अन्धक ,, ,,

(12) उद्धत [6] ,, ,,

---

(1) मार्क पुराण 79/ 40

(2) वही, 79/ 41

(3) वही, 80/ 17

(4) वही, 80/ 17

(5) वही, 79/ 40

(6) वही, 79/ 41

(13)	उग्रास्य नामक असुर	
(14)	उग्रवीर्य नामक असुर	(1)
(15)	महाहनु नामक असुर	
(16)	दुर्धर ,, ,,	(2)
(17)	दुर्मुख ,, ,,	
(18)	उग्रदर्शन ,, ,,	(3)
(19)	असिलोमा ,, ,,	

इन असुरों ने अपनी-अपनी रथ, हाथी व घोड़ों से वेष्टित सेना के साथ महिषासुर की ओर से देवी से युद्ध किया। इन असुरों के प्रमुख शस्त्र तोमर, भिंदिपाल, शक्ति, मुसल, खड्ग, फरसा व पट्टिश थे। (4) तथापि पाश, शूल, ढाल, तलवार, धनुष, आदि भी उनके शस्त्रायुध थे। इन समस्त असुरों का विनाश भगवती ने क्षणमात्र में कर दिया था। मार्क० पुराण में आख्यात विवरण के अनुसार भगवती ने असुरों की उस सेना को उसी प्रकार नष्ट किया जिस प्रकार अग्नि तृणकाष्ठ के समूह को क्षणभर में विनष्ट कर देती है। (5) भगवती ने किसी-2 को घण्टे के शब्द से मोहित कर, किसी को पाश में बद्धकर, टूटे हुए धनुष वाले असुर को बाणों से बींधकर, किसी को

---

(1) मार्क० पुराण, 80/18

(2) वही, 80/19

(3) वही, 80/20

(4) वही, 79/48

(5) क्षणेन तन्महासैन्यमसुराणां तथांबिका ।।
निन्ये क्षयं तथा वह्निस्तृणदारुमहाचयम् ।। वही, 78/68

त्रिशूल से खंड-2 कर, विनष्ट किया। मार्क, पुराण वर्णित आख्यान के अनुसार भगवती ने जिन शस्त्रों के प्रहारों से असुर सेनापतियों को विनष्ट किया वे इस प्रकार है -(1)

1. पत्थरों व वृक्षों की वृष्टि से उदग्र असुर को मारडाला
2. दाँत व घूसों के प्रहार से कराल नामक असुर को मारा
3. गदापात द्वारा उद्धत नामक असुर को विनष्ट किया।
4. भिंदिपाल से वाष्कल, ,, ,,
5. वाणों, ,, ताम्र व अन्धक असुर को विनष्ट किया
6. त्रिसूल से उग्रास्य उग्रवीर्य व महाहनु को विनष्ट किया
7. असि से विडाल का मस्तक काट दिया
8. वाणों से दुर्धर व दुर्मुख को मारा
9. कालदण्ड से कालासुर को नष्ट किया ।
10. उग्रखड्ग पात से उग्रदर्शन को ताडित किया।
11. असि द्वारा असि लोग को नष्ट किया।

---

(1) मार्क० पुराण, 80/ 16 - 20

वर्णानुसार अपनी सेना को इस प्रकार क्षय होता देखकर महिषासुर युद्ध के लिए आया। भगवती का महिषासुर के साथ यह संग्राम भीषण था। इस युद्ध में में देवी के वाहन सिंह ने भी सक्रिय भूमिका निभाई थी । प्रस्तुत पुराण में वर्णित आख्यान के अनुसार जब महिषासुर विविध मायावी रूप धारण कर संसार को क्षोभित करने लगा तो देवी ने मधुपान करके उस महाअसुर के ऊपर चढ़कर अपने पैरों से उसे दबाकर उसके कंठ में त्रिशूल से ताडित किया।[1] जिससे उस महाअसुर की शक्ति आधी रह गयी तब देवी ने उसके मस्तक को महा असि से काट दिया ।[2] इस प्रकार महिषासुर अपनी सेना सहित भगवती दुर्गा द्वारा विनाश को प्राप्त हुआ। महिष असुर को मारने के कारण उनका महिषा-मर्दिनी दुर्गा नाम भी प्रसिद्ध हुआ।

आख्यान का दार्शनिक पक्ष-

भगवती दुर्गा की महिषासुर पर विजय देवताओं की असुरों पर विजय है, धर्म की अधर्म, अत्याचार, अन्याय पर विजय का प्रतीक भगवती महिषासुर संग्राम का यह आख्यान देवासुर संग्राम, इन्द्र-वृत्त संग्राम, शिव-त्रिपुर युद्ध आदि का ही विविध आयाम है। महिषासुर प्रतीक है--अनियंत्रित शक्ति का जो देवमाता अदिति स्वरूप दुर्गा को चुनौती देता है।[3] महिषासुर पाप व अन्धकारमय भावना का प्रतीक है जो ज्योतिर्मय पक्ष व जीवन को आक्रान्त कर देता है। भगवती दुर्गा की महिषासुर पर विजय तमः पर ज्योति की विजय

---

§1§ एवमुक्त्वा समुत्पत्य सारूढा ते महासुरम् ।।
पादेनाक्रम्य कंठे च शूलेनेनमताडयत् ।। वही, 80/38

§2§ वहीं, 80/40

§3§ अग्रवाल वासुदेव शरण, भारतीय कला, पृष्ठ 6।

है । प्राय: हर युग में पाप और अत्याचार महिषासुर के रूप में जनमानस को आतंकित करता है तो विविधता में एकता से उस अत्याचार के साम्राज्य को समाप्त किया जा सकता है यही महिषासुर वध के आख्यान का दार्शनिक व भावात्मक सार है। महिषासुर जो अत्याचार, अन्याय, आसुरी प्रवृत्ति का द्योतक है, के विनाश के लिये देवगण-तेजो-राशि-समुद्भूता कात्यायनी की उत्पत्ति का आख्यान प्रस्तुत करना वास्तव में पौराणिक आदर्शवाद, नैतिकता, तथा अच्छाई की बुराई, अत्याचार और अनैतिकता पर विजय की भावना का द्योतक है। यही इस आख्यान का दार्शिनिक रहस्य है । इस आख्यान के माध्यम से पुराणकार ने समाज के सामने एकत्व का एक आदर्श प्रस्तुत किया है और इस माध्यम से पौराणिक समन्वयवाद का रूप उभर कर सामने आया है।

आख्यान का सामाजिक पक्ष:-

महिषासुर वध आख्यान के दार्शनिक महत्व के अतिरिक्त उसकी सामाजिक पृष्ठभूमि भी विशेष महत्वपूर्ण है। भट्टाचार्या महोदय ने इस आख्यान की रचना के पीछे सामाजिक परिस्थितियों को उत्तरदायी माना है उनके अनुसार पौराणिक वाङ्मय के रचनाकाल में भूमिपती, शासक, व्यवसायिक जैसे उच्च वर्ग के लोगों के हाथों मे धन का केन्द्रीकरण हो रहा था वे उत्पादन का अधिक से अधिक लाभ प्राप्त कर रहे थे जब कि उत्पादनकर्ता श्रमिक, मजदूर व निम्न वर्ग के अन्य लोगों को उत्पादन का पूरा-पूरा लाभ नहीं मिल रहा था। परिणामस्वरूप

खाई की ओर बढ़ा दिया। निम्न वर्ग के लोगों का जीवन , श्रम, कठिनाईयों, समस्याओं, शोषकों के अत्याचारों, उत्पीड़नों और अन्यायों की कहानी बन गया तो सामाजिक क्रांति के दौरान इन अत्याचारों से मुक्ति के लिए अत्याचार के प्रतीक महिषासुर पर देवी के विजय की कल्पना प्रस्फुटित हुई जिसने दलितों, शोषकों के मन में आशा की किरणे जगाई । इस प्रकार,सामाजिक पृष्ठभूमि में यह आख्यान समाज में फैली भावनाओं का पोषक, वर्धक और घोतक आख्यान था। इस प्रकार के आख्यान के वर्णन के द्वारा पौराणिक समाज में अत्याचार को रोकने के लिए सम्मिलित शक्ति का आह्वान था जो एक कठिन प्रयास था।

महिषमर्दिनी दुर्गा की प्राचीन प्रतिमायें-

इसी प्रयास के क्रम में कला में भी महिषामर्दिनी दुर्गा की प्रतिमाओं का निर्माण प्रचुर संख्या में हुआ। प्राय: समस्त भारत के विभिन्न भागों से महिषमर्दिनी की प्रतिमायें प्राप्त होती है जो इनकी महत्ता को सूचक है। सर्वप्रथम कुषाण काल से महिषमर्दिनी की प्रतिमायें प्राप्त हुई है। कुषाणकालीन महिषमर्दिनी दुर्गा महिषासुर से युद्ध में संलग्न प्रदर्शित है । मथुरा से प्राप्त कुषाण कालीन महिषमर्दिनी स्थानक अवस्था में एक हाथ से महिष को मारती तथा दूसरे हाथ से महिष पर हाथ रखे प्रदर्शित है जिसमें महिष अपना सिर ऊपर उठाये है । इसमें देवी का वाहन प्रदर्शित नहीं हैं । [1] कुषाण काल में महिष को मानव रूप से नहीं प्रस्तुत किया

---

[1] द्रष्टव्य, चित्र नं0- 5

गया है । गुप्त काल में मानव शरीर व महिष मुख वाले महिषासुर को त्रिशूल से आघात करते देवी द्वि, चतु, षष्ठ, अष्ठ आदि भुजाओं के साथ प्रदर्शित की गई। गुप्तकालीन महिषमर्दिनीका प्रतिष्ठित स्वरूप उदयगिरि की गुफा [मिलता] के मुखद्वार पर अंकित प्रतिमा में मिलता है जो चन्द्र गुप्त II के काल की है जिसमें देवी महिषासुर का वध करती प्रदर्शित है इसमें देवी को द्वादश भुजा सम्पन्न प्रस्तुत किया गया है। [1] इसे 5 वीं सदी के प्रारम्भ का माना जा सकता है ।[2] पाँचवी शदी की ही एक महिषमर्दिनी प्रतिमा भूमरा से प्राप्त है जिसमें चर्तुभुजी दुर्गा महिषासुर के सिर को त्रिशूल से अलग करती हुई प्रदर्शित है उनके बायें हाथ में महिषासुर की पूँछ है । अन्य हाथों में तलवार व कवच धारण किये है ।[3] न केवल गुप्तों के संरक्षण में उत्तर भारत में अपितु दक्षिण भारत में भी पल्लव, चालुक्य

आदि राजाओं के संरक्षण में भी महिषमर्दिनी, प्रतिमायें बनी । पल्लव काल में बने मण्डपों, रथों मे दीवारों पर प्राय: महिषमर्दिनी दुर्गा महिष के मस्तक पर खड़ी हुई प्रदर्शित है जो अष्टभुजा है तथा हाथों में शंख, चक्र असि, घण्टा, कवच है। एक हाथ अभय मुद्रा तथा एक हाथ कटि पर है ।[4]

---

[1] श्रीवास्तव, बलराम, आइकोनोग्राफी ऑव शक्ति, पृष्ठ 7।

[2] भट्टाचार्या, एन0एन0, हिस्ट्री ऑव शाक्त रिलिजन, पृष्ठ 82

[3] चित्र संख्या- 1

[4] चित्र संख्या- 2

पल्लवकाल के ही महाबलीपुरम् स्थित महिषमर्दिनी गुफा में दीवार पर अंकित रिलीफ चित्र मानों देवी - असुरयुद्ध का दृश्य उपस्थित कर देता है इसमें देवी सिंह पर आरूढ़ होकर चक्र, शंख, धनुष, तलवार, ढाल, कवच आदि शस्त्रों से महिषमुख वाले असुर से युद्ध करती हुई प्रदर्शित है । साथ में देवी के गण तथा योगिनियां भी अपने अपने आयुधों सहित प्रदर्शित है ।[1] हाथ में गदा लिये महिष असुर तथा उसके सहयोगी पलायित मुद्रा में अभिचित्रित है। पूरा चित्र मार्कण्डेय पुराण वर्णित आख्यान का प्रदर्शक है । यह चित्र एक प्रकार से महिषासुर के देवी के साथ संग्राम का कथात्मक या वर्णनात्मक परिदृश्य बोधक चित्र है ।

प्रारम्भिक चालुक्यों के काल में भी दुर्गा का महिषमर्दिनी रूप ही अधिक प्रचलित रहा जिसका प्रमाण ऐहोल से प्राप्त दुर्गा मंदिर की दीवार पर उत्कीर्ण चित्र हैं जिसमें अष्टभुजा दुर्गा ऊपर उठाये हुये गर्दन वाले महिषासुर का वध करते प्रदर्शित है ।[2] यह चित्र 550 ई0 से 642 के बीच निर्मित माना जा सकता है । उड़ीसा, राजस्थान, बंगाल आदि से भी प्राप्त महिषमर्दिनी दुर्गा की बहुसंख्यक प्रतिमायें उनके प्रसरित महत्व की पुष्टि करती है ।

---

1. चित्र नं0 - 2
2. भट्टाचार्य, एन. एन., हिस्ट्री ऑव शाक्त रिलिजन - पृ0 82

उड़ीसा के वेताल देउल में, जो भुवनेश्वर में स्थित है, में मानव शरीर और महिष - मुख वाले असुर को प्रहारित करते हुये अष्ट भुजा सिंहवाहिनी दुर्गा का अंकन है ।[1]

बीकानेर म्यूजियम में सुरक्षित एक फलक, अम्बर म्यूजियम में संरक्षित फलक तथा नीलकंठेश्वरी मन्दिर अलवार, से प्राप्त प्रतिमा में दुर्गा का महिषमर्दिनी रूप प्रकट हुआ है जिसमें दुर्गा त्रिशूल से महिष मुखधारी असुर को मारते हुए प्रदर्शित है ।[2]

खजुराहो, बंगाल, बिहार, आसाम, आदि स्थानों से भी महिषमर्दिनी की असंख्य प्रतिमायें प्राप्त होती है ।

उपरोक्त उदाहरण इस तथ्य को स्पष्ट करते हैं कि शक्ति को प्रधानता प्रदान करने की प्रवृत्ति के बलवती होने पर पौराणिक समाज (और अवान्तरयुगीन समाज भी) में परमा शक्ति के विविध महत्वपूर्ण कार्यों और तत्सम्बन्धी आख्यानों में दुर्गा भगवती द्वारा महिषासुर को प्रवृत्त करना प्रमुख था । वस्तुत: अन्याय अत्याचार के प्रतीक महिषासुर का दुर्गा द्वारा वध की परिकल्पना का आधार सामाजिक - नैतिक परिस्थितियां थी जिसके परिणामस्वरूप तत्युगीन

---

1. श्रीवास्तव, बलराम, आइकोनोग्राफी ऑव शक्ति, पृष्ठ 71, 72
2. भट्टाचार्या, एन.एन. हिस्ट्री ऑव शाक्त सेक्ट, पृष्ठ 82

समाज में इस प्रकार के आख्यानों को रचना के माध्यम से विषमताओं, अत्याचारों, अनैतिकता, अन्याय को समाप्त कर एक नैतिक, सभ्य, कल्याणकारी, सुसंस्कृत समाज की रचना में निरन्तर प्रयास किये जा रहे थे जिसके प्रभाव में महिषमर्दिनी दुर्गा के आख्यानों के साथ-साथ कला में भी उनकी अभिव्यक्ति हुई । फलत: दुर्गा प्रधानत: परमा शक्ति होते हुए भी अत्याचार, भ्रष्टाचार, अन्याय की विरोधात्मक शक्ति का पर्याय बन गई । वे प्रधानत: युद्ध की देवी के रूप में कल्पित की गई, जो न केवल असुरों का संहार करने में समर्थ है अपितु वे स्वयं असुरों के साथ युद्ध में भाग भी लेती है ।

<u>महिषमर्दिनी दुर्गा की महत्ता - सर्वोच्च देवी के रूप में :</u>

ये ही महिषमर्दिनी दुर्गा काल रात्रि है जो काल नामकअसुर को नष्ट करने वाली है ।[1] जिन्हे मोक्षार्थी मुक्ति का कारण बताते है ।[2] वे ही दुर्गा महा विद्या है ।[3] वे ही दुर्गम भव सागर से पार उतारने वाली नौका सदृश है ।[4] विष्णु के हृदय में वास करने वाली लक्ष्मी तथा चन्द्र शेखर शंकर की प्रतिष्ठा गौरी उन्ही परमा शक्ति के दो अन्य

---

1. ...।। कालं च कालदंडेन कालरात्रिरपातयत् ।। मार्क॰ पुराण, 80/19
2. या मुक्ति हेतुरविचिन्त्य महाव्रता..।।वही, 81/9
3. विद्यासि सा भगवती परमा हि देवि । वही, 81/9
4. ...दुर्गासि दुर्ग भवसागर नौरसंगा ।। वही, 81/11

रूप है ।[1] विदित शास्त्ररूपा, ज्ञान सम्पन्ना भगवती सरस्वती भी स्वयं परमा देवी महिषमर्दिनी दुर्गा है ।[2] इस प्रकार महिषमर्दिनी कात्यायनी में महालक्ष्मी, महासरस्वती, और महागौरी तीनों ही रूप आप्यायित है । फलत: एक ही शक्ति भिन्न – भिन्न रूपों में संसार में व्याप्त है । "एकं सद्विप्रा: बहुधा वदन्ति" वेदों की यह उक्ति देवी माहात्म्य प्रकारण में "एकैवाहं द्वितीया का ममापरा" के रूप में परिणत हो गई पुराणकार की यह उक्ति है कि देवी अनेक मूर्ति धारणकर अपने को अभिव्यक्त करती है ।

प्रस्तुत पुराणानुसार ये ही देवी पुण्यवान मनुष्यों के घर में सम्पदास्वरूप है तो दूसरी ओर पापियों के घर में अलक्ष्मीस्वरूप है ।[3] उन्हो की अनुकम्पा से व्यक्ति संसार में धन-यश, अभ्युदय प्राप्त करता है ।[4] ये ही दुर्गा देवी भक्तों को शुभमति, मृत्यु के अनन्तर स्वर्ण तथा दारिद्र्यदुख से मुक्ति प्रदान करती है । दुर्गत मनुष्यों द्वारा स्मरण किये जाने पर उनके भय का नाश करती है ।[5] इस प्रकार महिषमर्दिनी दुर्गा आर्द्रचित्ता,

---

1. श्री: कैठभारिहृदयैक कृताधिवासा गौरी
   त्वमेव शशिमौलिकृत प्रतिष्ठा ।। वही, 81/11
2. मेधासि देवि विदिता-खिल शास्त्रसारा.. ।।
   – वही 81/11
3. या श्री: स्वयं सुकृतिनां भवनेष्वलक्ष्मी:
   पापात्मनां कृतधियां हृदयेषु बुद्धि ।। वही, 80/5
4. ते सम्मता जनपदेषु धनानि तेषां
   यशांसि न च सीदति बंधुवर्ग: ।।
   धन्यास्त एवं निभृतात्मज भृत्य दारा येषां सदाम्युदयदा भवती प्रसन्ना ।। – वही, 81/15
5. वही, 81/17

सर्वोपकारकरणा है, जो प्रसन्न होने पर सब का कल्याण करती है और रूष्ट व क्रोधित होने पर सम्पूर्ण कुल का विनाश भी कर देती है।[1] देवी के उपकारात्मक स्वरूप का परिचय ॠग्वेद में भी उपलब्ध है। वाकसूक्त में देवी अपने को अपने उपासकों को धन की प्राप्ति कराने वाली कहती है।[2]

देवताओं द्वारा प्रणीत महिषमर्दिनी दुर्गा की स्तुति के विवेचन से देवी का सर्वव्यापकत्व सूचित होता है। मार्क० पुराण के अनुसार देवी के प्रभाव से यह चराचर जगत व्याप्त है।[3] यह जगत उन्ही का अंश है।[4] जगत का हेतु वे ही[5] हैं देवी की सर्वव्यापकता का यह भाव वैदिक युगीन वाकसूक्त में "अहं घावापृथिवी आविवेश" के रूप में अभिव्यक्त हुआ है।[6] वास्तव में शक्ति का विस्तार सर्वत्र है। ब्रहमाण्ड पुराण में भी देवी को अपना प्रभा से तीनो लोकों को प्रकाशित करने वाली शक्ति के रूप में प्रस्तुत किया गया है।[7] ॠग्वेद के अनुसार वे पृथ्वी और आकाश से परे है।[8]

---

1. मार्क. पुराण, 81/14
2. अहं राष्ट्री सगंमनी वसूनां...।। ॠग्वेद, 10/125/3
3. देव्या यया ततमिदं जगदात्मशक्त्या ।। मार्क. पुराण 80/3
4. ...सर्वाश्रयाखिलमिदं जगदंश भूतमव्याकृता.. ।। - वही, 80/7
5. ...हेतु: समस्त जगतां ।। वही, 80/7
6. ॠग्वेद, 10/125/1
7. ब्रहमाण्ड पुराण, 4.29. 145 त्रिजगतां जननी बभ्भासे विघोतमान विभ्रमा ।।
8. परो दिवा पर एना पृथिव्या ।। ॠग्वेद, 10/125

मार्क पुराण दुर्गा को ब्रहमा, विष्णु, महेश से भी अधिक प्रभावशाली देवतत्त्व के रूप में प्रस्तुत करता है। पुराण के अनुसार हरि, हरदेव भी उनके प्रकृत तत्त्व को नहीं जानते है ।[1] ब्रहमा, विष्णु, महेश भी देवी के प्रभाव व बल का वर्णन करने में समर्थ नहीं है ।[2] भगवती दुर्गा ही अखिल देव और महर्षिगण द्वारा पूजित है ।[3] वे ही सत्त्व, रज, तम गुणात्मिका है ।[4] ब्रहमा, विष्णु रूद्र उन्ही की शक्ति से संयुक्त होकर सृजन, पालन और संहार करने में समर्थ होते हैं ।[5] प्रलय काल में देवी महाकाली रूप से महामारी फैलाती है वही भगवती संसारोत्पत्ति के समय सृष्टिरूप हो जाती है और रक्षाकाल में वही सनातनी देवी प्राणियों को रक्षा करती है ।[6] इस प्रकार सम्पूर्ण ब्रहमाण्ड उनसे ही व्याप्त है ।[7] प्रस्तुत तथ्य भगवती की महत्ता, सर्वभौमिकता तथा सर्वशक्तिमत्ता का बोधक है । यह विचारणीय है कि ऋग्वैदिक काल से ही भगवती को वाक् देवी के रूप महत्ता प्राप्त थी । वाक सूक्त में भी देवी "अहं रूद्राय धनुरा तनोमि" आदि रूपो में सर्वशक्तिमान सर्वत्र व्यापक वर्णित है ।

---

1. ....देवैर्न ज्ञायसे हरिहरादिभिरप्य पारा ।।
   – मार्क. पुराण,80/7
2. यस्या: प्रभावमतुलं भगवाननंतो ब्रहमा हरश्च नहि वक्तुमलं बलं च ।।
   –वही, 80/4
3. वही, 80/3
4. वही, 80/7
5. सृष्टि स्थितिविनाशानां शक्तिभूतें सनातनि ।। "वही, 88/10
6. सैव काले महामारी सैव सृष्टि भवत्यजा
   स्थितिं करोति भूतानां सैव काले सनातनी ।।वही, 89/36
7. व्याप्तं तयैतत्सकलं ब्रहमाण्डं..... ।। वही, 89/35

देवी भागवत पुराण में शक्ति की सर्वोच्चता उपरोक्त परम्परा में ही वर्णित है इसके अनुसार " भगवती के अखिल प्रभाव को न तो ब्रह्मा, न हरि, न शिव और न शेषनाग जानते हैं...... इनके पाद पंकज की रज पाकर ही ब्रह्मा विश्व का सर्जन करते हैं, विष्णु पालन और रूद्र संहार करते हैं । उनकी कृपा के बिना देवता भी असमर्थ है ।[1]

---

1. यस्या: प्रभावम खिलं नहि वेद धाता
नो वा हरिर्न गिरिशो नहि चाप्यनन्त: ।।

....

यत्पादपंकजरज: समवाप्य विश्वं
ब्रह्मा सृजत्यनुदिनं च विभर्ति विष्णु:
रूद्रश्च संहरत नेतरथा समर्थास- ।- देवी भागवत,5/98-99

भगवती काली और देवी आख्यान में उनका महत्त्व _ प्राचीन धर्माख्यानों में प्राय: सभी देव तत्त्व के दो स्वरूपों की मुख्यता कल्पित किया गया । ये दो स्वरूप थे - सौम्य और उग्ररूप । इसी परम्परा के अनुरूप भगवती के भी सौम्य और उग्र रूपों की कल्पना दृष्टिगत होती है । शक्ति तत्त्व के सौम्य रूप का दिग्दर्शन उनके योगमाया, महामाया, कात्यायनी, दुर्गा, विष्णु-माया, नारायणी आदि नामों से होता है तो शक्ति के काली, कराली, भीमा, चामुण्डा, आदि अभिधान उनके उग्रस्वरूपा मूर्ति के परिचायक है । देवी के रौद्र रूप के सम्बन्ध में मत्स्य पुराण का कथन है कि "महादेव ने देवी को रौद्री मूर्ति प्रदान की ।[1] वैदिक काल से ही शक्ति के रौद्रीरूपा स्वरूप का अनुमान लगाया जा सकता है। अथर्ववेद में कुछ लक्ष्मियों को पापिष्ठ तथा कुछ को कल्याणदायक कहा गया है । ऐसा प्रतीत होता है कि लोक में प्रचलित कालकर्णी, कोट्टवै, काली, चण्डिका आदि उग्ररूपा देवी ही पौराणिक युगीन "काली" के स्वरूप में अन्तर्निहित हुई । काली को 'दुर्गा का ही' रूप भी कहा गया ।[2] प्राय: सर्वत्र काली भयंकरा, भीमा, भीषणा, तथा विस्तीर्ण बदना मानी गई । वे भैरवनादिनी भी अभिव्यक्त हुई जिसके दुर्दृश दांतो की पंक्ति भयंकर है, ऐसी भीमाक्षी नरमाला विभूषिणी काली की

---

(1) रौद्री चैव परां मूर्ति महादेव: प्रदास्यति ।
मत्स्य पु0, 179/82

(2) जयन्ती मंगला काली भद्रकाली कपालिनी ।
दुर्गा क्षमा शिवा धात्री स्वाहा स्वधा नमोऽस्तु ते ॥
अर्गला स्तोत्र, दुर्गासप्तशती

उत्पत्ति के सम्बन्ध में पुराणों में उपाख्यान प्राप्त होते हैं जिनमें उनकी उत पार्वती या चण्डिका से बताई गई है ।

काली की उत्पत्ति सम्बन्धी आख्यान -

मार्क. पुराण में काली की उत्पत्ति के सम्बन्ध में यह वर्णन मिलता है कि जब चण्ड मुण्ड तथा उनके गण हिमालय के शिखर पर सिंह पर विराजम कालिका (पार्वती देवी) [1] को पकड़ने की चेष्टा में प्रयास रत हुये तब तब अम्बिका ने दैत्यों पर क्रोध किया । क्रोध करने के कारण उनका मुख श्याम वर्ण का हो गया । उसी समय उनके भ्रुकुटि के चढ़ाने से उनके ललाट से शीघ्र एक भयंकर मुखवाली करालवदना काली प्रगट हुई । [2] इसी वर्णन के अनुरूप ही वामन पुराण में भी काली की उत्पत्ति कौशिकी - (पार्वती के कोश से) उत्पन्न वर्णित है [3] जो विकराल मुखवाली होते हुये भी भक्तों के लिये शुभदायिनी है ।

मत्स्य पुराण में अन्धकासुर वध प्रसंग में काली को शिव द्वारा उत्पन्न वर्णित किया गया है तत्पश्चात् इसी पुराण में ही काली की उत्पत्ति

---

1. ददृशुस्ते ततो देवी-मीषद्-हासां व्यवस्थिताम् ।
   सिंहस्योपरि शैलेन्द्र श्रृंगे महति कांचने ।। - मार्क. पुराण, 84/2

2. ततः कोपं चकारोच्चैरम्बिका तानरीन्प्रति ।
   कोपेन चास्या वदनं मषीवर्णमभूत्तदा ।।
   भ्रुकुटीकुटिलात्तस्या ललाट फलकाद् द्रुतम् ।
   काली करालवदना विनिष्क्रांतासि पाशिनी।। - वही, 84/4-5

3. त्रिशाखां भ्रुकुटी वक्त्रे चकार परमेश्वरी ।
   भ्रुकुटिकुटिलाद् देव्या ललाटफलकाद् द्रुतम् ।।
   काली करालवदना निःसृता योगिनी शुभा ।।-वामन पु0, 55/55-56

नृसिंह वेशधारी विष्णु को हड्डियों से वर्णित है जिन्होने पूर्वकाल में उत्पन्न होकर अन्धक के रुधिर का पान किया था और जो शुष्करेवती के नाम से प्रसिद्ध है ।[1] पुनश्च मत्स्यपुराण में यह वर्णन है कि पुत्राभिलाषियों को पूज करने पर शुष्करेवती पुत्र प्रदान करने वाली होगीं ।[2] भगवान रुद्र ने जिन मातृकाओं को रौद्री रूप प्रदान किया था उनमें एक कालीभी थी।[3] इस प्रका रुद्र के साथ काली के समन्वय के परिणामस्वरूप काली उग्रस्वरूपा, भीषणा भीमा, भयंकरा देवी के रूप में प्रसिद्ध हुई । इस प्रकार काली आद्या शक्ति का ही तामसी रूप कही जा सकती है । वासुदेव शरण अग्रवाल इन्हें वैदिक कृत्या का ही विकसित रूप मानते हैं,[4] जो प्रेतवाहना, शुष्क-गात्रा तथा कंकालधारिणी है, ऋग्वेद में इन्हें ही 'कृष्णरजस्' कहा गया । महाकाल की शक्ति महाकाली है जो प्रलयकाल में महामारी रूप से विद्यमान रहती हैं ।[5]

---

1. अस्थिभ्यश्च तथा काली सृष्टा पूर्वं महात्मना ।।
   यया तद्रुधिरं पीतन्धकानां महात्मनाम् ।
   या चास्मिन् कथिता लोके नामतः शुष्करेवती ।।
   – मत्स्य पु०, 179/64-65
2. शुष्कां सम्पूजयिष्यन्ति ये च पुत्रार्थिनो जनाः ।
   तेषां पुत्रप्रदा लोके सर्वान् कामान् न संशयः ।।
   – वही, 180/85
3. वही, 180 वां अध्याय
4. अग्रवाल, वासुदेवशरण, भारतीय कला, पृष्ठ 346
5. महाकाल्या महाकाले महामारी स्वरूपया ।
   सैव काले महामारी सैव सृष्टिर्भवत्यजा ।।
   – मार्क. पुराण, 89/36

महाकालेश्वर शिव से उनका सम्बन्ध होने के कारण ही महाकाली के रूप में प्रलयकाल में आधाशक्ति के योगदान की कल्पना की गयी ।

यहां पर यह प्रसंग विवेचनीय है कि काली भगवती पार्वती या कौशिकी से उत्पन्न मानी गयी जो शैलश्रृंग पर निवास करती है [1] हिमालय से सम्बन्ध के कारण वे पार्वती या हेमवती भी है जिनका सम्बन्ध उपनिषद कालीन उमा से है और यही उमा हैमवती पार्वती शिव की पत्नी के रूप में भी कल्पित की गयी । फलत: नामानुरूप ही पार्वती, जिन्हें कालिका, अम्बिका के नाम से भी अभिहित किया गया, का सम्बन्ध पर्वत से (पर्वत-पार्वत-पार्वती) माना गया । इसी प्रकार पार्वती या चण्डिका की कल्पना का आधार पर्वतीय जातियों यथा शबर-किरात आदि द्वारा बुरी आपदाओं से रक्षा के लिये पूजित होना भी है । शिव भी पहले रूद्र के रूप में पर्वतीय और जंगली जातियों के आराध्यदेव के रूप में कल्पित थे । अत: अपनी समान विशेषताओं के कारण पार्वती सम्भवत: शिव से जुड़ गयी और हैमवती कहलाई । उन्हीं के ललाट से काली की उत्पत्ति का उपाख्यान उन्हें शिव - सम्प्रदाय से शक्ति के सम्मिश्रण का अभिन्न अंग बना देता है । इस प्रकार आधा शक्ति को एक ओर वैष्णव सम्प्रदाय से जोड़कर उन्हें विष्णुमाया, योगनिद्रा के रूप में प्रतिष्ठा मिली [2] तो दूसरी तरफ उन्हें शैव सम्प्रदाय से भी सम्बन्धित करके उनका चण्डिका, काली, कौशिकी, शिवदूती आदि रूप प्रसिद्ध हुआ । वास्तव में ये सभी विभूतियाँ एक

---

1. मार्क॰ पुराण, 84/2
   वामन पु0 55 वाँ अध्याय
2. मार्क॰ पुराण, मधु कैटभ प्रसंग

मार्क. पुराण में उन्हें विचित्र खट्वांग लिये हुये, मुंडों की माला पहने, बाघम्बर धारण किये हुये, अत्यन्त शुष्क मांस वाली, मुख को खोले हुये, जिह्वा को बाहर निकाले हुए, भीतर को घुसे हुये लाल नेत्र वाली तथा अपने घोर निनाद से चतु: ओर हाहाकार मचा देने वाली देवी के रूप में चित्रित किया गया है ।[1] जिनके हंसने पर कराल मुख में दुर्दर्श दांतों की पंक्ति शोभायमान होती है ।[2] जो अति भीषण स्वरूप वाली है ।[3] अन्यत्र इन्हें 'दंष्ट्रा - कराल - वदना' भी कहा गया है ।[4] मार्क. पुराण में वर्णित काली का उपरोक्त स्वरूप बहुत कुछ अंशों में विष्णु धर्मोत्तर में वर्णित स्वरूप से मिलता जुलता है । विष्णुधर्मोत्तर में ये अत्यन्त काले वर्ण की कही गयी है जिनके मुख में विशाल दाढ़ें है जिनका नेत्र विशाल तथा कटि प्रदेश पतला है । इनकी चार भुजायें हैं जिनमें खड्ग,

---

1. विचित्रखट्वांगधरा नरमाला विभूषणा ।
   द्वीपिचर्मपरीधाना शुष्कमांसाति-भैरवा ।।
   अतिविस्तारवदना जिह्वाललन भीषणा ।
   निमग्नारक्तनयना नादापूरितदिङ्मुखा ।।
   - मार्क. पुराण, 84/6-7
   तथा -..... भीमं भैरवनादिनी ।"
   - वही, 84/18

2. "काली कराल वक्रान्त दुर्दर्श दशनोज्जवला ।।"
   - वही, 84/18

3. ...कालीमतिभीषणाम् ।" वही, 84/15

4. दष्ट्राकराल वदने शिरोमाला विभूषणे.... ।
   वही, 88/20

पाश, मुण्ड तथा खेटक धारण करती है । गले में कबन्ध तथा मुण्डों की माला पहनती है ।[1]

पूर्वकारणागम में इन्हें दशभुजा वाली तथा जल से भी मेघ के समान वर्ण वाली बतलाया गया है ।[2] वामन पुराण में काली कराल वदना, भक्तों के लिये शुभा, हाथ में खट्वांग धारण किये, काले अंजन के समान तरकस युक्त तलवार धारण किये शुष्क गात्र वाली, रूधिर से आप्लावित तथा राजाओं के कटे सिर की माला पहनने वाली देवी के रूप में वर्णित है ।[3]

---

1. सा भिन्नाऽञ्जनसंकाशा दंष्ट्रांकित वरानना ।
   विशाललोचना नारी बभूव तनुमध्यमा ।।
   खड्गपात्रशिर: खेटैरलंकृत चर्तुभुजा ।
   कबन्धहारं शिरसा बिभ्राणा हि शिरस्स्रजम् ।।"
   – विष्णुधर्मोत्तर ।।9/14-19

2. पूर्वकारणागम, अध्याय 32

3. .....काली कराल वदना नि:सृता योगिनी शुभा ।।
   खट्वांगमादाय करेण रौद्रमसिंच कालांजन कोशमुग्रम् ।
   संशुष्कगात्रा रूधिराप्लुतांगी नरेन्द्रमूर्ध्ना स्रजमुद्वहन्ती ।।
   – वामन पु०, 55/56-57

काली तन्त्र में काली को चतुर्भुजा, शवारूढ़ा, घोरदंष्ट्रा, मुण्ड - मालाधारिणी तथा महाभीमा वर्णित किया है ।[1]

श्री तत्त्वनिधि में काली को अष्टभुजा वर्णित किया गया है जो शंख, चक्र, गदा, कुम्भ, मुसल, अंकुश, पाश और वज्र धारण करती है जिनका वर्ण मेघ के समान श्याम है ।[2]

काली की कुछ प्राचीन प्रतिमायें भी मिली हैं जिनका स्वरूप उपरोक्त वर्णनों से काफी मिलता है । मद्रास म्यूजियम में काली की जो प्रतिमा है उसे गले में मुण्डों की माला व कबन्ध हार पहने प्रदर्शित किया गया है ।[3] थापर महोदय ने अपने ग्रन्थ में गले में कबन्ध माला पहने डमरू, खड्ग, खेटक व सिर को चार भुजाओं में धारण किये आसनस्था काली मूर्ति का उल्लेख किया है ।[4]

---

1. शवारूढ़ा, महाभीमां घोरदंष्ट्रां हसन्मुखीम् ।
   चतुर्भुजां खड्गमुण्डवराभयकरां शिवाम् ।।
   मुण्डमाला धरां देवीं लोलजिह्वां दिगम्बराम् ।
   एवं संचिन्तयेत् काली श्मशाननालयवासिनीम् ।।
   श्रीवास्तव, बलराम, आइकोनोग्राफी ऑव शक्ति
   पृष्ठ 57 से उद्धृत ।

2. अष्ट बाहुर्महाकाया कालमेघसम् प्रभा ।
   शंखचक्रगदाकुम्भमुसलांकुशपाशयुक् ।।
   वज्रं करे बिभ्रती सा महाकाली मुदेऽस्तु नः ।।
   मेघश्यामवर्ण : ।। [1] - वही, पृष्ठ 57 से उद्धृत

3. मिश्र, इन्दुमती, प्रतिमा विज्ञान पृष्ठ - 180

4. वही, पृष्ठ 180 से उद्धृत

शिव भी महाकाल है अत: उनकी शक्ति महाकाली रूप में भी प्रसिद्ध हुई[1] इसमें भी शिव और शक्ति की एकता सिद्ध होती है। काली, कराली, चामुण्डा के अतिरिक्त भवानी, रूद्राणी, शिवानी, शिवदूती नाम भी इस एकरूपता के परिचायक है। ऋग्वेद का "अहं रूद्राय धनुरातनोमि" वाक्यांश भी [2] शिव के साथ शक्ति का सम्बन्ध द्योतित करता है। महाकाली के रूप में शक्ति द्वारा असुरों का संहार करने की कल्पना उनके प्रभाव विस्तार का एक पौराणिक आख्यान है।

महाभारत में विजय प्राप्ति के निमित्त अर्जुन द्वारा दुर्गा की जिन नामों से आराधना की गयी थी उनमें चण्डी, काली, महाकाली, कराली नाम भी प्रमुख थे । [3] महाभारत में काली को मदिरा, मांस, पशु मे रूचि रखने वाली वर्णित किया है ।[4]

काली की उत्पत्ति के सम्बन्ध में वायुपुराण में भी वर्णित है कि उमा के क्रोध से भद्रकाली की उत्पत्ति हुई । [5]

---

(1) महाकाले महाकाल्या....| मार्क0पुराण – 89/36

(2) ऋग्वेद, 10. 125 (वाकसूक्त)

(3) महाभारत अध्याय 30. 24. 4 [भीष्मपर्व]
कुमारि कालि कापालि कपिले कृष्ण पिंगले ।

(4) कालकालि महाकालि सीधुमांस पशुप्रिय ।– वही, 6. 17

(5) भद्रकाली च विज्ञेया देव्या: क्रोधाद्विनिर्गता ।– वायु पु0 30/164
राम, एस0एन0 , पौराणिक धर्म और समाज से उद्धृत ।

इस प्रकार काली शक्ति के उग्र रूपों में एक मानी गई । भण्डारकर महोदय के मत से काली के अन्य नाम कराली, चण्डी, काली, चामुण्डा भी है ।[1] उनके अनुसार इनमें काली व कराली ये दो नाम उसी समय प्रचलन में आ चुके थे जब रूद्र का अग्नि से समीकरण किया गया था। अग्नि की सात जिह्वायें मानी जाती थी जिनमें दो- काली व कराली थी । अत: परवर्ती काल में काली की प्रचण्डता के पीछे सम्भवत: अग्नि से उनका तादात्म्य था। यह भी सम्भावना व्यक्त की जाती है कि बर्बर जातियों द्वारा पूजित होने के कारण भी वे भीमा, प्रचण्डा मानी गई। जिस प्रकार शतरूद्रिय में रूद्र की स्वरूप रचना में आदिम व जंगली जातियों की पूजा का केन्द्र निहित था सम्भवत: शिव से सम्बन्ध के कारण काली का स्वरूप भी रौद्री बन गया ।

चामुण्डा- आख्यान-

काली का एक अन्य नाम चामुण्डा भी है। चण्डमुण्ड नामक असुरों का वध करने के कारण "चामुण्डा" यह भी उनका नाम पड़ा था। मार्क० पुराण में वर्णन है कि कालिका देवी नेचण्डमुण्ड को मार कर उनका सिर धारण करने के कारण काली को चामुण्डा नाम से अभिहित किया था ।[2]

---

[1] भण्डारकर, वैशणविज्म, शैविज्म एंड अदर माइनर रिलिजस सेक्ट्स, पृष्ठ 164,

[2] यस्माच्चंडं च मुडं च गृहीत्वा त्वमुपागता ।
चामुंडेति ततो लोके ख्याता देवी भविष्यसि ।।
-- मार्क 0 पुराण 25/26

चामुण्डा इस प्रकार चण्डमुण्ड का वध करने में प्रमुख थी जो काली का ही स्वरूप थी । वामन पुराण में स्वयं काली को चामुण्डा न कह कर उनके एक स्वरूप को, जो उनकी एक जटा से प्रकट हुआ था, को चण्डमारी कहा गया है, जो चण्डमुन्ड के वध के बाद उनके सिर के आभूषण धारण करने के कारण चामुण्डा कहलाई । [1] उनकी उत्पत्ति के बारे में वामन पुराण में वर्णित आख्यान के अनुसार देवी अम्बिका ने रूरू असुर के कोश से अपनी निर्मल जटाओं को बाँध लिया । उनमें एक जटा नहीं बाँधी गई। उसे उखाड़ कर उन्होंने जमीन पर फेंक दिया जिससे वह भयावनी, तैलाभिषिक्त शिरवाली, आधा भाग कृष्ण तथा आधा भाग सफेद वर्ण वाले शरीर से युक्त चण्डमारी नामक देवी के रूप में प्रकट हो गई । [2] यही चामुण्डा कहलाई ।

प्रारम्भ में चामुण्डा के रूप में काली की गणना सप्तमातृका मण्डल में की जाती थी जो सप्तस्वसार: की वैदिक अवधारणा पर कल्पित थी । प्रारम्भिक कुषाण कालीन मातृकापट्टों पर नारसिंही, वाराही, ऐन्द्री, कौमारी, ब्रह्माणी तथा माहेश्वरी के साथ चामुण्डा को यम की शक्ति के रूप में स्थान मिला । यम की शक्ति के रूप में चामुण्डा की अवधारणा उचित ही थी क्योंकि यम और उनकी शक्ति विनाश, मृत्यु, प्रलय की प्रतीक है,

---

[1] शेखरं चण्डमुण्डाभ्यां यस्माद् धारयसे शुभम् ।
तस्माल्लोके तव ख्याति्चामुण्डेति भविष्यति ।।
-- वामन पु0, 55/85

[2] सा जाता सुतरां रौद्री तैलाभ्यक्त शिरोरूहा ।
कृष्णार्धमर्धशुक्लं च धारयन्ती स्वयं वपु: ।। आदि -
- वही, 55/64-67

चामुण्डा भी काली के रूप में महाकाले- महामारी- स्वरूपा वर्णित की गई है। अतः सप्तमातृकाओं में चामुण्डा के रूप में काली के अस्तित्व को ही स्वीकार किया जा सकता है। लेकिन परवर्ती काल में चामुण्डा के स्थान पर वैष्णवी के रूप में विष्णु की शक्ति को सॉतवी मातृका का पद दिया गया और चामुण्डा काली के रूप में पृथक देवी के रूप में अधिष्ठित हुई। यही कारण है कि मार्कण्डेय पुराण सप्तमातृकाओं में चामुण्डा की गणना नहीं करता केवल विष्णु, वराह, नृसिंह, इन्द्र, कुमार, ब्रहमा और शिव की शक्तियों को उनमें सम्मिलित करता है तथा चामुण्डा के सम्बन्ध मे एक पूरा आख्यान अलग से वर्णित है जिसमें चामुण्डा काली का एक अपर नाम प्रोक्त है । असुरों के विनाश में जिनका प्रमुख योगदान है जो अम्बिका द्वारा ताड़ित असुरों के रक्त बिन्दुओं का पान करके, अपने शस्त्रों से असुरों का वध करने राक्षस वध लिये प्रवृत होती है।(1)

---

(1) मार्क॰ पुराण, 85/57

तथा,

दंष्ट्राकराल वदने शिरोमाला विभूषणे ।

चामुण्डे मुंडमथने नारायणि नमोऽस्तुते।।- वही, 88/20

चामुण्डा, चण्डी, काली के रूप में देवी मूर्तियां बंगाल से मिली है ।

लोकदेवी के रूप में काली की प्रतिष्ठा -

किसी समय में लोक में देवी की काफी मान्यता थी । कालकर्णी के रूप में काली या चण्डिका की परम्परा बराबर चलती रही । सिरि कालकर्णी जातक में श्री व कालकर्णी अर्थात लक्ष्मी और काली के रूप में देवी के सौम्य व उग्र रूप की कल्पना की गई । इस सम्बन्ध में एक कथा आती है ।[1]
कालकर्णी चातुर्महाराजिक देवों में से विरूपाक्ष महाराज की कन्या थी तथा सिरि धृतराष्ट्र महाराज की । वे दोनों अनवतप्त सरोवर में स्नान के लिये गईं । पहले कौन स्नान करे इस बात को लेकर दोनों में विवाद हो गया । कालकर्णी बोली - मैं लोक का पालन करती हूं, विचार करती हूं, इसलिए मैं पहले स्नान करूंगी । सिरि बोली मैं लोगों के ऐश्वर्यदायक सम्यक कार्यों में रहती हूं इसलिये मैं पहले स्नान करूंगी । विवाद का निपटारा न होने पर दोनो चातुर्महाराजिक के पास गईं । वहां उपभोग में न आने वाले आसन व शय्या का सबसे पहले उपभोग करने वाली को सरोवर में पहले स्नान करने का निर्णय लिया गया। फलत: कालकर्णी नीला वस्त्र पहन कर, नीला लेप लगाकर तथा नीलमणि का गहना पहनकर सेठ के गृह पहुंची । सेठ ने उसे देखकर पूछा काले रंग वाली तू कौन है ? अथवा किसकी लड़की है ?

---

1. द्रष्टव्य, अग्रवाल, वासुदेवशरण, प्राचीन भारतीय लोक धर्म पृष्ठ - 111,

कालकर्णी ने उत्तर दिया – मैं विरूपाक्ष महाराज की चण्डिका, काली और अलक्षण कन्या हूं। मेरा नाम कालकर्णी है। मैं आपके पास रहने की आज्ञा चाहती हूं। सेठ ने पूछा – हे कालि! तू कैसे शील और आचरण के पुरुष के पास रहती है तथा कालकर्णी ने अपने शील व आचरण का वर्णन किया। इस पर सेठ ने इसे राजधानी से चले जाने को कहा। तत्पश्चात् सिरि सुगन्धित लेपों से युक्त स्वर्णाभूषण धारण कर आकर अपने शील व आचरण का बखान कर सेठ द्वारा सम्मानित हुई।"

इस प्रकार श्रीलक्ष्मी व कालकर्णी – काली के रूप में लोक परम्परा में योगमाया व काली, दोनों रूप प्रचलित रहे। पृथ्वीराज रासो[1] में लिखा है कि जिस दिन पृथ्वीराज ने अवतार लिया उसी दिन कन्नौज, गजनी तथा पाटन – देश के ऊपर कालकर्णी खिलखिलाकर हंसी कि मैं अब इनका नाश करूंगी। इससे स्पष्ट है कि लोक परम्परा में भी काली के रूप में उग्र देवी की कल्पना प्रचलित थी।

वासुदेव शरण अग्रवाल ने दक्षिण भारत की कोट्टवै देवी की पूजा का सम्बन्ध रुद्ररूपिणी देवी से जोड़ा है [2] जिनकी उपासना निषाद या आदिम जातियों में प्रचलित थी जिसका समन्वय आगे चलकर चामुण्डा, चण्डिका या कात्यायनी से हो गया और आश्विन के दुर्गा की शक्ति पूजा इन्हीं कोट्टवै, काली, चामुण्डा से जुड़ गई जबकि चैत्र में देवी पूजा का सम्बन्ध महिषासुर मर्दिनी दुर्गा से माना जाने लगा।

---

1. वही, पृष्ठ 113
2. वही, पृष्ठ 113

काली के अन्यान्य नामों में मत्स्य पुराण में एक नाम शुष्करेवती भी वर्णित है । मत्स्य पुराण के वर्णनानुसार काली ही इस लोक में शुष्करेवती नाम से प्रसिद्ध है । जिनकी सृष्टि विष्णु से हुई थी [1] जो अन्धक असुर के रुधिर का पान कर शिव की सहायिका बनी थी । पुनश्च यह वर्णन है कि जो पुत्रा - भिलाषी लोग शुष्क रेवती की पूजा करेंगे उनके लिये वह देवी पुत्र प्रदान करने वाली होगी ।[2]

मत्स्य पुराण वर्णित उपरोक्त प्रसंग से यह स्पष्ट है कि शुष्क रेवती या पुत्र-दायिनी के रूप काली की मान्यता लोक परम्परा में व्याप्त थी । काश्यप संहिता के रेवती कल्प में रेवती के अनेक नामों में बहुपुत्रिका और यमिका नाम भी सम्मिलित है[3] इससे भी यम की शक्ति, चामुण्डा नाम से भी विख्यात, काली का सम्बन्ध उपरोक्त रेवती से प्रतीत होता है । रेवती ही जातहारिणी या बौद्धों की देवी हारिती का रूप थी जो आगे चलकर पुत्रों की रक्षिका देवी के रूप में प्रचलित हुई थी । हारीति कुषाणकालीन प्रमुख देवी थी जो बौद्धमान्यता में राजगृह की गृह देवी थी जिसे बौद्धों के साथ ब्राहमणों ने भी अपना लिया और उसे काली, चामुण्डा, यमी, शुष्करेवती आदि में समाहित कर लिया और इसी कारण मत्स्य पुराण काली को शुष्क रेवती और पुत्रप्रदा देवी के रूप में प्रस्तुत करता है ।

---

1. या चास्मिन् कथिता लोके नामतः शुष्करेवती । - मत्स्य पु.,179/64-65
   . . . . ।।

2. शुष्कां सम्पूजयिष्यन्ति ये च पुत्रार्थिनो जनाः
   तेषां पुत्र प्रदा देवी भविष्यति न संशयः ।। - वही, 179/85

3. अग्रवाल, वासुदेव शरण, प्राचीन भारतीय लोक धर्म, पृष्ठ 53

असुरों के वध में काली कायोगदान -

आलोचित पुराण के अनुसार काली का असुरवध में महत्त्वपूर्ण योगदान है जिसने चण्ड व मुण्ड का वध किया [1] जो असुरों के साथ संग्राम में मसलती हुई किसी को भक्षण करती है किसी को मार भगाती है ।[2] किसी को खड्ग से आहत करती, किसी को खट्वांग से ताड़ित करती, किसी को दन्ताग्र से हत करती, असुर सेना का विनाश करती है ।[3] उसी काली ने रक्तबीज के घायल होने पर उसके शरीर से प्रःसृत शोणित को मुख में ग्रहण कर चण्डिका को असुर वध में योगदान दिया ।[4] मत्स्य पुराण में काली की महत्ता अन्धक के शरीर से गिरने वाले रक्त बूंदों से उत्पन्न अन्य असुरों से छुटकारा पाने के लिये किये गये शोणित पान में वर्णित है ।

---

1. ग्रहीत्वा चास्य केशेषु शिरस्तेनासिनाच्छिनत् ।
   - मार्क. पुराण 84/19

   ×   ×   ×

   मुंडं च सुमहावीर्यं दिशो भेजे भयातुरम् ।।
   - वही, 84/22

2. ममर्दाभक्षयच्चान्यानन्यांश्चताडयन्तथा ।।
   - वही, 84/13

3. असिना निहताः केचित्केचित्खट्वांगताडिताः ।
   जग्मुर्विनाशमसुरा दन्ताग्राभिहता रणे ।।
   - वही 84/14

4. वही, 85/57

सप्तमातृकाओं की कल्पना और शाक्त उपाख्यान में उनकी भूमिका

मातृकाओं की उत्पत्ति -

देवी उपाख्यान में असुरों से युद्ध के प्रसंग में मातृकाओं का वर्णन महत्त्वपूर्ण है । ये मातृकायें संख्या में सात हैं[1] जो "सप्तमातृकाओं" के रूप में प्रसिद्ध है । मार्कण्डेय पुराण के देवी माहात्म्य अंश में इन मातृकाओं की उत्पत्ति, उनके स्वरूप तथा असुरों के विनाश में योगदान का वर्णन है । जिसके अनुसार चण्डमुण्ड और उसकी समस्त सेना के विनाश के पश्चात् जब शुम्भ निशुम्भ अपनी महासेना को लेकर निकले तब असुरों का विनाश तथा देवताओं का कल्याण करने के लिये चण्डिका (पार्वती) और काली देवी के पास ब्रह्मा, शिव, कार्तिकेय, विष्णु, इन्द्र, नृसिंह तथा वराह देव के शरीर से निर्गत पृथक - पृथक शक्तियाँ सम्मुख उपस्थित हुई[2]। अनेक स्थलों पर इन्हें मातृगण, मातृका, आदि की संज्ञा दी गई है ।[3]

इस प्रकार ब्रह्माणी, शिवानी (माहेश्वरी), कौमारी, वैष्णवी, ऐन्द्राणी, नारसिंही, और वाराही ये सप्तमातृका वर्ग में सम्मिलित हुई । अन्यत्र मार्क॰ पुराण में इन मातृकाओं को अम्बिका की ही विभूतियाँ वर्णित

---

1. आगे चलकर आठ मातृकायें भी परिगणित हुई ।

2. ब्रह्मेशगुहविष्णूनां तथेन्द्रस्य च शक्तय: ।
शरीरेभ्यो विनिष्क्रम्य तद्रूपैश्चण्डिकां ययु: ।।
- मार्क॰ पुराण, 85/12

3. .....दृष्ट्वा दैत्यान्मातृगणार्दिदतान् ।। वही, 85/3
.....सैमं मातृभि:.............. ।। वही, 85/44
तेषां मातृगणो मत्तो............ ।। वही, 86/61

किया है जो असुर वध के उपरान्त उन्हीं में विलीन हो गई [1]। "एकैवाहं द्वितीया का ममापरा" के सन्दर्भ में इस प्रकार का वर्णन शक्ति की सर्वोच्चता के अनुकूल ही था । स्पष्ट है कि प्रस्तुत पुराण में सप्तमातृकाओं की उत्पत्ति तद्सम्बन्धी देवों से ही स्वीकृत है लेकिन उन्हें एक ही परमा शक्ति की विभूतियां मानकर अद्वैतवाद का ही समर्थन किया गया है ।

मातृकाओं की उत्पत्ति सम्बन्धी प्रसंग का वर्णन मार्क॰ पुराण के साथ साथ अन्य पुराणों में भी उपलब्ध होता है । वामन पुराण में आलोचित पुराण की परम्परा से थोड़ा भिन्न वर्णन है उसके अनुसार इन मातृकाओं की उत्पत्ति अम्बिका के ही विभिन्न अंगों से हुई है जिसमें ब्रहमाणी की उत्पत्ति अम्बिका के मुख से, माहेश्वरी की नेत्रों से, कौमारी की कण्ठ से, वैष्णवी की बाहुओं से, वाराही की देवी के पृष्ठ भाग से, माहेन्द्री की स्तनमण्डल से, तथा नारसिंही की उत्पत्ति हृदय से वर्णित है ।[2]

---

1. पश्यैता दुष्ट मय्येव विशंत्यो मद्विभूतय: ।।
   तत: समस्तास्तास्ता देव्यो ब्रहमाणीप्रमुखालयम् ।।
   तस्या देव्यास्तनौ जग्मुरेकैवासीत्तदांबिका ।।
   – मार्क॰ पुराण, 87/3–6

2. ...ततो देव्या ब्रहमाणी मुखतो ऽभवत् ।
   ....।।3
   ...रौद्र T जाता कुण्डलिनी क्षणात् । 4 ।।
   कण्ठादथ च कौमारी.............।। ।5 ।।
   बाहुभ्यां.....जाता वैष्णवी रूपशालिनी ।
   ...वाराही प्रष्ठतो जाता.........।। 7 ।।
   ... जाता माहेन्द्री स्तनमण्डलात् ।। 8 ।।
   ... हृदयाज्जाता नारसिंही सुदारूणा ।। 9 ।।
   – वामन पु0, 56 / 3–9

यहाँ पर यह प्रसंग विवेचनीय है कि वामन पुराण में मातृकाओं के स्वरूप, वाहन, शस्त्र आदि उनके पुंनामधारी देवों के सदृश ही वर्णित किये गये है लेकिन इनकी उत्पत्ति चण्डिका देवी के अवयवों से मानी गई है और इन मातृकाओं को परमा शक्ति की ही विभिन्न विभूतियाँ सिद्ध करने की चेष्टा की गई है । जबकि मार्क. पुराण में इन मातृकाओं का सम्बन्ध सम्बन्धित देवों से मानते हुये भी उन्हें परमा शक्ति के विभूतियों के रूप में प्रस्तुत करके शक्ति सर्वोच्चता की स्थापना का प्रयास किया गया है । इस अन्तर के पीछे एक बड़ा सामाजिक - धार्मिक कारण था । मार्कण्डेय और अन्य पुराणों, जिनमें सप्तमातृकाओं की उत्पत्ति सम्बन्धित देवताओं की शक्ति के रूप में वर्णित है की रचना जिस समय हुई थी उस समय समाज में तीन बड़े सम्प्रदाय - ब्राह्म, शैव व वैष्णव में सर्वोच्चता स्थापित करने के लिए परस्पर बढ़ती प्रतिस्पर्धा तथा प्रतिद्वन्द्विता से समाज में सामा. धार्मिक क्षेत्र में व्याप्त भावनायें व विचार हानिकारक सिद्ध हो रहे थे । अतः इस प्रति-द्वन्द्विता को समाप्त करने तथा "सर्वोच्चता" की गरिमा की स्थापना के लिये तीनों सम्प्रदायों - ब्राह्म, शैव, वैष्णव (विष्णु, वाराह, नरसिंह, ब्रह्मा, माहेश्वर, कुमार तथा इन्द्र) के एकीकरण पर बल देकर उनकी सम्मिलित शक्ति को सर्वोच्चता प्रदान की गई और इसी लिये इन देवों की शक्तिभूता मातृकाओं को परमाशक्ति देवी की ही विभूतियाँ माना गया । वास्तव में पुराणों का इस प्रकार का वर्णन प्रस्तुत करना तत्कालीन सामाजिक - धार्मिक परिस्थितियों में धार्मिक समन्वय के द्वारा शान्ति व सुव्यवस्था स्थापित करने का एक प्रयास था । पुराणों के इस प्रकार के आख्यान पौराणिक समन्वय-वाद का उत्कृष्ट उदाहरण है । पुराण में वर्णित समस्त देवों के तेज के सम्मिलित

रूप से कात्यायनी देवी का प्रादुर्भाव और उन्हें परमा देवी तथा विश्व की आधार भूता जननी स्वरूपा के रूप में वर्णन भी इसी समन्वयात्मक स्वरूप को प्रकट करता है ।

वराह पुराण तथा मत्स्य पुराण भी सप्तमातृकाओं की उत्पत्ति का वर्णन करते हैं लेकिन इनके वर्णनों व आलोचित पुराण के वर्णनों में किंचित भिन्नता दृष्टिगोचर होती है ।

मत्स्य पुराण में मातृकाओं की उत्पत्ति का प्रसंग अन्धक - शिव - संग्राम में वर्णित है जिसके अनुसार जब शिव द्वारा आहत अन्धकासुर से सैकड़ों असुर उत्पन्न होने लगे तब अन्धक के रुधिर का पान करने के लिये शिव जी ने मातृकाओं की सृष्टि की ।[1] जिनमें माहेश्वरी, ब्राहमी, कौमारी, शाक्री, चामुण्डा, वाराही और नारसिंही के साथ - साथ लगभग 198 मातृकाओं के नाम मिलते हैं ।[2] इसी प्रसंग में मत्स्य पुराण में नृसिंह विग्रह-धारी विष्णु द्वारा सृजित 36 मातृकाओं की उत्पत्ति का भी वर्णन है ।[3]

इस प्रकार मत्स्य पुराण प्रथमत: मातृकाओं की उत्पत्ति शिव व विष्णु से वर्णित करता है जिससे शैव व वैष्णव धर्म पर शाक्त प्रभाव दृष्टिगोचर

---

1. पानार्थमन्धकास्तस्य सोऽसृजन्मातरस्तदा ।।
   . . . . ।। 9 ।।
   - मत्स्य पु०, 179/8-9
2. वही, 179/9-32
3. वही, 179/63-74

होता है, द्वितीयत: इसमें मातृकाओं की संख्या सात से बढ़कर असंख्य हो गयी है जब कि मार्कण्डेय पुराण में मातृका समूह में सात संख्या को ही प्रस्तुत किया गया है और उन्हें भिन्न - 2 देवों की शक्ति के रूप में व्याख्यायित किया गया है। तृतीयत: मत्स्य पुराण में मातृकाओं की सृष्टि का उद्देश्य अन्धकासुर के शरीर से गिरते हुये रक्त का पान करना था जिससे अन्य असुर उत्पन्न न हो[1] जब कि मार्क. पुराण में मातृकाओं की उत्पत्ति का प्रमुख उद्देश्य असुर वध में अम्बिका को सहायता देना था रक्तबीज के शरीर से गिरे रुधिर का पान करने का कार्य काली नामक अन्य देवी द्वारा सम्पन्न करने का वर्णन है। मार्क. पुराण के अनुसार ब्रहमाणी अपने मंत्रपूत जल से, माहेश्वरी त्रिशूल से, वाराही ने मुख प्रहार से, वैष्णवी ने चक्र से, ऐन्द्री ने वज्र से असुरों को मार भगाया था।[2]

वराह पुराण में मातृकाओं की संख्या 8 है जिनमें माहेश्वरी, कौमारी, ब्रहमाणी, वैष्णवी, वाराही, इन्द्राणी, चामुण्डा और योगेश्वरी की गणना है।[3]

---

1. मत्स्य पु0, 179/9

2. कौमारी शक्ति निर्भिन्ना: केचिन्नेशुर्महासुरा:
   ब्रहमाण्मी मन्त्रपूतेन तोयेनान्ये निराकृता: ।
   माहेश्वरी त्रिशूलेन भिन्ना: पेतुस्तथापरे ।
   वाराही तुंडघातेन केचिच्चूर्णीकृता भुवि ।।
   खण्डं खंडं च चक्रेण वैष्णव्या दानवा: कृता: ।
   वज्रेण चैंद्रीं हस्ताग्रविमुक्तेन तथा परे ।।
   - मार्क. पुराण, 86/36-30

3. श्रीवास्तव, बलराम, आइकोनोग्राफी ऑफ शक्ति, पृष्ठ 75 से उद्धृत

वराह पुराण में वर्णित आख्यान के अनुसार अन्धकासुर के साथ संघर्ष में शिव ने अपने मुख से योगेश्वरी को प्रकट कर उसे अन्धक के रूधिर को पृथ्वी पर गिरने से रोकने का आदेश दिया, उन्होंनें योगेश्वरी के अतिरिक्त "माहेश्वरी शक्ति को भी प्रकट किया फलत: ब्रहमा, इन्द्र, वराह, विष्णु, कुमार और यम की शक्तियां भी अन्धकासुर के विरुद्ध शिव की सहायता के लिये सम्मुख आई ।

इस प्रकार प्राय: पुराणों में सप्तमातृकाओं की उत्पत्ति का प्रसंग किंचित परिवर्तन के साथ उपलब्ध होता है ।

<u>सप्तमातृका की वैदिक कल्पना -</u>

जहां तक मातृकाओं की संख्या और प्राचीनता का प्रश्न है, ऋग्वेद में भी सप्तमातर: के रूप में इनका उल्लेख प्राप्य है जिन्हें 'सप्तस्वसार:' अर्थात् सात बहने भी कहा जाता था । वासुदेव शरण अग्रवाल के अनुसार ये सात अछरा माई के रूप में लोक कथाओं में आज भी पूजित होती है । [1]

वैदिक काल में अदिति देवों की माता के रूप में प्रतिष्ठित थी वही देवी महीमाता, या सर्वोच्च देवी थी। ब्राहमण व उपनिषद काल में यही उमा बन गई । परवर्ती काल में दुर्गा, पार्वती, अम्बिका आदि रूपों

---

1. भारतीय कला, पृष्ठ 345

में इन्हें मान्यता मिली । अग्रवाल महोदय के अनुसार सम्भवत: सात आदित्यों की माता होने केकारण उनके सात रूप ही सप्तमातर: के रूप में प्रसिद्ध हुये ।[1]

सप्तमातृकाओं की पौराणिक धारणा -

पौराणिक युग में सप्तमातर: की कल्पना ब्रहमाणी, माहेश्वरी, कौमारी, वैष्णवी, नारसिंही, वाराही, ऐन्द्री रूप में की गयी और सप्तमातृकाओं को एक नये साँचे में प्रस्तुत किया गया । वैदिक कालीन सप्त स्व-सार: अब सात देवों की शक्ति के रूप में कल्पित हुई । ये सात मातृकायें जिन देवों की शक्ति स्वरूपा कल्पित की गई थी वे इस प्रकार हैं :

1.	ब्रहमा की शक्ति	ब्रहमाणी
2.	शिव की शक्ति	माहेश्वरी
3.	इन्द्र की शक्ति	ऐन्द्री या इन्द्राणी
4.	विष्णु की शक्ति	वैष्णवी
5.	वाराह की शक्ति	वाराही
6.	नरसिंह की शक्ति	नारसिंही
7.	कार्तिकेय की शक्ति	कौमारी

पुराणकार का यही

---

1. भारतीय कला, पृष्ठ 345

नया दृष्टिकोण था । यही पौराणिक युगीन सप्तमातृ-का की नई व्याख्या थी इनमें इन मातृगणों का वाहन, शस्त्र, आभूषण और स्वरूप भी वही कल्पित किया गया जो सम्बन्धित देवों का स्वरूप, शस्त्र व वाहन था ।(1)

पौराणिक युग में ही सप्तमातृकाओं की संख्या बढ़ती गयी कहीं-कहीं आठ और कहीं - कहीं इससे भी ज्यादा कल्पित की गयी ।(2) अष्ट - मातृकाओं में चामुण्डा को स्थान मिला जो यम की शक्ति मानी गयी । लेकिन मार्क. पुराण सप्तमातृकाओं का ही वर्णन करता है, चामुण्डा पर एक अलग आख्यान वर्णित है ।

<u>मातृका पूजा के अभिलेखीय तथा पुरातात्विक साक्ष्य -</u>

मातृका - उपासना से सम्बन्धित प्राचीन प्रमाण कुषाण युग से मिलते हैं । कुषाण युगीन मातृका पट्ट पर मातृकाओं के आयुध व वाहन प्रदर्शित नहीं किये गये हैं ।(3) गुप्त युग में भी मातृगणों में सप्तमातृका" की परम्परा प्रचलित थी जिसकी पुष्टि अभिलेखीय साक्ष्यों से होती है । कुमार गुप्त प्रथम के गांधार अभिलेख में मातृकाओं का उल्लेख है लेकिन उनके नाम नहीं वर्णित है ।(4) स्कन्दगुप्त के बिहार स्तम्भ लेख में स्कन्द सहित माताओं का उल्लेख मिलता है ।(5) इसी प्रकार विश्ववर्मन के गांधार शिला लेख में मातृका मंदिर

---

1. यस्य देवस्य यद्रूपं यथा भूषणवाहनम् ।
   तद्-वदेव हि तच्छक्तिरसुरान्योद्धुमाययौ ।। - मार्क. पुराण, 85/13
2. वराह पुराण तथा मत्स्य पुराण
3. द्रष्टव्य चित्र नं० (6)
4. श्रीवास्तव, बलराम, आइकोनोग्राफी ऑव शक्ति, पृष्ठ 76
5. स्कन्द प्रधानैः भुवि मातृभिश्च.....
   उपाध्याय, वासुदेव, गुप्त अभिलेख, पृष्ठ 165

का उल्लेख है जो योगिनियों का मन्दिर था ।[1] इसी प्रकारछठीं शताब्दी ईसवी के देवगढ़ शिलालेख में मातृकाओं के प्रारम्भिक मन्दिर का उल्लेख है । 423 ई. के औलिकर वंशी अभिलेख में मातृका मन्दिर के निर्माण का प्रसंग वर्णित है ।[2] कदम्ब अभिलेख भी स्कन्द सहित मातृकाओं का उल्लेख करते हैं ।[3] बादामी के प्रारम्भिक चालुक्य राजाओं के अभि. में भी सप्तलोक-मातृ के रूप में सप्तमातृकाओं का उल्लेख है जिससे स्पष्ट होता है कि चालुक्य राजा जो वैष्णव थे, लेकिन सप्तमातृकाओं की पूजा भी करते थे । इन अभिलेखीय साक्ष्यों से स्पष्ट होता है कि गुप्त व गुप्तोत्तर युग में शाक्तों में ही नहीं वरन् सभी धर्म के अनुगामियों में मातृका समूह को विशेष महत्व दिया जा रहा था । मातृका मण्डल का प्रभाव जैन, वैष्णव, शैव सभी धर्मों पर था । जैन धर्म पर मातृका पूजन के प्रभाव का प्रमाण भुवनेश्वर की उदयगिरि गुफा के उत्तर में सातधरा गुफा में उत्कीर्ण अलंकरणों में दीवार पर दो पंक्तियों में निचली पंक्ति में सात नारी प्रतिरूप व गणेश की आकृतियां अंकित है ।[4] यह सप्तमातृकाओं का जैन संस्करण माना जा सकता है ।

---

1. भट्टाचार्य, एन.एन., हिस्ट्री ऑव शाक्त रिलिजन, से उद्धृत
2. वही, पृष्ठ 80
3. वही, पृष्ठ 80
4. वही, पृष्ठ 66

जिनकी पहचान भट्टाचार्य महोदय ने [1] ब्रह्मणी, वैष्णवी, इन्द्राणी, माहेश्वरी, कौमारी, पद्मावती व अम्बिका से किया है । उनके अनुसार इनमें पहली को छोड़कर शेष सभी ललितासन मुद्रा में आसीन है । चौथी, पाँचवी और सातवीं नारी प्रतिरूपों की भुजाओं में एक बालक प्रदर्शित है । इसी प्रकार वैष्णव उपासकों द्वारा मातृका पूजन के साक्ष्य वैष्णव धर्म पर मातृकापूजन के प्रभाव को स्पष्ट करते हैं । दक्षिण भारत में कांची के कैलाशनाथ मंदिर में सप्तमातृकाओं की मूर्तियां [2] उस क्षेत्र में बढ़ते शाक्त प्रभाव व मातृका पूजन के महत्त्व को प्रदर्शित करती है । उड़ीसा के मन्दिरों में भी शाक्त प्रतिमाओं में सप्तमातृकाओं का अंकन विशेषत: प्राप्त होता है । यहाँ के प्रारम्भिक काल के मन्दिरों - परशु रामेश्वर व वेतालदेउल - के जगमोहन की दीवारों पर सप्तमातृकाओं का अंकन है ।[3] वेतालदेउल में तो सप्तमातृकायें कमल पर योगासन मुद्रा में बैठी तथा विभिन्न शस्त्रों से युक्त प्रदर्शित की गयी है ।[4] इसी प्रकार मुक्तेश्वर मन्दिर के जगमोहन की छत पर अष्टदलकमल पर सप्त मातृकाओं का अंकन है । [5] केवल दक्षिण भारत व उड़ीसा से अपितु जयपुर से भी दो मातृका पट्ट मिले है जिससे यह सिद्ध होता है कि गुप्त व उसके बाद तक लगभग 9वीं शती तक शाक्तों के मातृका

---

1. वही, पृष्ठ 66
2. वही, पृष्ठ 66
3. कृष्णदेव, उत्तर भारत के मन्दिर, पृष्ठ 53
4. वही, पृष्ठ 54
5. वही, पृष्ठ 54

समूह को उत्तर - दक्षिण समस्त भारत में विशेष महत्व दिया जा रहा था ।

मार्क. पुराण सप्तमातृकाओं के समूह में चामुण्डा को परिगणित नहीं करता वरन् चामुण्डा के सम्बन्ध में एक अलग से आख्यात प्रस्तुत करता है । जिसमें चामुण्डा काली का अपर नाम आख्यात है जो असुर रक्तबीज के शरीर से भूमि पर गिरने वाले रूधिर को बीच में ही पान करके अन्य असुरों के उत्पन्न होने में बाधा उत्पन्न करती है और इस प्रकार असुरवध में योगदान देती है ।[1] मार्क. पुराण की सप्तमातृकायें - वैष्णवी, नारसिंही, ऐन्द्री, कौमारी, वाराही, माहेश्वरी, तथा ब्रहमाणी है । यहाँ पर यह तथ्य विशेष विचारणीय है कि वाराह तथा मत्स्य पुराण चामुण्डा को मातृका मण्डल में परिगणित करता है ।[2] कुषाण कालीन जो मातृका पट्ट प्राप्त होते हैं उनमें भी वैष्णवी के स्थान पर चामुण्डा की गणना है लेकिन ऐसा प्रतीत होता है कि गुप्त युग में जब मातृकाओं के स्वरूप, शस्त्र, वाहन आदि की कल्पना की जा रही थी तब प्रस्तुत पुराणकारनेयम की शक्ति चामुण्डा के स्थान पर विष्णु की शक्ति वैष्णवी को सप्तमातृकाओं में सम्मिलित कर लिया और विनाशककाल के प्रतीक यम की शक्ति चामुण्डा को रौद्री, भयंकरा, काली, में समाहित कर लिया। इस प्रकार चामुण्डा काली काही एक स्वरूप मानी गयी।यही कारण है कि मार्क. पुराण चामुण्डा के सम्बन्ध में एक अलग आख्यान प्रस्तुत कर उसे रक्तबीज

---

1. मार्क. पुराण, चामुण्डा आख्यान
2. वाराह पु0. मत्स्य पु.

से रुधिर पान में रत वर्णित करता है जब कि मातृकाओं के असुरवध में शस्त्रयुद्ध से प्रहार द्वारा योगदान का वर्णन प्रस्तुत करता है । कहीं - कहीं चामुण्डा को भी सम्मिलित कर सप्तमातृकाओं की संख्या - 8 वर्णित है ।[1]

मातृकाओं के स्वरूप, शस्त्र, वाहनादि -

मार्क॰ पुराण न केवल सप्तमातृकाओं का नामोल्लेख ही करता है अपितु उनके वाहन, शस्त्र व स्वरूप को भी प्रस्तुत करता है । पुराणकार की यह उक्ति, कि "जिस देवता का जैसा रूप, भूषण व वाहन था उस देवता की वह शक्ति भी वैसे ही रूप, भूषण, व वाहन से मण्डित होकर युद्ध के लिये आई",[2] मातृकाओं के स्वरूप, वाहन, आदि को स्पष्ट उजागर कर देता है । पुराणकार स्पष्ट रूप से ब्रह्माणी, माहेश्वरी, ऐन्द्री, कौमारी, वैष्णवी, नारसिंही, वाराही का स्वरूप क्रमशः ब्रह्मा, शिव, इन्द्र, कार्तिकेय, विष्णु, नरसिंह और वाराह के स्वरूप के सदृश प्रस्तुत करता है । मातृकाओं के उपरोक्त स्वरूप वाहन व शस्त्र, भूषणादि की कल्पना गुप्त युगीन प्रतीत होती है क्योंकि कुषाण कालीन जो मातृकापट्ट उपलब्ध है उनमें मातृकाओं का अंकन समान है, उनमें उनके वाहन, शस्त्र आदि की कल्पना नहीं दिग्दर्शित है ।

---

1. वराह पु॰, 17/33-37

2. "यस्य देवस्य यद्रूपं यथा भूषण वाहनम् ।
   तद्वदेव हि तच्छक्तिरसुरान्योद्धुमाययौ ।।
   - मार्क॰ पुराण 85/13

मार्क. पुराण में मातृकाओं के स्वरूप, वाहन व शस्त्र का जो विवरण उपलब्ध होता है उसी के अनुकूल किंचित भेद के साथ विवरण अन्य पुराणों व शिल्प-शास्त्रों में भी उपलब्ध होते हैं जिसके दिग्दर्शन स्वरूप कुछ पुरातात्त्विक प्रमाण भी प्राप्य है इनके आधार पर मातृकाओं के पृथक-पृथक वाहन, शस्त्र आदि का विवरण इस प्रकार प्रस्तुत कर सकते हैं ।

ब्रहमाणी -

मार्क. पुराण में ब्रहमाणी को हंसयुक्त विमान पर आसीन तथा हाथ में अक्षमाला व कमण्डलु धारण करने वाली कहा गया है ।[1] ब्रहमाणी ब्रहमा की शक्ति है अत: उनका स्वरूप ब्रहमा के ही समान है । अन्य स्थल पर ब्रहमाणी को हंसयुक्त विमानस्था तथा कुशाभिमंत्रित जल छिड़कने वाली नारायणि रूप में नमस्कार किया गया है ।[2] अन्यत्र ब्रहमाणी द्वारा कमण्डलु के जल का स्पर्श करने से असुरों के नष्ट होने का वर्णन है ।[3] लगभग इसी प्रकार का वर्णन वामन पुराण में भी उपलब्ध हैंइसमें उन्हें पितामह के वाहनहंस पर आरूढ़ कहा गया है ।[4]लेकिन अन्तर इतना है कि वामन पुराण में ब्रहमाणी को उत्पत्ति चण्डिका देवी के मुख से वर्णित है । मत्स्य पुराण

---

1. हंसयुक्त विमानस्था साक्षसूत्रकमंडलु: ।।
   आयाता ब्रहमण:शक्ति: ब्रहमाणी सभिधीयते ।। - मार्कपुराण, 85/14
2. हंसयुक्तविमानस्थे ब्रहमाणी रूप धारिणि ।।
   कौशांभ: क्षरिके देवि नारायणि नमोऽस्तुते ।। - वही, 88/12
3. कमंडलु जलाक्षेपहतवीर्यान्हतौजस: ।। - वही, 85/32
4. ..पैतामहहंस वाहने..... ।। - वामन पुराण, 56/60

ब्राह्मी शक्ति को शिव द्वारा सृजित प्रस्तुत करता है ।[1] रूपमण्डन में भी ब्रह्माणी को हंसारूढ़ बताया गया हैं इसमें ब्रह्माणी चतुर्भुजा वर्णित है जो हाथ में अक्षसूत्र, कमण्डलु, स्तुव व पुस्तक धारण करती है ।[2] विष्णु धर्मोत्तर के अनुसार वे पिंगला, मृग का उत्तरीय धारण करने वाली, तथा सभी आभूषणों से सुसज्जित है, चतुर्भुज व षडभुजा है, हंस पर विराजमान ब्रह्माणी पुस्तक, कुण्डी, स्तुव, व सूत्र धारण करती है ।[3] पुरी से प्राप्त ब्रह्माणी की प्रतिमा में सम्मुख त्रिमुख वाला, चतुर्भुजा व हंस वाहनस्था प्रदर्शित है ।[4] वासुदेव उपाध्याय ने एलीफैन्टा व एलोरा की गुफाओं में तीन सिर व चर्तुभुजा हंसारूढ़ ब्रह्माणी की प्रतिमा का उल्लेख किया है ।[5]

---

1. मत्स्य पुराण. 179/9

2. ब्रह्माणी हंसमारूढ़ा साक्षसूत्र कमण्डलु: ।।
   स्तुवंतु पुस्तकं धत्ते ऊर्ध्वहस्तद्वये शुभा: ।।
   – रूपमण्डन 55/2।

3. तत्र ब्रह्मी चतुर्वक्त्रा षडभुजा हंससंस्थिता
   . . . .

   "वरं सूत्रं स्रुवं धत्ते दक्ष बाहुत्रये क्रमात्
   बामे तु पुस्तकं कुण्डी बिभ्रती चाभयप्रदा ।।
   – विष्णु धर्मोत्तर, 119 / 28-32

   "पिंगलाभूषणोपेता मृगचर्मोत्तारीयका ।।
   – वही, 119/33

4. देखे चित्र नं0 7

5. उपाध्याय, वासुदेव, प्राचीन भारतीय मूर्तिविज्ञान, पृष्ठ 144

माहेश्वरी -

सप्तमातृकाओं में दूसरी मातृका माहेश्वरी है जो शिव की शक्ति है अतएव शिव के समान ही इनका स्वरूप और वाहन है । मार्क. पुराण के अनुसार माहेश्वरी वृष पर आरूढ़ होकर हाथ में त्रिशूल और वर को धारण किए हुए, चन्द्ररेखा से शोभायमान, बड़े - 2 सर्पों के कंकण पहने प्रकट हुई ।[1] अन्यत्र इन्हें त्रिशूल, चन्द्र और नागभूषण धारण करने वाली वृषभ वाहिनी माहेश्वरी स्वरूप से नारायणि का ही अवतार माना गया है [2] जो त्रिशूल से दैत्यों का संहार करती है ।[3]

वामन पुराण में भी माहेश्वरी को त्रिनेत्र, वृषारूढ़ा, त्रिशूलिनी, तथा सर्पों के कंकन धारण करने वाली बताया गया है ।[4]

रूपमण्डन, विष्णुधर्मोत्तर आदि सभी ग्रन्थ माहेश्वरी को वृषारूढ़ ही वर्णित करते हैं लेकिन भुजाओं और शस्त्रों के सम्बन्ध में सभी ग्रन्थों में समान विवरण नहीं मिलते । विष्णु धर्मोत्तर के अनुसार माहेश्वरी त्रिलोचना, पञ्चवक्त्रा, तथा षड्भुजा है जो दाहिनी तीन भुजाओं में सूत्र

---

1. माहेश्वरी वृषारूढ़ा त्रिशूलवरधारिणी ।।
   महाहिवलया प्राप्ता चन्द्र लेखाविभूषणा ।।
   - मार्क . पुराण 85/75
2. त्रिशूलचन्द्राहिधरे महावृषभवाहिनी ।।
   माहेश्वरी स्वरूपेण नारायणि नमोऽस्तुते ।।
   - वही, 88/13
3. माहेश्वरी त्रिशूलेन...दैत्यान्जघान ।।
   - वही, 85/33
4. माहेश्वरी त्रिनेत्रा च वृषारूढ़ा त्रिशूलिनी, ।
   महाहिवलया रौद्र ा जाता कुण्डलिनी क्षणात् ।।

डमरू, व तीसरी वरद मुद्रा में है । बाये भुजा में शूल, घण्टा व अभय मुद्रा में रहता है ।[1] रूपमण्डन में माहेश्वरी को चारो भुजाओं का कपाल, शूल खड्वागं तथा वरद मुद्रा वाला वर्णित किया गया है ।[2] पुरी से प्राप्त माहेश्वरी प्रतिमा में उन्हें वृषारूढ़, महाहिवलया, तथा चतुर्भुजा प्रदर्शित किया गया है [3] जिसमें दो हस्त टूट गये हैं ।

वैष्णवी -

विष्णु के शरीर के प्रादुर्भूत शक्ति वैष्णवी कहलाई । मार्क. पुराण वैष्णवी को गरूडोपरि संस्थिता, शंख, चक्र, गदा, शांर्ङ्ग और खड्ग धारण किये वर्णित करता है ।[4] जो अपने चक्र से दैत्यों का हनन करती है [5]

---

1. माहेश्वरी वृषारूढ़ा पञ्चवक्त्रा त्रिलोचना
   शुक्लेन्दुभज्जटाजूट शुक्लासर्वसुखप्रदा ।।
   षड्भुजावरदा दक्षे सूत्रं डमरूकं तथा ।।
   शूलघण्टाभयं नामे सैव धत्ते महाभुजा ।।
   - विष्णु धर्मोत्तर, 119/56-57

2. माहेश्वरी प्रकर्त्तव्या वृषभासनसंस्थिता ।
   कपाल शूल खट्वागं वर हस्ता चतुर्भुजा ।।
   - रूपमण्डन, 35/24

3. चित्र नं० - 8

4. तथैव वैष्णवी शक्तिर्गरूडोपरि संस्थिता ।
   शंख चक्र गदा शार्ङ्गखड्ग हस्ताभ्युपाययौ ।।
   - मार्क. पुराण, 85/17

5. .....चक्रेण वैष्णवी ।। वही, 85/33

चक्र, शंख, गदा और शाड़्.र्ग धारण करने वाली वैष्णवी रूप नारायणि को देवता द्वारा नमस्कार करने का वर्णन भी है ।[1] उपरोक्त चार आयुधों को धारण करके प्रगट होने से वैष्णवी के चर्तुभुजा स्वरूप की अभिव्यक्ति होती है ।

वामन पुराण में वैष्णवी के चण्डिका देवी के बाहुओं से प्रकट होने का उल्लेख है जो गरूड़ारूढ़, शंख, चक्र, गदा, तलवार, शार्ङग तथा बाण धारण करती है ।[2] उपरोक्त 6 आयुधों को धारण करने के कारण वामन पुराण में वैष्णवी को षड्भुजा रूप में प्रस्तुत किया गया है ।

विष्णु धर्मोत्तर में वैष्णवी श्यामवर्ण की तथा छः भुजाओं वाली प्रदर्शित है । जो दाहिने हाथ में क्रमशः गदा, पद्म तथा एक अभय मुद्रा वाली है । बांये तरफ शखं, चक्र और वरद मुद्रा है ।[3]

---

1. शंखचक्रगदा शार्ङ्गगृहीत परमायुधे ।
   प्रसीद वैष्णवी रूपे नारायणि नमोऽस्तुते ।।
   – मार्क. पुराण, 88/15

2. बाहुभ्यां गरूडारूढ़ा शंखचक्र गदासिनी ।
   शांर्गबाणधरा जाता वैष्णवी रूपशालिनी ।।
   – वामन पु०, 56/6

3. वैष्णवी तार्क्ष्यगा श्यामा षडभुजा वनमालिनी ।
   वरदा गदिनी दक्षे बिभ्रती चाम्बुजस्रजम् ।।
   शंख चक्राभयान्वामे साचेयं विलसद् भुजा ।
   – विष्णु धर्मोत्तर, 119/55

प्राय: सभी ग्रन्थ वैष्णवी को एक मत से गरूडोपरि संस्थिता व्यक्त करते हैं लेकिन उनके शस्त्र, आयुध आदि के वर्णन में समानता नहीं है ।

खजुराहो से छ: भुजा वाली वैष्णवी की प्रतिमा मिली है ।[1] लेकिन हाथों के खण्डित होने से उनके आयुधों का ज्ञान नहीं होता । पुरी से प्राप्त वैष्णवी को प्रतिमा में उन्हें चतुर्भुजा, गरूडोपरि संस्थिता एक हाथ वरद मुद्रा में,अन्य हाथों में शंख, चक्र धारण किये हुये प्रदर्शित किया गया है ।[2] चक्र धारण किये,अभय व वरद मुद्रा में चतुर्भुजा स्वरूप में वैष्णवी का वर्णन अंशुभेदागम में भी मिलता है ।[3]

रूपमण्डन में भी वैष्णवी चर्तुभुजा तथा विष्णु के सदृश गरूडोपरि संस्थिता व्यक्त हैं ।[4]

कौमारी -

सप्तमातृकाओं में चौथा स्थान कौमारी का है जो स्वामी कार्तिकेय की शक्ति है (जिन्हें स्कन्द या कुमार नाम से भी जाना जाता है) मार्क. पुराण में यह वर्णन मिलता है कि गुहरूपिणी कौमारी शक्ति हाथ में शक्ति लिये तथा सुन्दर मोर पर चढ़कर युद्ध के लिये आई ।[5]

---

1. उपध्याय वासुदेव, प्राचीन भारतीय मूर्ति विज्ञान, पृष्ठ 144
2. दृष्टव्य चित्र नं० 9
3. श्रीवास्तव, बलराम, आइकोनोग्राफी ऑव शक्ति, पृष्ठ 93
4. वही, पृष्ठ 94
5. कौमारी शक्ति हस्ता च मयूर वर वाहना ।
   योद्धुमभ्याययौ दैत्यानम्बिका गुहरूपिणी ।।
   - मार्क. पुराण 85/16

जिसने अपनी शक्ति से अत्यन्त क्रोधायमान होते हुये अनेक दैत्यों का हनन किया।[1] मार्क॰ पुराण अन्यत्र मयूर व कुक्कुट से युक्त होकर महाशक्ति धारण करने वाली कौमारी को नारायणि का एक रूप वर्णित किया गया है ।[2]

वामन पुराण के अनुसार कौमारी शक्ति अम्बिका के कण्ठ से उत्पन्न हुई है जो मोरपंख व शक्ति धारण करती है तथा मयूर पर आरूढ़ है ।[3]

अंशुभेदागम में कौमारी चतुर्भुजा तथा त्रिनेत्रा वर्णित है जो मयूर पर आसीन है तथा शक्ति, कुक्कुट हस्ता च वरदाभयपाणिनी, तथा मयूर ध्वजवाही" है ।[4]

रूपमण्डन में कौमारी को रक्तवस्त्र,घंटा, शूल व शक्ति, गदा धारिणी तथा मयूरवाहना कहा गया है ।[5]

---

1. ..दैत्यान्जघान कौमारी तथा शक्त्यातिकोपना ।।
   – मार्क॰ पुराण, 85/33

2. मयूर कुक्कुट वृते महाशक्तिधरेऽनघे ।।
   कौमारी रूप संस्थाने नारायणि नमोऽस्तुते ।।
   – वही, 88 वाँ अध्याय

3. कण्ठादथ च कौमारी बर्हिपत्रा च शक्तिनी ।।
   समुद्भूता च देवर्षे मयूरवरवाहना ।।
   – वामन पु॰, 56/5

4. श्रीवास्तव, बलराम, आइकोनोग्राफी ऑव शक्ति, पृष्ठ 93

5. वही, पृष्ठ 93 से उद्धृत
   कुमाररूपा कौमारी मयूरवर वाहना ।
   रक्तवस्त्रधरा तद्वच्छूल शक्ति गदाधरा ।।

लेकिन विष्णुधर्मोत्तर पुराण में उन्हें रक्तवर्णा, षडवक्त्रा, मयूरस्था, शक्ति धारिणी वर्णित किया गया है ।[1]

पुरी से प्राप्त सप्तमातृका प्रतिमा में कौमारी चतुर्भुजा प्रदर्शित है, एक हाथ खण्डित है, मयूर की आकृति नीचे अंकित है, देवी एक चौकी पर आसीन है ।[2]

वाराही -

वाराही वराह रूप धारी विष्णु की शक्ति है इसलिये उनका स्वरूप भी वराह-रूप-सदृश है ।[3] वाराही देवी अपने मुख के प्रहार से दैत्यों को युद्ध में विध्वस्त करती हैं । किसी को चक्र से और किसी को दष्टांग्र से विध्वस्त करती है ।[4] अन्यत्र असि से वाराही के द्वारा दैत्यों को मारने का उल्लेख है ।[5] शुंभ निशुंभ के मारे जाने के उपरान्त देवतागण शिवारूप नारायिणि को नमस्कार करते हुये उनके द्वारा महावराह रूप

---

1. वही, पृष्ठ 93 से उद्धृत
2. द्रष्टव्य, चित्र नं0 10
3. यज्ञ वाराहमतुलं या विभ्रती हरैः ।।
   शक्ति साप्याययौ तप्तं वाराहीं विभ्रती तनुम् ।।
   - मार्क. पुराण 85/18
4. तुंड विध्वस्ता दंष्टाग्रक्षत वक्षसः ।।
   वाराहमूर्त्या न्यपतंश्चक्रेण च विदारिताः ।।
   - वही, 85/35
5. ...वाराही च तथासिना - वही, 85/48

धारणकर दांतों से जल में डूबी पृथ्वी को पाताल से लाकर महाचक्र धारण करने का वर्णन करते हैं ।[1]

वामन पुराण में वाराही को शेषनाग पर स्थित महोग्रमुशल धारण किये, दाढ़ों से पृथ्वी को खोदने वाली रौद्रा रूप में वर्णित किया गया है ।[2]

विष्णु धर्मोत्तर में वाराही को कृष्णवर्णा, सुकरस्था, महोदरी, तथा दण्ड, खड्ग धारण किये प्रस्तुत किया है ।[3] अंशुभेदागम में वाराही को हाथ में हल, अभयशक्ति सव्य व वरद मुद्रा में वर्णित किया है ।[4] लेकिन रूपमण्डन में वाराही महिष पर स्थित प्रदर्शित है जो गदा चक्र

---

1. ग्रहीतोग्रमहाचक्रे दष्टोद्धृतवंसुधरे ।
   वाराहरूपिणि शिवे नारायणि नमोऽस्तुते ।।
   – वही, 88/16

2. महोग्रमुशला रौद्रा दंष्ट्रोल्लिखित भूतला ।
   वाराही पृष्ठतों जाता शेषनागोपरि स्थिता ।।
   – वामन पु., 56/17

3. कृष्णवर्णा तु वाराहि सुकरस्था महोदरी ।।
   वरदा दण्डिनी खडगं विभ्रती दक्षिणे सदा ।।
   – विष्णु धर्मोत्तर, 122/17

4. श्रीवास्तव, बलराम, आइकोनोग्राफी ऑव शक्ति पृष्ठ 94

चामर आदि धारण करती है ।[1] पुरी से प्राप्त वाराह प्रतिमा में महिषा आसन के नीचे प्रदर्शित है, वाराही महोग्र है ।[2]

वाराह पुराण में इसको चतुर्भुजी प्रतिमा का वर्णन है । खजुराहो से प्राप्त प्रतिमा में वाराही के दो हाथ वरद मुद्रा में तथा एक हाथ अभय मुद्रा में है ।[3] इसी प्रकार वासुदेव उपाध्याय ने बंगाल से प्राप्त वाराही की एकाकीप्रतिमा का उल्लेख किया है जिसके हाथ में कपाल व सुअर के दांत प्रदर्शित है । उपाध्याय महोदय आशुतोष संग्रहालय कलकत्ता में वाराही उस प्रतिमा का भी उल्लेख करते हैं जो हाथ में मछली लिये है ।[4]

ऐन्द्री या इन्द्राणी -

यह छठी मातृका है जो इन्द्र की शक्ति है। मार्क. पुराण में ऐन्द्री को स्व हस्त में वज्र लिये गजराज के ऊपर स्थित हजार नेत्रों वाली इन्द्र सदृश रूप धारण करने वाली देवी के रूप में प्रस्तुत किया है ।[5] जिसका दैत्यों के साथ संघर्ष में वज्र प्रमुख आयुध था । उसके वज्र प्रहार

---

1. वही, पृष्ठ 94
2. दृष्टव्य, चित्र नं0 ॥
3. उपाध्याय, वासुदेव, प्राचीन भारतीय मूर्ति विज्ञान, पृष्ठ 144
4. वही, पृष्ठ 144
5. वज्रहस्ता तथैवेंद्री गजराजोपरि स्थिता ।।
   सहस्त्र नयना प्राप्ता यथा शक्रस्तथैव सा ।।
   - मार्क. पुराण 85/20

से सैकड़ो दैत्य पृथ्वी में गिरने लगे थे [1] ऐन्द्री के लिये किरीटिनी, महावज्रे, सहस्त्रनयनोज्जवले तथा वृत्रप्राणहरे विशेषण प्रयुक्त हुये हैं । [2]

वामन पुराण में ऐन्द्री को हाथ में वज्र व अंकुश लिये वर्णित किया है ।[3]

अंशुभेदागम में ऐन्द्री को चतुर्भुजा, त्रिनेत्रा, रक्तवर्णा, किरीट, शक्ति, वज्र, धारण करने वाली, सभी आभूषणों से युक्त, गजध्वज को संवहन करने वाली, वरद और अभयमुद्रा से युक्त वर्णित किया गया है । [4]

रूपमण्डन के अनुसार इन्द्राणी बहुलोचना, वज्रशूल- गदा- धारिणी तथा गज पर विराजमान रहती है । [5]

---

(1) ऐन्द्री कुलिशपातेन शतशों दैत्यदानवा: -----

- मार्क. पुराण, 85/34

(2) किरीटिनी महावज्रे सहस्त्र नयनोंज्जवले ।
वृत्रप्राणहरे चैन्द्रि नारायणि नमोऽस्तुते ।। - वही, 88/18

(3) वज्रांकुशोधतकरा नानालंकारभूषिता ।।
जाता गजेन्द्र पृष्ठस्था माहेन्द्री स्तनमण्डलात् ।। - वामन पु. 56/8

(4) श्रीवास्तव, बलराम, आइकोनोग्राफी ऑव शक्ति, पृष्ठ 94 से उद्धृत

(5) वही, पृष्ठ 94,

वाराणसी से प्राप्त छठी शताब्दी की इन्द्राणी की प्रतिमा में हाथ में वज्र कानों में कुण्डल पहने प्रदर्शित है।[1] इस प्रतिमा में ऐन्द्री द्विभुजा है।

पुरी की प्रतिमा में इन्द्राणी चतुर्भुजा प्रदर्शित है जो गजारूढ़ है उनके दो हाथ खण्डित हैं [2]

<u>नारसिंही-</u> सप्तमातृकाओं में मार्क. पुराण नारसिंही को भी सम्मिलित करता है जो भगवान नृसिंह विग्रह धारी विष्णु की शक्ति है इसी लिए उनका स्वरूप नृसिंह के ही समान है।[3] मार्क. पुराण में नारसिंही कोभी नारायणि का रूप कहा गया है इनका स्वरूप उग्र है।[4] ये अपने भयंकर नखों से असुरों को विदारित करती है।[5] इनके निनाद से दिशायें गुंजित हो जाती है।[6] जिनके केशों के हिलने से नक्षत्रों की पंक्ति हिल जाती है।[7]

---

[1] दृष्टव्य चित्र नं० - 12

[2] दृष्टव्य चित्र नं० - 13

[3] नारसिंही नृसिंहस्य बिभ्रती सदृशं वपु: ।। - मार्क० पुराण, 85/19

[4] नृसिंह रूपेणोग्रेण ....।। वही, 88/17

[5] वही, 85/36

[6] नादापूर्णदिगंतरा ।। वही , 85/ 36

[7] वही, 85/19

वामन पुराण में भी नारसिंही तीक्षण नखों वाली दारूणा, बालों के हिलने से ग्रह नक्षत्रों को विक्षुब्ध करती नारसिंही का वर्णन है [1]

नारसिंही की कुछ एकाकी, कुछ मातृकामण्डल में प्रतिमायें प्राप्य है। उपाध्याय महोदय ने बंगाल से प्राप्त एकाकी प्रतिमा का उल्लेख किया है जिसका ऊपरी भाग सिंह का तथा धड़ स्त्री का है। खुला मुख सिंहगर्जन के भाव को प्रदर्शित कर रहा है। [2]

इसी प्रकार सतना से प्राप्त नारसिंही प्रतिमा में देवी अष्टभुजा प्रदर्शित है। [3] मयूरगंज से प्राप्त नारसिंही प्रतिमा में भी वे अष्टभुजा प्रदर्शित है। [4] बाद में इन्हीं नारसिंही के स्थान पर चामुण्डा को सप्तमातृकाओं में स्थान मिला।

---

[1] वामन पुराण, 56/9
विक्षिपन्ती सटाक्षेपैर्ग्रहनक्षत्रतारकाः।
नखिनी हृदयाज्जाता नारसिंही सुदारूणा ।। - वामन पु0, 56/9

[2] प्राचीन भारतीय मूर्ति विज्ञान, पृष्ठ 145

[3] द्रष्टव्य चित्र नं0 - 14

[4] श्रीवास्तव बलराम, आइकोनोग्राफी ऑव शक्ति, पृष्ठ 88, तथा द्रष्टव्य- बैनर्जी, जे0एन0 डेवेलपमेन्ट ऑव हिन्दू आइकोनोग्राफी प्लेट XLIV का चित्र नं0 -2

देवी-माहात्म्य वर्णन में अवतारवाद का तत्व और देवी के विभिन्न अवतारों की चर्चा -

मार्कण्डेय पुराण के देवी-माहात्म्य अंश में स्वयं देवी द्वारा अपने अवतारों का उल्लेख है, जो भविष्यत् काल में वर्णित है, जिससे अवतारवाद के उस सिद्धान्त का तत्व पुनः प्रदर्शित और व्यक्त होता है, जो "श्रीमद्भागवतगीता" में प्राप्य है, जिसके अनुसार "धर्म की ग्लानि और अधर्म का उदय होने पर भगवान स्वयं अवतरित होकर धर्म की स्थापना करते हैं" । गीता के इसी सिद्धान्त के अनुरूप ही मार्कपुराण के वर्णन में देवी द्वारा यह आख्यात है कि "जब- जब दानवों द्वारा बाधा उत्पन्न होगी तब-तब मैं अवतार लेकर शत्रुओं का नाश करूँगी ।" (1) गीता और प्रस्तुत पुराण की सन्दर्भित उक्ति का आशय समान है। इसे शाक्त धर्म पर वैष्णवों के अवतारवाद के प्रभाव का सूचक मान सकते हैं । इस अवतार तत्व की महत्ता में प्रस्तुत पुराण देवी भगवती के विन्ध्याचलनिवासिनी रूप, रक्तदन्तिका, भीमा देवी, दुर्गा देवी, शाकम्भरी, व शताक्षी तथा भ्रामरी अवतारों का उल्लेख करता है (2) जिससे सम्बन्धित विवेचन इस प्रकार है :-

---

(1) इत्थं यदा यदा बाधा दानवोत्था भविष्यति ।
तदा तदावतीर्याहं करिष्याम्यरिसंक्षयम् ।।
- मार्क0 पुराण,88/51

(2) वही, 88/39- 50

शाकम्भरी या शताक्षी देवी के रूप में भगवती का अवतार-

प्रस्तुत पुराण में यह वर्णन मिलता है कि जब भगवती वर्षा न होने पर अनावृष्टि काल में स्वकीय देह से उत्पन्न प्राणधारक शाक के द्वारा सम्पूर्ण लोकों का पोषण करेगीं तब वे लोगों में "शाकम्भरी" नाम से विख्यात होगी [1] तथा उसी समय दुर्गम नाम महाअसुर का वध करेगी । [2] वर्षा के अभाव में मुनियों द्वारा स्तुति किये जाने पर उन्हें सौ नेत्रों के द्वारा देखने के कारण वे भगवती "शताक्षी" भी कहलायेगी । [3]

देवी भागवत पुराण में भी शताक्षी व शाकम्भरी नामों का इतिहास प्रस्तुत है । उनके अनुसार दुर्गम नाम दैत्य के द्वारा सम्पूर्ण वेद ले लेने पर जब संसार में अनर्थ उत्पन्न करने वाली भयंकर स्थिति उत्पन्न हो गयी, देवताओं को हवि का भाग मिलना बंद हो गया, अग्नि में हवन न होने से वर्षा भी बंद हो गई , फलत: जल के अभाव में ब्राहमणों द्वारा पूजित भगवती, जो "भुवनेशी" तथा "महेश्वरी" नाम से भी विख्यात है, ने अपने दिव्य अनन्त नेत्रों से सम्पन्न रूप का दर्शन दिया और उनके अनन्त नेत्रों से जलधारायें गिरने लगी ।

---

§1§ ततोऽहमखिलं लोकमात्मदेह समुद्भवै: ।।
भरिष्यामि सुरा: शाकैरावृष्टे: प्राणधारकै : ।।
शाकंभरीति विख्यातिं तदा यास्याम्यहं भुवि ।।
-- मार्क. पुराण, 88/ 45-46

§2§ वही, 88/46

§3§ तत:शतेन नेत्राणां निरीक्षिष्यामि यन्मुनीन् ।।
कीर्तियिष्यन्ति मनुजा: शताक्षीमिति मां तत: ।।
वही, 88/44

जिससे सभी औषधियां तृप्त हुई. और भगवती ने स्वयं अपने हाथ से अनेक प्रकार के फल व शाक प्रदान किये जिससे उनका एक नाम "शाकम्भरी" भी पड़ गया। दुर्गम दैत्य का वध करके वे "दुर्गा" भी कहलायी । [1]
इस प्रकार देवीभागवत्पुराण शिवा को ही शाकम्भरी रूप में अवतरित मानता है। देवी भागवत में प्रस्तुत पुराण की अपेक्षा शाकम्भरी व शताक्षी नामों पर विस्तृत आख्यान प्रस्तुत है।

उपरोक्त विवरण से स्पष्ट है कि शाकम्भरी देवी के रूप में भगवती प्राणधारक शाक प्रदान करती हैं। इस रूप में वे वनस्पतियों, पेड़ पौधों कृषि, अर्थात उत्पादन की अधिष्ठात्री देवी के रूप में प्रतिष्ठित है। इस प्रकार शाकम्भरी देवी की कल्पना में उनका वनस्पति जगत का स्वामित्व सम्बद्ध है। यहां पर यह तथ्य ध्यातव्य है कि अत्यन्त प्राचीन काल से ही भगवती शक्ति प्राणदायिनी, जीवनदायिनी शक्ति के रूपमेंमहत्वशाली थी, वे उत्पादिका शक्ति की अधिष्ठात्री थी, कृषि और वनस्पति की स्वामिनी देवी थी और इस रूप में वे पृथ्वी देवी, भूदेवी, महीमाता के रूप में भी विख्यात थी, क्योंकि पृथ्वी या धरती ही उत्पादन का मूलाधार है और उत्पादन का सम्बन्ध भगवती या शक्ति से जुड़ने से वे पृथ्वी देवी बन गयी। यह भी सम्भावना व्यक्त की जा सकती है कि पाषाणकाल व परवर्ती कालों में, जब कृषि का विकास सम्भव हुआ होगा तो उसमें बीज बोने, फसल

---

[1] देवी भागवत पु०, सातवां स्कन्ध,

काटने, आदि महत्वपूर्ण कार्यों में नारियों का अपूर्व योगदान रहा होगा फलत: प्राकृतिक उत्पादनशीलता को मानवीय उत्पादनशीलता से जोड़ने का प्रयास हुआ। परिणाम स्वरूप शक्ति (जो नारी का पर्याय थी) उत्पादिका शक्ति का पर्याय बन गयी और महीमाता या भगवती पृथ्वी वनस्पति जगत की उत्पादिका शक्ति की अधिष्ठात्री देवी मान ली गयी। यही धारणा आगे चलकर पौराणिक काल में "शाकम्भरी देवी" की अवधारणा में परिवर्तित हो गयी ।

सैन्धव कालीन स्थलों से उत्खनन में प्राप्त कतिपय मुद्राओं पर भी उत्पादिका शक्ति का अंकन मिलता है, जो वनस्पति जगत की अधिष्ठात्री देवी मानी जा सकती है । हड़प्पा से प्राप्त एक अभिलेख युक्त मुद्रापर दाहिनी ओर स्त्री सिर के बल खड़ी है उसकी योनि से एक पौधा प्रस्फुटित होता दिखलाया गया है बाँई ओर दो बाघ हैं ।[1] यह आकृति पृथ्वी देवी की हो सकती है जो वनस्पतियों की उत्पत्ति का आधार है। इस रूप में इसे पौराणिक शाकम्भरी देवी का सैन्धव युगीन अंकन माना जा सकता है ।

इसी प्रकार हड़प्पा से प्राप्त अन्य मुद्राओं पर भी देवी का अंकन वृक्षों के साथ हुआ है जिससे वैदिक काल से पूर्व के काल से ही भगवती का वनस्पति जगत से सम्बन्ध घोतित होता है।

---

(1) थपलियाल, के0के0, सिन्धु सभ्यता, पृष्ठ 139

एक अन्य सैन्धव युगीन मुद्रा पर मातृदेवी का अंकन वृक्ष की शाखाओं के मध्य में मिलता है जिसके सामने पर एक मानवमुख तथा बकरे सदृश शरीर वाले उपासक का अंकन है, नीचे सात आकृतियां है [1] सम्भवत: यहां देवी का वनस्पति जगत से सम्बन्ध द्योतित है।

न केवल सैन्धव काल में अपितु वैदिक काल में भी वनस्पतियों की आधार स्वरूपा पृथ्वी देवी का अस्तित्व स्वीकार किया गया और ऋग्वेद में पृथ्वीसूक्त में पृथ्वी देवी की महत्ता निरूपित की गयी [2] । वैदिक काल में वे पृथ्वी के रूप में द्यौ, भूलोक की स्वामिनी थी । वे धरती पर उगे वन वृक्षों को धारण करने वाली मिट्टीको उर्वर बनाने वाली, तथा पर्वतों का भार वहन करने वाली देवी के रूप में प्रस्तुत की गयी।[3] सम्भवत: यहां भी भगवती का भूमि की उर्वरता से सम्बन्ध प्रस्तुत करके उनके वानस्पतिक स्वामित्व को प्रस्तुत किया गया है। फलत: वैदिक काल में भी शक्ति का सम्बन्ध वनस्पति से था ।

आगे चलकर महाकाव्य काल में पृथ्वी देवी वैष्णवी शक्ति से समीकृत हुई इस सन्दर्भ में वे विष्णु रूप राम की पत्नी वर्णित की गयी[4]। इस सन्दर्भ में पृथ्वी देवी के अन्य नाम यथा- मेदिनी, माधवी, धरणी आदि प्राप्त होते हैं ।

---

(1) भट्टाचार्य, एन0एन0, हिस्ट्री ऑव शाक्त रिलिजन, पृष्ठ 15 तथा चित्र संख्या- 15

(2) ऋग्वेद, 5/84, अथर्व वेद, 12/1

(3) वैदिक पुराकथाशास्त्र, पृष्ठ 167

(4) रामायण, II/ 1/34, VII/72/42 तथा 52 आदि

लौरिया नन्दनगढ़ से प्राप्त मातृदेवी की प्रतिमा को कुमारस्वामी ने पृथ्वी माता की मूर्ति माना है [1] तथा बलराम श्रीवास्तव ने शाकम्भरी देवी की मूर्ति माना है। [2] सामान्यतया पृथ्वी से उत्पन्न अन्न से प्राणियों का भरण पोषण होने के कारण पृथ्वी ही शाकम्भरी है।

परिणामस्वरूप पौराणिक शाकम्भरी देवी की अवधारणा प्राचीन कालीन पृथ्वी देवी से समीकृत की जा सकती है। शाकम्भरी देवी की सूचक अन्य मृण्मूर्तियां भी प्राप्त है । प्रारम्भिक गुप्त काल की भीटा से प्राप्त मृत्फलक पर एक नारी की आकृति है, जो दोनों पैरों को फैलाये है और उसके गर्दन से एक कमल का फूल प्रस्फुटित प्रदर्शित है [3] जिसकी पहचान उत्पादिका शक्ति के प्रतीक वनस्पति जगत की अधीष्ठात्री देवी शाकम्भरी से की जा सकती है।

इस प्रकार उपरोक्त विवरण से यह तथ्य स्पष्ट है कि पौराणिक काल की शाकम्भरी देवी सैन्धवयुग में उत्पादिका शक्ति के प्रतीक के रूप में पूजित थी, वैदिक काल में वे पृथ्वी देवी के रूप में प्रतिष्ठित हुई, अवान्तर युग में ये भूदेवी, महीमाता, अन्नपूर्णा, आनन्दा के क्रम में शाकम्भरी देवी भी कहलाई और कृषि, उत्पादन, वनस्पति आदि इन्हीं

---

(1) द्रष्टव्यश्रीवास्तव, बलराम, आइकोनोग्राफी ऑव शक्ति, पृष्ठ 8,

(2) वही,

(3) चित्र नं0 16, श्रीवास्तव बलराम, आइकोनोग्राफी ऑव शक्ति से उद्धृत

के स्वामित्व में स्वीकार किये गये । इसी सन्दर्भ में मार्क० पुराण में भगवती को जगत की रक्षा के निमित्त वार्ता §कृषि§ स्वरूप कहा गया है ।§1§ अन्यत्र वे मही स्वरूपेण जगत में व्याप्त वर्णित है ।§2§ इस वर्णन के मूल में भगवती की पूर्वकालीन वानस्पतिक स्वामित्व की अवधारणा का प्रभाव माना जा सकता है ।

शाकम्भरी देवी अन्नपूर्णा भी है जिनकी उपासना का केन्द्र सम्भर झील का प्रदेश है जो चौहानों की अधिष्ठात्री देवी है। §3§ जिनका उल्लेख मार्क० पुराण में है ।

---

§1§ वार्तासि सर्वजगतां परमार्त्तिहन्त्री ।।

- मार्क० पुराण, 81/10

§2§ आधार भूता जगतस्त्वमेका महीस्वरूपेण यतः स्थितासि

वही, 88/3

§3§ भट्टाचार्य, एन०एन० हिस्ट्री ऑव शाक्त रिलिजन, पृष्ठ 74

भीमा देवी के रूप में अवतार-

मार्क0पुराण में वर्णन है कि भगवती जब मुनियों की रक्षा करने के लिए हिमालय पर भयंकर रूप धारण करके राक्षसों का वध करेगी तब वे भीमा देवी के नाम से विख्यात होगीं और समस्त मुनिगण नम्रमूर्ति होकर उन्हीं भगवती की स्तुति करेंगें। [1] इससे यह स्पष्ट होता है कि भीमा देवी भयंकरा देवी थी जिनका निवास हिमवन्त प्रदेश था। मुनियों की रक्षा और राक्षसों का विनाश करना उनके आर्विभाव का उद्देश्य था।

अन्य पुराणों में भी भीमा देवी का निवास स्थल हिमवन्त पर्वत पर वर्णित है यथा- देवी भागवत उप पुराण में भगवती भीमा का स्थान हिमाद्रि पर्वत पर वर्णित है। [2]

---

(1) पुनश्चाहं यदाभीमं रूपं कृत्वा हिमाचले ।।
रक्षांसि भक्षयिश्यामि मुनीनां त्राणकारणात् ।।
तदा मां मुनयः सर्वे स्तोष्यंत्यानम्र मुर्तयः ।।
भीमादेवीति विख्यातं तन्मे नाम भविष्यति ।।
- मार्क0 पुराण, 88/47-88

(2) देवी भागवत पु0, सातवां स्कन्ध

महाभारत के वनपर्व में भी भीमा देवी के स्थान का उल्लेख है जिसके अनुसार भीमा स्थान में स्नान करने से व्यक्ति पुण्य प्राप्त करता है। इसमें पंचनंद के बाद ही भीमादेवी के स्थान का उल्लेख किया गया है[1]

इस सम्बन्ध में वासुदेव शरण अग्रवाल ने भीमा देवी के महाभारतोक्त स्थान की पहचान गान्धार देश में होती मर्दान के समीप पहाड़ी पर स्थित भीमा देवी के मन्दिर से की है।[2] इस सन्दर्भ में उनका यह मत है कि गान्धार देश में स्वयं एक स्थानीय क्रूर देवी की मान्यता चली आ रही थी उसका नाम भी भीमा देवी था। सातवीं शती में भारत आने वाले चीनी

---

(1) अथ पंचनदं गत्वा नियतो नियासनः पंचयज्ञा नवाजांति क्रमशों ये नुकीर्तिता ततो गच्छेत् धर्मज्ञ भीमाया: स्थानमुत्तमम् तत्र स्नात्वा तु योन्यां वै नरो भरत सत्तम् ...।"
प्राचीन भारतीय लोक धर्म से उद्धृत, अग्रवाल, वी०एस०,

(2) वही, पृष्ठ -55

यात्री ह्वेनसांग ने भी उसे देखा था। फूशे ने भी गांधार कीप्राचीन राजधानी पुष्कलावती और ओहिन्द के बीच स्थित भीमा पर्वत का उल्लेख किया है।

ह्वेनसांग के अनुसार "पलुश से लगभग 50 ली की दूरी पर उ0पू0 दिशा में पर्वत पर महेश्वरी की पत्नी भीमा देवी का स्थान था जिनका वर्ण नीला है जिसके दर्शन के लिये पूरे भारत से दर्शनार्थी आते थे। उसी पर्वत की तलहटी में एक मन्दिर महेश्वर का भी था [1]

इस प्रकार ह्वेनसांग के अनुसार भीमा देवी शिव की पत्नी थी। सम्भवत: शिव व शक्ति के सम्बन्ध के कारण देवी के काली,कराली, कौशिकी चामुण्डा, भवानी आदि जिन उग्ररूपों की कल्पना हुई उनमें एक भीमादेवी भी थी इसी कारण (उग्र, भीम रूप के कारण) गौरी का एक अवतार रूप भीमा देवी का था ।

शक्ति के दो स्वरूपों- सौम्य और उग्र - मे से भीमादेवी उग्र स्वरूप की द्योतक है। अथर्व वेद में भी कुछ लक्ष्मियों को पापिष्ठ तथा कुछ को कल्याणकर कहा गया है । [2]

वासुदेवशरण अग्रवाल का यह भी मत है कि गान्धार में हारीति नामक बौद्ध देवी की मान्यता चली आ रही थी।यह भी प्रारम्भ में बालापहारिणी

---

(1) भट्टाचार्य, एन0एन0, हिस्ट्री ऑव शाक्त रिलिजन, से उद्धृत,

(2) अथर्व वेद, 7/115/3

और भयंकरा थी, बाद में बालकों की संरक्षिका बन गई । सम्भवतः हिमवन्त प्रदेश की भीमादेवी ही बौद्धों में हारीति के रूप में मान्य थी क्योंकि पंजाब के बटँवारें के पहले लोग वहाँ (गांधार स्थित भीमा मन्दिर) दर्शनार्थ जाते थे और लौटने पर उत्पन्न पुत्र का नाम प्रायः "भीमादत्त" रख लेते थे । (1)

महाभारत के पूर्वोक्त भीमा स्थान के वर्णन से ऐसा प्रतीत होता है कि उस समय भीमा पर्वत पर भीमा देवी के मन्दिर में कोई मूर्ति न थी वह एक एक योनि तीर्थ था (स्नात्वात् योन्यां) । सम्भवतः कुण्ड के रूप में वहाँ देवी की मान्यता रही हो ।(2)

---

(1) प्राचीन भारतीय लोक धर्म, पृष्ठ 55,

(2) वहीं,

" विन्ध्याचल निवासिनी" रूप में भगवती का अवतार:-

अवतारों के वर्णन क्रम में मार्क० पुराण में देवी की उक्ति है कि वैवस्वत मन्वन्तर में जब अट्ठाइसवां युग आयेगा और शुंभ व निशुंभ नाम अन्य दो महाअसुर जन्म ग्रहण करेंगे, तब मैं नन्द गोप के घर में यशोदा के गर्भ से जन्म लेकर "विन्ध्याचलवासिनी" होकर उनका भी विनाश करूंगी।[1]

यशोदागर्भसम्भूता विन्ध्याचलवासिनी भगवती का यह विवरण अन्य पुराणों में भी कतिपय भिन्नताओं के साथ, प्राप्त होता है यथा विष्णु पुराण में यह वर्णन है कि निद्रा देवी ही यशोदा के गर्भ से उत्पन्न हुई थी जब कंस ने उन्हें शिला पर कन्या समझ कर प्रहारित करना चाहा तो वे उसके हाथ से छूट कर आकाश में स्थित हो गई।[2]

भागवत पुराण में भी समान विवरण उपलब्ध होता है कि योगमाया विष्णु की शक्ति है विष्णु ने इन्हीं योगमाया को यशोदा के गर्भ से उत्पन्न होने की आज्ञा दी थी कंस के द्वारा चट्टान पर प्रक्षिप्त किये जाने पर यही योगमाया आकाश में अष्टभुजी देवी के रूप में दिखाई पड़ी थी[3] उन्हें

---

[1] वैवस्वतेऽन्तरे प्राप्ते अष्टाविंशतिमें युगे ।
शुंभो निशुंभ श्चैवान्यावुत्पत्स्येते महासुरौ ।।
नन्दगोपकुले जाता यशोदा गर्भसम्भवा ।
ततस्तौ नाशयिष्यामि विन्ध्याचलनिवासिनी ।।

--- मार्क० पुराण,88/ 38-39

[2] विष्णु पु०, 5/1/71-80

[3] भागवत पु०, 10/2/89

प्रस्तुत पुराण में विष्णु की छोटी बहन भी कहा गया है ।[1]

वराह पुराण में इन्हें नन्द के यहां जन्म लेने के कारण नन्दा भी कहा गया है ।[2]

हरिवंश पुराण के अनुसार विष्णु ने स्वयं पाताल लोक जाकर योग-निद्रा से यशोदा की पुत्री के रूप में जन्म लेने के लिये आग्रह किया था। यशोदा- गर्भ-सम्भूता योग निद्रा ने कंस द्वारा निक्षिप्त होने पर आकाशगामी होकर विन्ध्य पर्वत पर अपना शाश्वत स्थान बनाया था। प्रस्तुत पुराण में इन्हें कुश गोत्र की होने के कारण "कौशिकी" भी कहा गया है ।[3] इसमें इन्हें सुरा और मांस में अनुराग रखने वाली देवी के रूप में प्रस्तुत किया गया है ।

लगभग इसी प्रकार का वर्णन महाभारत में भी प्राप्त है। महाभारत के भीष्मपर्व में स्तुति के सन्दर्भ में देवी द्वारा विन्ध्य पर्वत पर अपना शाश्वत् स्थान बनाने तथा उसके पूर्व काल में नन्द गोप के वंश में यशोदा के गर्भ से जन्म लेने का विवरण उपलब्ध होता है। साथ ही साथ महाभारत में देवी दुर्गा की स्तुति में इन्हें 'यशोदा के गर्भ से जन्म लेने वाली" विन्ध्याचल-वासिनी" , नारायण की परम् प्रिया" तथा "वासुदेव की भगिनी" कहा गया है।

---

[1] भागवत पु0, 10/4/ 9-10

[2] वराह पु0, 135/38/ 52.

[3] हरिवंश पुराण, विष्णु पर्व।।श्लोक 34-52

उपरोक्त प्रसंगों के वर्णन से स्पष्ट है कि भगवती का सम्बन्ध विष्णु से स्थापित करने के लिये इस प्रकार के आख्यानों की रचना हुई । विष्णु के ही अवतार कृष्ण हैं । विष्णु का तादात्म्य वासुदेव-कृष्ण से स्थापित होने पर भगवती के अवतरित होने की कथा कृष्ण से जुड़ गयी । विष्णु माया, हरिनेत्रकृतालया योग निद्रा स्वरूपा [1] भगवती पहले ही वैष्णव सम्प्रदाय से सम्बन्धित थी, शाक्त धर्म पर वैष्णव प्रभाव को दिग्दर्शित कराने वाले "नन्दगोपकुले जाता देवी" का आख्यान उन्हीं सम्बन्धों की दूसरी कड़ी है, जो योग निद्रा का यशोदा के गर्भ से उत्पन्न होकर पुनश्च कंस द्वारा प्रक्षिप्त किये जाने पर विन्ध्याचल वासिनी होने का वर्णन प्रस्तुत करता है। इस प्रकार विन्ध्याचल वासिनी दुर्गा विष्णु की योगनिद्रा ही है। वे ही विष्णुमाया है जो प्रत्येक अवतार के समय विष्णु के साथ रही। जब विष्णु ने कृष्ण का अवतार धारण किया तो वे यशोदा गर्भसम्भवा बन कर उनके साथ रही और उनकी कंस से रक्षा की ।

लेकिन मत्स्य पुराण में विन्ध्यवासिनी भगवती का सम्बन्ध पार्वती से जोड़कर उन्हें शैव धर्म के प्रभाव के अन्तर्गत प्रस्तुत किया गया है। मत्स्य पुराण के अनुसार ब्रहमा ने नीले कमल के समान कान्ति वाली देवी से, (जो पहले से ही एकानंशा नाम से विख्यात थी) कहा कि वे विन्ध्याचल जाकर वहां देवताओं का कार्य सिद्ध करें । पार्वती के क्रोध से उत्पन्न सिंह उनका वाहन होगा उनकी ध्वजा पर भी इस महाबली का आकार विद्यमान रहेगा ।

---

(1) मार्क. पुराण, मधुकैटभ वध प्रसंग

ऐसा आदेश मिलने पर कौशिकी देवी विन्ध्यपर्वत पर चली गयी [1]

इस प्रकार मत्स्य पुराण के अनुसार ब्रहमा के आदेश से कौशिकी देवी विन्ध्यपर्वत पर बस गयी थी । फलतः कौशिकी ही परमाशक्ति है जो वैष्णवी शक्ति के रूप में विष्णुमाया, योगनिद्रा, "कृष्णभगिनी" है तो वे ही शैवी शक्ति के रूप में पार्वती, कौशिकी, शिवदूती, काली है। ये सब एक ही परमाशक्ति के भिन्न-भिन्न रूप है। जहाँ तक विन्ध्य पर्वत पर भगवती के स्थायी निवास का प्रश्न है, लगभग कई पुराणों में यह वर्णन समान रूप से प्राप्य है ।

मत्स्य पुराण में देवी के 108 नामों और तीर्थों के वर्णन में "विन्ध्ये विन्ध्यवासिनी" भी एक है । [2] वामन पुराण में भी निःशेष देवसमूह-मूर्तिस्वरूपा कात्यायनी द्वारा सिंहारूढ़ होकर विन्ध्य पर्वत पर वास करने का वर्णन है जिसे अगस्त्य मुनि ने अति निम्न कर दिया था [3]

स्पष्टतः विन्ध्यवासिनी, नन्दगोपकुलेजाता भगवती मार्क० पुराण में वैष्णवी शक्ति से समीकृत की जा सकती है जिन्हें विष्णु या कृष्ण की बहन के रूप में भी चित्रित किया "। कृष्ण, बलराम के साथ जिनकी मूर्ति एकानंसा के रूप में प्राप्त होती है। विन्ध्याचल आज भी एक प्रमुख शक्ति पीठ के रूप में प्रसिद्ध है जहाँ सिंहवाहिनी भगवती की मूर्ति स्थापित है।

---

[1] मत्स्य पु०, 158/ 15-19

[2] मत्स्य पु०, 13/ 39

[3] वामन पु०, 18/21

"भ्रामरी देवी के रूप में अवतार"

मार्क० पुराण में आख्यात है कि "जिस समय अरूण नाम महाअसुर त्रैलोक्य में बाधा उत्पन्न करेगा तब असंख्य षटपद- समन्वित भ्रमरों का रूप धारण कर, त्रैलोक्य का हित करने के लिये देवी पुनः आविर्भूत होगी और असुरों के वध के कारण लोक में"भ्रामरी" नाम से पूजित होगीं ।[1]

प्रस्तुत पुराण में भ्रामरी देवी के रूप में अवतार अन्तिम अवतार वर्णित है। लगभग समान वर्णन वामन पुराण में भी भविष्यत्काल में वर्णित है चर्चिका, नन्दगोपगृहेजाता, विन्ध्याचलवासिनी, शाकम्भरी आदि अवतारों के क्रम में भ्रामरी अवतार का भी उल्लेख है जिसमें यह उल्लिखित है कि अरूणाक्ष नामक महासुर का संहार करने के लिये भगवती महाभ्रमर रूप से अवतार लेगी [2]

उपरोक्त वर्णन से स्पष्ट होता है कि अरूण नामक असुर को मारने के लिये भ्रमरसे वेष्टित होकर अवतरित होने के कारण वे "भ्रामरी" कहलायी।

---

§1§ यदाऽरूणाख्यैस्त्रैलोक्ये महाबाधां करिष्यति।
तदाहं भ्रामरं रूप कृत्वाऽसंख्येयषट् पदम् ।।
त्रैलोक्यास्य हितार्थाय वधिष्यामि महासुरम्।
भ्रामरीति च मां लोकास्तदा स्तोष्यंति सर्वत:।।
— मार्क० पुराण 88/49-50

§2§ यदा अरूणाक्षों भविता महासुरः तदा भविष्यामिहिताय देवता:
महालिरूपेण विनष्टजीवित कृत्वा समेष्यामि पुनस्त्रिविष्टपम् ।।
वामन पु०, 56/7।

देवीभागवत, जो एक उपपुराण है, में भ्रामरी देवी के सम्बन्ध में अपेक्षाकृत विस्तृत आख्यान प्राप्त होता है। तदनुसार [1] दानवराज अरूण ने हिमालय पर जाकर कठोर तप व गायत्री जप के प्रभाव से ब्रहमा से सम्पूर्ण देवों पर विजय और शस्त्र युद्ध, स्त्री-पुरूष, दो पैर वाले व चार पैर वाले किसी भी प्राणी से अवध्य होने होने का वरदान मांग लिया। अभीप्सित वर प्राप्त हो जाने पर अरूण दैत्य ने देवों को स्वाधिकार से वंचित कर दिया अतः देवों ने भुवनेश्वरी देवी का स्तवन किया जिन्होंनें भ्रामरी देवी के रूप में अवतार ग्रहण किया और देवों द्वारा स्तुत्य होकर अपने हस्तगत भ्रमरों को दैत्य अरूण का वध करने के लिये भेजा । फलतः अरूण राक्षस भ्रमरों द्वारा निहत हुआ ।

इस प्रकार प्रस्तुत उप पुराण में भ्रामरी देवी भुवनेश्वरी का ही रूप व्यक्त है। भ्रामरी देवी के स्वरूप के बारे में भी प्रस्तुत उप पुराण में विस्तृत विवरण उपलब्ध होता है। तदनुसार भ्रामरी देवी के रूप में जब भगवती प्रादुर्भूत हुई तब उनके श्री विग्रह से करोड़ों सूर्य के समान प्रकाश फैल रहा था- उनके शरीर में अद्भुत अनुलेपन लगा था। वे दो विचित्र वस्त्र धारण किये हुये थी । उनके गले में विचित्र माला थी उनके सभी अंग दिव्य अलंकारों से अलंकृत थे । उनकी मुट्ठी अद्भुत भ्रमरों से वेष्ठित थी । नाना भ्रामरों से युक्त पुष्पों की माला भी वे धारण किये थी उनके पार्श्ववर्ती असंख्य भ्रमर थे जो कि शब्द का गायन कर रहे थे ।

---

[1] देवी भागवत 10/10-13

भगवती भ्रामरी के अनेक नामों की भी चर्चा देवी भागवत में है यथा सर्वात्मिका, सर्वमयी, सर्वमंगलरूपिणी, सर्वज्ञा, सर्वजननी, सर्वेश्वरी और शिवा। देवकृत स्तुति प्रसंग में उन्हें नील सरस्वती, त्रिपुरसुन्दरी, पीताम्बरी, धूमावती, शाकम्भरी, अग्रतारा, महोग्रा, गंगा, शारदा विजया, रक्तदन्तिका, क्षीरसागर कन्यका, भैरवी, मातंगी आदि नामों से सम्बोधित किया गया है। वे ही भगवती भुवनेश्वरी हैं। ये ही प्राण रूपा महारूपा मूर्तरूपा है भ्रमरों से वेष्टित होने के कारण ही "भ्रामरी" नाम से प्रसिद्ध है।

देवी भागवत में भ्रामरी देवी को मणिद्वीप पर विराजने वाली महादेवी कहा गया है। तद्विषयक वर्णनानुसार भ्रामरी देवी स्तुति करने पर प्रसन्न होकर श्रेष्ठ राज्य, विपुल भोग, वैभव, यथेच्छ यश, तेज बुद्धि और अजेयत्व प्रदान करती है इन्हीं की उपासना से महान तेजस्वी छ राजकुमार मन्वन्तरों के स्वामी बने थे।

रक्तदन्तिका अवतार:

इस अवतार के विषय में मार्क० पुराण में आख्यात है कि पृथ्वी पर अत्यन्त भयंकर रूप से अवतीर्ण होकर देवी जब वैप्रचिति नामक दानवगणों का हनन करेगी तब उन असुरों का भक्षण करने से उनके दन्त दाडिमी कुसुम सदृश रक्त वर्ण के हो जायेंगे फलत: वे लोक में रक्त दन्तिका नाम से प्रसिद्ध होगी।[1]

उपरोक्त विवरण से रक्तदन्तिका देवी भयंकर स्वरूप वाली प्रतीत होती है सम्भवत: रक्तदन्तिका देवी वामन पुराणोक्त चर्चिका देवी है। जिनके बारे में वामन पुराण में आख्यात है कि शंकर के मुख के पसीने से उत्पन्न होकर रक्तरंजित मुख वाली होकर संसार में भगवती चर्चिका नाम से प्रसिद्ध होगी।[2] वासुदेव शरण अग्रवाल महोदय के मत से[3] चर्चिका देवी ही लोक में छाछी देवी के नाम से विख्यात हुई जिनके मन्दिर अभी तक मिलते है और जो षष्ठी देवी के रूप में मान्य थी। गुप्त काल में भी षष्ठी देवी की सार्वजनिक मान्यता थी जिसके प्रमाण गुप्तकालीन मिट्टी के मुहरों पर प्राप्त षष्ठी दत्त नाम, यौधेयगण के सिक्कों पर अंकन तथा स्कन्दगुप्त के सुपिया से प्राप्त अभि० में षष्ठी देवी की पूजा का उल्लेख है। सम्भवत: यही लोक देवी चर्चिका, रक्तदन्तिका, आदि रूपों में पुराणों में वर्णित हुई।

---

[1] पुनरप्यतिरौद्रेण रूपेण पृथिवीतले ।।
अवतीर्य हनिष्यामि वैप्रचिन्तांस्तु दानवान् ।।
भक्षयंत्याश्च तानुग्रान्वैप्रचित्तान्सुदानवान् ।।
रक्ता दंता भविष्यन्ति दाड़िमी कुसुमोपमा: ।।
ततो मां देवता: स्वर्गे मर्त्यलोकेच मानवा: ।।
स्तुवन्तों व्याहरिष्यन्ति सततं रक्तदन्तिकाम् ।।
--- मार्क॰पुराण, 88/40-42

[2] वामन पुराण, 56/67

[3] भारतीय लोकधर्म, पृष्ठ 6।

षष्ठी देवी का इतिहास बौद्ध धर्म से भी सम्बन्धित है बौद्धों मे हारीति नाम से प्रसिद्ध देवी की मान्यता थी जिसे जातहारिणी से भी समीकृत किया गया। बौद्ध परम्परा के अनुसार "वह राजगृह की बालघातिनी क्रूर देवी थी जो वहाँ के बच्चों को पकड़कर उसका भक्षण कर लिया करती थी उसके अपने भी बहुत बच्चे थे। कहा जाता है कि एक बार जब बुद्ध राजगृह आये तो लोगों ने उनसे हारीति की शिकायत की। बुद्ध ने हारीति के एक बालक को छिपा लिया। हारीति को अपने खोये हुए बालक के लिये बहुत दुःख हुआ और उसे चारों ओर ढूढ़ने लगी। उसी समय बुद्ध ने उसे समझाया जिससे प्रभावित होकर वह बच्चों की संरक्षिका देवी बन गई और सर्वत्र उसकी पूजा होने लगी। §1§

हारीति का ही रूप जातहारिणी देवी थी। ब्राहमण साहित्य में भी जरा नामक राक्षसी के मगध में गृहदेवी के रूप में पूजित होने के विवरण उपलब्ध होते हैं ऐसी सम्भावना है कि लोक में अहोई देवी कीपूजा की परम्परा भी प्राचीन जातहारिणी या हारीति देवी का अवान्तर कालीन रूपान्तर है जिसमें अहोई माता द्वारा किसी स्त्री के 7 बच्चों को खाने तथा फिर प्रसन्न होकर उन्हें जीवित करने की कथा का चित्रण करके पूजा की जाती है।

स्पष्ट है कि प्रारम्भ में हारिति या जातहारिणी शिशुओं का संहार करने वाली देवी थी बाद में बालको की संरक्षिका देवी

---

§1§ अग्रवाल, वा0श0, प्राचीन भारतीय लोकधर्म, पृष्ठ 54 से उद्धृत

बन गयी । इसे ही ब्राह्मण साहित्य में "चर्चिका" षष्ठी" "बहुपुत्रिका " देवी के रूप में प्रस्तुत किया गया । ये ही लोक में "छाछी" देवी अर्थात् "षष्ठी" देवी के रूप में पूजित हुई । इस प्रकार "रक्तदन्तिका" जिसे वामन पुराण 'चर्चिका" नाम से अभिहित करता है मैं लोक देवी "षष्ठी" तथा बौद्धों की "हारीति" का ही परिवर्तित रूप देखा जा सकता है । हारीति का अंकन भी कला में बहुत से बच्चों के साथ किया गया है ।

इस प्रकार स्पष्ट है कि अत्यन्त प्राचीन काल से महत्ता - प्राप्त शक्ति को पौराणिकों ने आख्यानों-उपाख्यानों आदि के माध्यम से सर्वोच्च-पद पर अधिष्ठित करने का प्रयास किया । इस क्रम में शक्ति के मातृस्वरूप, सौम्य और उग्र रूप, तथा उनके प्रधान कृत्यों के प्रतिपादन - बोधक नये स्वरूपों को भी नवीन आयाम मिला । फलत: महिषमर्दिनी, सप्तमातृकामण्डल, काली, विन्ध्याचलनिवासिनी, स्वरूपों से महिमामण्डित शक्ति तत्त्व के महिम्नशाली प्रसंग कल्पित किये गये । दूसरी ओर लोक में प्रचलित विश्वासों, संस्कृति और भावनाओं को भी पौराणिकों ने शक्ति के नये कल्पित स्वरूपों में समाहित करने की चेष्टा की।परिणामत: प्राचीन कृषि की अधिष्ठात्री देवी पौराणिकों की " शाकम्भरी " के रूप में, वैदिक सप्तस्वसार: सप्तमातृकाओं के रूप में जातहारिणी षष्ठी देवी, काली काली-रक्तदन्तिका रूप में उभरकर सामने आयी यद्यपि सप्तमातृकाओं की पौराणिक कल्पना का सृजन तद्सम्बन्धी देवों के साथ संयुक्तीकरण की भावना में निहित था तथापि इससे देवी तत्त्व की महानता पर कोई व्याघात नहीं पहुँचता क्योंकि समन्वयवादी दृष्टिकोण अपनाते हुए एकत्व को प्रधानता देकर पौराणिकों ने देवी तत्त्व को और अधिक व्यापक परिवेश से आवेष्टित महत्ता ही प्रदान की है ।

अध्याय-3

सूर्य-पूजा

सूर्य- पूजा

आकाश में दीप्तिमान, जीवनप्रदाता, कृषि व औषिधियों में प्राणदाता, गोलाकार पिण्ड, ज्योतिस्वरूप सूर्य देव की आराधना प्राचीनकाल से ही भारत में प्रचलित थी । सूर्यपूजा व आराधना के साहित्यिक और पुरातात्त्विक साक्ष्य पूर्ववैदिक काल से ही मिलने लगते हैं । पूर्व वैदिक काल में सूर्य के प्रतीकों की उपासना होती थी । गोलाकार रूप से निकलती किरणें सूर्य का प्रतीक थी जो अपनी जीवनदायिनी शक्ति के रूप में पूजित था आकाश में दृश्यमान होने वाले सूर्य का बिम्ब ही पूर्व वैदिक कालीन उपासना का आधार था, जिसमें वैदिक मन्त्र, प्रार्थनायें, यज्ञ, स्तोत्र आदि शामिल थे । इस प्रकार प्रारम्भिक काल में सूर्य पूजा का स्वरूप प्रतीकात्मक था।§1§

लेकिन महाकाव्य काल तक सूर्य पूजा का एक ठोस स्वरूप सामने आ चुका था। सूर्यमूर्ति की पूजा में भक्ति, व्रत, तीर्थ, आचमन, प्रणाम आदि तत्व सम्मिलित हो गये। महाकाव्य काल तक सूर्य पूजा एक सम्प्रदाय के रूप में सामने आयी लेकिन पूर्व की वैदिक कालीन प्रवृत्ति भी समानान्तर रूप से चलती रही जिसका प्रमाण पुराणों में स्पष्ट दृष्टि गोचर है। पुराण एक ओर सूर्य पूजा पर नवीन परिकल्पना प्रस्तुत करते हैं, वही वैदिक परम्परा का भी प्रभाव उन पर है ।

---

§1§ उपाध्याय, बलदेव, पुराण विमर्श, पृष्ठ 500

मार्कण्डेय पुराण में सूर्य पूजा सम्बन्धी स्थल-

प्रस्तुत पुराण में मन्वन्तर वर्णन के अन्तर्गत वैवस्वत मन्वन्तर का उल्लेख करते हुए वैवस्वत मनु को विश्वकर्मा की पुत्री संज्ञा से उत्पन्न भगवान विवस्वान् का औरस पुत्र बताया गया है [1] और इसी मनु की उत्पत्ति-वर्णन के क्रम में भास्कर देव और संज्ञा के सन्तानों- यम, यमुना, आदि का वर्णन है ।[2]

रवि के तेज को सहन न कर सकने के कारण छाया रूप का निर्माण, संज्ञा का वडवा रूप धारण कर तपस्या रत होना, छाया संज्ञा का भेद खुलना सूर्य का तेज विश्वकर्मा द्वारा शातित करना, देवताओं द्वारा प्रसन्न होकर त्रैलोक्य पूजित रवि की स्तुति करना, सूर्य के मुक्त तेज से पृथ्वी , आकाश व स्वर्ग का निर्माण, त्वस्ट्रा द्वारा सूर्य के तेज का 16 भागों में विभाजन, सूर्य का स्वयं 1/16 भाग से तेज ग्रहण करना, वडवा रूपी संज्ञा के नासत्य, दस्त्र, रेवन्त आदि पुत्रों का वर्णन प्राप्त होता है ।[3] आदि देव कश्यप व अदिति के पुत्र के रूप में मार्तण्ड देव के उत्पत्ति का प्रसंग अध्याय 98 में मिलता है जिसमें मार्तण्ड देव की सूक्ष्मातिसूक्ष्म व स्थूल दोनों ही रूपों का विस्तृत वर्णन है। ब्रह्मा द्वारा रविस्तुति, अदिति कृत स्तुति सूर्य के वैदिक परम्पराओं के समावेश के घोतक है ।

---

[1] मार्क. पुराण, 74/ 1 से 2।

[2] मार्क. पुराण, 74/ 3 से 7

[3] मार्क. पुराण, 75 वां अध्याय

पुनः 101 वें अध्याय में वैवस्वतमनु- सूर्य के सन्तानों व परिवार की कथा वर्णित है। तदन्तर 104 वें अध्याय में सूर्य को लिख्यमान मूर्ति का उल्लेख है। 106 वें अध्याय में राज्यवर्धन की दीर्घायु के लिये सूर्य आराधना का वर्णन मिलता है ।

सूर्य के मानवीय विग्रह रूप का विकास-

महाकाव्य काल के पहले सूर्य की पूजा बिम्ब या प्रतीक या प्राकृतिक रूप में दिखने वाले आकाशीय सूर्य के रूप में होती थी । उनका मानवीयकरण नहीं किया गया था ।[1] वह शक्ति, उत्पादकता व प्रकाश का माध्यम था लेकिन महाकाव्य काल में सूर्य पूजा के सम्बन्ध में कई क्रांतिकारी परिवर्तन आये । इनमें सूर्य पूजा सम्प्रदाय विशेष में बदल गई, सूर्य का मानवीयकरण किया गया, उसकी पूजा में भक्तितत्व का समावेश हुआ और सूर्य मूर्तियाँ बनायी जाने लगी । इसकाल का सूर्यदेव- मानव रूप में परिकल्पित किया गया । [2] महाभारत में कर्ण, कुन्ती, युधिष्ठिर, जामदग्न्य आदि के कथानकों में सूर्य पूर्ण मानवीय रूप में प्रस्तुत हुये हैं । कुन्ती आख्यान में महाभारत में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि सूर्य ने अपने योग शक्ति के बल पर दो रूपों में अपने को अवस्थित किया । एक रूप से वे आकाश में अपने प्राकृतिक रूप में अवस्थित

---

[1] द्रष्टव्य- श्रीवास्तव, वी०सी०, सन वरशिप इन एन्शयेन्ट इण्डिया, पृष्ठ 39

[2] हापकिंस, एपिक माइथालोजी, पृष्ठ 85,

रहते हैं दूसरे रूप से उन्होंने मानव रूप में कुन्ती को दर्शन दिया था। [1]
मार्क० पुराण में भी मार्तण्ड देव के दो रूपों का वर्णन है। [2]

प्रारम्भिक पुराणों जैसे विष्णु, वायु, मार्कण्डेय, में भी सूर्य के प्राकृतिक रूप के अलावा उनके व्यक्तित्व का विकास मानवीय विग्रह के रूप में भी दिखाई पड़ता है और इसी लिए सूर्य के मानवीय रूपों की कल्पना प्रस्तुत पुराण में भी द्रष्टव्य है।

मार्कण्डेय पुराण के विवरण इस सम्बन्ध में उस संक्रान्ति अवस्था के द्योतक है जब सूर्य के, प्राकृतिक रूप की अपेक्षा मानवीय रूपों को अधिक श्रेष्ठ व श्रेयस्कर माना जा रहा था इस बात का प्रबल प्रमाण राज्यवर्धन व अदिति का आख्यान हैं।

अदिति द्वारा पूजित सूर्य प्राकृतिक, अग्नि-पुंज, ज्योतिस्वरूप तेजोराशिमय रूप से आकाश में स्थित रहने वाले सूर्य थे। [3] जो समस्त अन्नों को पकाने वाले थे [4] अदिति की प्रार्थना पर सूर्य ने उसी तेजोराशिमयं गगनस्थित बिम्ब रूप में ही दर्शन दिया था। [5] जिसमें कोई मानवीय विशेषता नहीं थी जिसे देखकर भय को प्राप्त होकर अदिति द्वारा पुनः प्रार्थना करने पर सूर्य देव ने कान्त कलेवर धारणकर मानवीय विग्रह रूप से दर्शन दिया था। [6]

---

[1] महाभारत, III/ 306/9-10
[2] मार्क० पुराण, 100 वाँ अध्याय
[3] तुष्टाव तेजसां राशिं गगनस्थं दिवाकरम् ।। - वही, 101/17
[4] ...सस्यानां पाकहेतवे ।। - वही, 101/25
[5] निराहारा विवस्वन्तं तपन्तं तदनन्तरम् ।।
संघातं तेजसां तद्वदिह पश्यामि भूतले ।। वही, 101/33-34
[6] ततः स्वतेजस स्तरू मादाविर्भूतो विभावसुः ।

इसी प्रकार राज्यवर्धन द्वारा आरोग्यताव दीर्घायु प्राप्ति हेतु आराधना-पूजा में भी प्राकृतिक रूप से मानवीय रूप की ओर विकास क्रम द्रष्टव्य है।

राज्यवर्धन की दीर्घायु के लिये उनके हितैषी, प्रारम्भ में पारम्परिक विधि से सूर्य पूजा करते रहे।[1] कोई सूर्य की ओर दृष्टि लगाकर खड़े रहे[2], कोई अग्निहोत्र में तत्पर रहकर रविसूक्त का जप करते,[3] कोई घर में अर्घ्यादि द्वारा भास्कर की पूजा करते।[4] यानि प्राकृतिक ज्योति पुंज की पूजा करने में तत्परता थी। बाद में अतिशय यत्न देखकर सुदामा नामक गन्धर्व द्वारा यह बताने पर कि कामरूप महापर्वत में सिद्धों के द्वारा सेवित गुह विशाल नामक [5] वन में भानु की आराधना करने से सूर्य प्रसन्न होंगें हितचिन्तकों ने तदनुसार सिद्ध क्षेत्र में पवित्र मन्दिर में पूजा की थी[6]

---

[1] बहुप्रकारं चक्रुस्ते तं तं विधिमुपाश्रिता: ।। मार्क. पुराण, 106/54

[2] भास्करे न्यस्त दृष्टय:।वही,106/ 53

[3] अग्निहोत्र परांश्चान्ये रविसूक्तान्यहर्निशं ।। - वही, 106/ 53

[4] सम्यक् अर्घ्योपचारार्घै: उपहारै: अपूजयन् । वही, 106/50

[5] वही, 106/56- 58

[6] वही, 106 /59

तब भास्कर देव ने मण्डल से निकल कर दर्शन दिया था[1]

इस कथानक में भी सूर्य के तेजोराशि मय प्राकृतिक रूप से मानवीय रूप में पूजा का विकास क्रम दृष्टिगोचर होता है और मानव रूप में सूर्य के दर्शन देने का उल्लेख है इसी प्रकार के वर्णन विष्णु या वायु पुराण में भी मिलते हैं यथा विष्णु पुराण में सत्राजित के प्रसंग में यह वर्णन आया है कि सत्राजित द्वारा पूजित आदित्य प्रारम्भ में अग्निपुंज के रूप में प्रकट हुये, तत्पश्चात पुनः प्रार्थना करने पर ताँबे के समान कलेवर वाले पिंगल नयन, दृष्टावपु, रूप में प्रकट हुये ।[2]

इस प्रकार उपरोक्त सभी कथानकों में पहले सूर्य देव अपने प्राकृतिक स्वरूप में प्रकट हुये तत्पश्चात पुनः प्रार्थना करने पर (अवतीर्य) अवतार रूप में मानव विग्रह का दर्शन दिया । इस प्रकार के कथानक सूर्य के प्राकृतिक रूप से मानवीय रूप में परिवर्तन के द्योतक है । कामरूप पर्वत पर गुहविशाल वन में स्थित सूर्य मन्दिर में पूजा का विवरण इस बात का सूचक है कि उस समय न केवल सूर्य का मानवीय करण हुआ अपितु सूर्य प्रतिमायें भी प्रतिष्ठापित की जाने लगी थी । लेकिन सूर्य प्रतिमा के स्वरूप के बारे में इस पुराण में कोई विवरण उपलब्ध नहीं होता है ऐसा अनुमान लगाया जा सकता है कि यह अंश उस काल में रचित होने का द्योतक है जब सूर्य की प्रतिमा का निर्माण यथाशीघ्र ही शुरू हुआ था।वैदिक काल में सूर्य प्रतिमा व मन्दिर का अस्तित्व नहीं था। अतः यह अंश वैदिक परम्परा से अवान्तर कालीन परिवर्तन का द्योतन करता है।

---

(1) मार्क० पुराण, 106/ 76

(2) ततस्तमाताम्रोज्ज्वलम् दृष्टवपुषमीशद्दा
पिंगल नयनमादित्य मद्राक्षीत् ।। - विष्णु पु० ,13/13

सूर्य और उनका परिवार -

सूर्य के व्यक्तित्व का मानवीय करण होने के फलस्वरूप महाकाव्य काल में ही उनके परिवार की कल्पना भी प्राप्त होने लगती है । प्रस्तुत पुराण में भी सूर्य की पत्नियाँ संज्ञा व छाया संज्ञा का कथानक वर्णित है । संज्ञा जो विश्वकर्मा की पुत्री थी, सूर्य देव की पत्नी थीं जिनके पुत्र वैवस्वत कहलाये[1] जो उनके औरस पुत्र थे । यम, यमी नामक सन्तान तथा यमुना नामक पुत्री संज्ञा से ही विवस्वान को प्राप्त हुई थी ।[2] संज्ञा विवस्वान का गोलाकार रूप देख उनका तेज सहन करने में असमर्थ होने पर अपनी छाया को सूर्य के पास छोड़कर पिता के घर चली गयी\ पिता द्वारा भर्तागृह भेजे जाने पर संज्ञा वडवा रूप धारण कर पति के सौम्य रूप के लिये तपस्या करने लगी । भेद खुलने पर छाया संज्ञा द्वारा वृतान्त बता देने पर सूर्य देव वड़वा रूप संज्ञा के पास जाते है । इस कथानक में छाया संज्ञा से उनके दो पुत्र सावर्णि व शनैश्चर व तपती नामक कन्या का वर्णन है । वडवा रूप संज्ञा से उत्पन्न नासत्य व दस्र दो पुत्रों तथा रेवन्त के विवरण भी मिलते हैं ।[3]

इस प्रकार सूर्य परिवार का परिगणन इस प्रकार किया जा सकता है ।

सूर्य पत्नी	पुत्र	पुत्री
संज्ञा	यम	यमुना
संज्ञा	मनु	-

---

[1] मार्क०पुराण, 103/1-3 तथा वही, 73/7/

[2] वही, 103/4

[3] वही, 105/10-11

छाया रूपिणी	सावर्णी	तपती
संज्ञा	शनैश्चर	–
वडवारूपसंज्ञा	नासत्य	–
,,	दस्र	–
,,	रेवन्त	–

इसमें मनु जो संज्ञा के ज्येष्ठ पुत्र थे, वैवस्वत मनु हुये। [1] यम शाप व अनुग्रह के कारण धर्म दृष्टि हुये [2] और इस कारण वह धर्मराज के नाम से प्रसिद्ध हुये [3] धर्मदृष्टि होकर शत्रुमित्र में वे समान व्यवहार करते थे [4] इस कारण सूर्य ने यम को लोकपालत्व व पितरों का आधिपत्य भी प्रदान किया [5] यमुना को कलिन्ददेशवाहिनी नदी किया। [6] रेवन्त को गुह्यक गणों के आधिपत्य में नियुक्त किया [7] और यह कहा कि मनुष्यों के पूजा करने पर उन्हें मंगल, सुबुद्धि, राज्य, आरोग्य, कीर्ति व उन्नति प्रदान करोगे। [8] शनैश्चर आदित्य की आज्ञा से ग्रह हुये। दोनों अश्विनी कुमारों को देवताओं का वैद्य बनाया [9]

---

(1) सोऽभून्वैवस्वतो मनुः ।।-मार्क०पुराण, 105/13-14

(2) द्वितीयः च यम शापात् धर्म दृष्टिरनुग्रहात्/वही, 105/15.

(3) धर्मोऽभिरोचते यस्मात् धर्मराजः ततः स्मृतः ।। वहीं, 105/16

(4) समो मित्रे तथा ऽहिते ।। वहीं, 105/17

(5) ददौ पिता विप्रं भगवान लोकपालताम् ।। वहीं, 105/18

(6) यमुना च नदीं चक्रे । वही, 105/19

(7) वही, 105/20

(8) वही, 105/23

(9) वही, 105/20

महाभारत में त्वष्ट्री (त्वष्ट्रा की पुत्री) को विवस्वत की पुत्री कहा गया है । उनसे उत्पन्न आश्विनी कुमारों को सूर्य का पुत्र माना गया है । सबसे छोटी कन्या तपती का विवाह संवरण नाम राजा से हुआ (1) मार्क० पुराण में सूर्य परिवारों का दो स्थानों पर विवरण मिलता है (2)

सूर्य की स्थिति अन्य देवताओं की तुलना में उच्च

विष्णु पुराण में कहा गया है कि सूर्य विष्णु के ही अंश है (3) अन्यत्र विष्णु की स्तुति करते हुये ब्रह्मा कहते हैं कि अन्धकार को दूर करने वाले सूर्य विष्णु के ही रूप है (4) और इस प्रकार प्रारम्भिक विष्णु, मत्स्य आदि पुराणों में सूर्य विष्णु के सहचर के रूप में स्वीकृत किये गये है । (5) लेकिन यह तथ्य सभी प्रारम्भिक पुराणों पर लागू नहीं होता है । विष्णु पुराण वैष्णव प्रधान पुराण होने के कारण सूर्य को विष्णु का अंश मानता है ।

---

(1) मार्क० पुराण, 75/103-105 तथा, 105 वाँ अध्याय

(2) वही, 75/34

(3) वैष्णवोंऽशः पर सूर्यः। विष्णु पु०, 2/8/56

(4) अर्केन्दुरूपश्च तमो हिनस्ति । विष्णु पु०, 4/1/87

(5) राय, एस.एन., पौराणिक धर्म और समाज, पृष्ठ 46,

मार्कण्डेय पुराण के अनेक वर्णन उपरोक्त तथ्य को गलत साबित करते है। प्रस्तुत पुराण में तो सूर्य को विष्णु, शिव, ब्रह्मा, अग्नि आदि से भी उच्च महत्ता दी गयी है । अदिति द्वारा पूजित तेजोराशिमय सूर्य ही ब्रह्मा, हरि, महादेव, इन्द्र, कुबेर, यम, वरूण, समीर, है । [1] देवता और मनुष्य उन्हें ही प्रणाम करते हैं । वे सूर्य ही कमलजन्मा ब्रह्मा के रूप में सृष्टि, अच्युत नामक विष्णु रूप से पालन व रूद्र रूप से विनाश में तत्पर होते हैं । [2] इन्द्र भी सूर्य देव की उपासना करते हैं। [3] हरि, हर, तथा ब्रह्मा द्वारा पूजित सूर्य [4] के तेज का तक्षण करके विश्वकर्मा ने उनका सोलहवॉ भाग मण्डल में रक्खा। [5] सूर्य के तेज से निकले शेष 15 भाग से शत्रुओं के विनाशार्थ विष्णु का चक्र, शिव का शूल तथा कुबेर की पालकी, यम का दण्ड, कार्तिकेय की शक्ति

---

§1§ त्वं ब्रह्मा हरिरजसंज्ञितस्त्वमिन्द्रो वित्तेशः पितृपतिरम्बुपतिः समीरः।
सोमोऽग्निर्गगनपति महीधरोऽब्धि किं स्तव्यं तव सकलात्मरूप धाम्नः॥
– मार्क० पुराण 100/36

§2§ सृजसि कमलजन्मा पालयस्यच्युताख्यः क्षपयसि च युगान्ते रूद्ररूपस्त्वमेकः ॥
वही, 100/38

§3§ इन्द्रश्चागत्य तं देवं लिख्यमानं यथाअस्तुवत्॥ वही, 103/38

§4§ हर कमलासन विष्णु संस्तुतस्य । वही, 103/65

§5§ वहीं, 104/1

तथा अन्यान्य देवताओं के सब अस्त्र विश्वकर्ता ने बनाये [1] और यह वर्णन इस बात का प्रबल सूचक है कि सूर्य की स्थिति विष्णु, ब्रहमा, शिव आदि सभी देवों से उच्च थी ।

स्वंय ब्रहमा ने सृष्टि कार्य हेतु आदित्य की उपासना को थी । सूर्य की आधा शक्ति से प्रेरित होकर ही ब्रहमा जल, मही, पवन, अग्नि रूपा देवतादि की सृष्टि करते है । [2] प्रस्तुत पुराण में सूर्य को ब्रहमा कृत स्तुति वर्णन में वह्नि स्वरूप भी कहा गया है ।[3] क्योंकि सूर्य वह्नि के रूप में पृथ्वी का जल सोखते है, तभी ब्रहमा जगत की सृष्टि और प्रथम पाक सम्पन्न करने में समर्थ होते हैं ।

यहां यह विचारणीय है कि ऋग्वेद में अग्नि को ही सूर्य रूप में उपस्थित वर्णित किया गया है अर्थात वैदिक काल में अग्नि का स्थान सूर्य की अपेक्षा प्रधान था ।[4] लेकिन पौराणिक काल में सूर्य को अग्नि की अपेक्षा प्रमुखता प्रदान की गयी है जो अग्नि रूप है, ज्वलनशील है ।

---

(1) शातितं चास्य यत्तेजस्तेन चक्रं विनिर्मितं ।
विष्णोः शूलं च शर्वस्य शिबिका धनदस्य च ।।
दंडः प्रेतपतेः शक्तिः देव सेनापते स्तथा ।
अन्येषां चैव देवानामायुधानि स विश्वकृत ।। – वही, 105/3-4.

(2) सृष्टि करोमि यदहं तव शक्तिराधा तत्प्रेरितो जलमहीपवन अग्निरूपां ।
–मार्क०पुराण, 99/8

(3) वही, 100/9.

(4) राय, एस.एन., पौराणिक धर्म और समाज, पृष्ठ 395

ब्रहमा कृत सूर्य-स्तवन सूर्य की महान शक्ति का प्रदर्शक है । प्रस्तुत पुराण के अनुसार आदित्य के तेज द्वारा उर्ध्व और अध: संतापित होने पर सृष्टि की कामना करने वाले पितामह ने सोचा कि सृष्टि-स्थिति-सहांर-कारी भास्कर के तीव्र तेज से सृष्टि के प्राणि प्राणहीन, तेजहीन होकर नष्ट हो जायेगें तो विश्व की सृष्टि कैसे होगी इसीलिये ब्रहमा ने सूर्य का स्तवन तेजोनिवृत्त करने के लिये किया था ।

इस प्रकार प्रस्तुत पुराण में कहीं कहीं सूर्य को सर्वोच्च देव के रूप में प्रस्तुत किया गया है जिनकी शक्ति ही प्रेरक है । यहॉ पर यह तथ्य विचारणीय है कि जिस समय वैष्णव, शैव, शाक्त अपने अपने इष्ट को जगत सृष्टा, पालक व संहारक वर्णित करते हुये सर्वोच्च शक्ति के रूप में व्याख्यापित कर रहे थे उस समय सौर उपासक भी इस धार्मिक प्रति-स्पर्धा में अग्रसर हुये और उन्होंने भी ऐसे अख्यानों की कल्पना की जिनमें सूर्य देव को जगत के सृजन, पालन व सहांर करने वाले ब्रहमा-विष्णु शिव से भी सर्वोच्च घोषित किया गया । ब्रहमाकृत रवि स्तुति का आख्यान इसका स्पष्ट प्रमाण है, जिसमें ब्रहमा भी सृष्टि के लिये सूर्य की प्रार्थना करते चित्रित है । इस प्रकार सृष्टि, पालन व सहांर के प्रेरक गुणसत्व रज व तम की संहति भी परम्-ब्रह्म सूर्य में स्वीकार की गई [1] और सूर्य शाश्वत माने गये [2]

---

(1) सर्ग स्थित्यन्तहेतुश्च रज: सत्वादिकान्गुणान् ।
आश्रित्य ब्रहम् विष्ण्वादिसंज्ञामभ्येति शाश्वत: ।।

– मार्क० पुराण 99/2।

(2) वही, 99/2।

इसी क्रम में उन्हें "परम पुरूष" के रूप में प्रस्तुत किया गया §1§ देवताओं द्वारा पूज्य, निराकार, विश्व का आश्रय, वेदान्तगम्य, परम, परेश, आदि पुरूष जैसे विशेषण भी सूर्य की महत्ता को घोषित करने के लिये उनके साथ संयुक्त किये गये ।§2§ योगिजनों के चिन्तनीय परमब्रहम के रूप में भी सूर्य अभिव्यंजित हुये ।§3§ उन्हें ही सौर उपासकों ने जगत के कर्ता के रूप में प्रस्तुत किया । §4§ ॐकार उनका सूक्ष्मातिसूक्ष्म रूप माना गया ।

सूर्य की यह व्यापक महत्ता गुप्तकालीन अभिलेखों से भी अभिव्यंजित होती है । स्कन्दगुप्त के इन्दौर ताम्रपत्रलेख में, जो 465-466 ई0 के लगभग का है, §5§ सूर्य को प्रबुद्ध, विचारशील ब्राहमणों द्वारा ध्यानगम्य वर्णित किया गया है जिसकी सीमा को देव, असुर आदि भी माप नहीं सकते §6§ इसी प्रकार कुमारगुप्त के मन्दसोर शिलालेख में भी §7§ सूर्य को गन्धर्व, किन्नर, सिद्ध, देवता आदि सभी के द्वारा अभिनन्दित कहा गया है । मिहिरकुल की ग्वालियर

---

§1§ –वेदविद्यात्मक श्चैव पर: पुरूष उच्यते ।। मार्क0 पुराण, 99/20

§2§ देवै: सदेडय: सतु वेदमूर्तिरमूर्तिराद्योऽखिलमर्त्य मूर्ति: ।।
विश्वाश्रयं ज्योतिरवेद्यधर्मा वेदान्तगम्य: परम: परेश: ।।
– वही, 99/22

§3§ वही, 100/11

§4§ वही, 98/12-13

§5§ श्रीवास्तव, वी. सी. सन वरशिप इन ऐंश्येट इण्डिया, पृष्ठ 211,

§6§ उपाध्याय, वासुदेव, गुप्तअभिलेख,

§7§ वही,

प्रशस्ति में भी सूर्य स्तवन के सन्दर्भ में सूर्य की महत्ता वर्णित है ।[1] गुप्तकाल की प्राप्त सूर्य प्रतिमाओं से भी स्पष्ट हो जाता है कि उस समय सौर सम्प्रदाय की महत्ता विद्यमान थी ।

सूर्य का प्राकृतिक एव जीवन प्रदाता स्वरूप तथा वैदिक परम्परा का प्रभाव

वैदिक काल के पूर्व से ही सूर्य की पूजा आकाश में चमकने वाले, प्रकाश, ज्योति, शक्ति, जीवन तथा अन्न को पकाने वाले सूर्य के रूप में होती थी । वैदिक काल में भी यह रूप पूजित था । प्रारम्भिक पुराणों में भी सूर्य के प्राकृतिक गोलाकार पिण्ड के रूप में दिखाई देने वाले जीवनदायी सूर्य का विवरण अनेकशः प्राप्त होता है । प्रस्तुत पुराण इसका अपवाद नहीं है । विष्णु पुराण के अनुसार सूर्य आठ मास तक अपने किरणों से विशिष्ट जल को ग्रहण करके चार महीने में बरसाते है, जिससे अन्न उत्पन्न होता है, जिससे जगत का परिपोषण होता है ।[2] मार्कण्डेय पुराण के अनुसार अदिति द्वारा पूजित सूर्य जगत का उपकार करने के लिये जल ग्रहण करते है[3] आठ मास तक जलग्रहण कर समस्त जल वर्षणार्थ तृप्तिकारिणी मेघरूप धारण करते हैं,[4] जल वर्षण द्वारा अवशेष औषधियों को पकाते है ।[5]

---

[1] उपाध्याय, वासुदेव, गुप्तअभिलेख,

[2] राय, एस. एन., पौराणिक धर्म और समाज, पृष्ठ 54-55

[3] जगतमुपकाराय तथापः सर्वं आददानस्य यद्रूपं ॥ मार्क0पु0, 100/19

[4] सर्वं रसं वै वर्षणाय रूपमाप्यायकं तस्मै मेंघाय । वही, 100/21

[5] अशेष औषधीगणम् पकाय...। वही, 100/20

हेमन्त काल में हिमवर्षण द्वारा सस्यपोषण करते है । [1] बसन्त ऋतु में सूर्य न अत्यन्त तपनशील होता है न अधिक शीतल होता है वे जीवन का कारण व अमृत मय है । [2] कदाचित इसी लिये सूर्य को वायु व ब्रहमाण्ड पुराण में 'जीवन' नाम दिया गया है । [3] इस सन्दर्भ में वैदिक और पूर्ववर्ती परम्परा का प्रभाव ही परिलक्षित होता है ।

वैदिक काल में ज्योतिस्वरूप, आकाश में दीप्तिमान, गोलाकार बिम्ब के रूप में सूर्य जीवनदायी शक्ति का प्रतीक था । प्रारम्भ में सूर्य अपने आकाशीय रूप में पूजित था । [4] कृषि और वनस्पति में उसका महत्व-पूर्ण योगदान था । वैदिक सभ्यता से भी पहले सूर्य की पूजा वृक्ष, फल, फूल व जीवनदाता समस्त वस्तुओं के स्वामी के रूप में प्रचलित थी जिसका पुरातात्विक प्रमाण भी उपलब्ध होता है । प्रागैतिहासिक कालीन गुफामानव गुफाओं की भित्तियों पर सूर्य के प्रतीकों को चिन्हित करते थे । इसके प्रमाण मध्य प्रदेश के रायपुर जिले की गुफाओं से मिले है । [5] वैदिक काल में भी सूर्य जीवनप्रदाता शक्ति के रूप में समादृत था । सूत्र साहित्य में भी उल्लखित सूर्य नमस्कार, सूर्य दर्शन सन्ध्योपासन आदि पूजापद्धति भी सूर्य के प्राकृतिक स्वरूप की आराधना

---

[1] सस्य पोषाय तरणे तस्य तें`ा` वही, 100/23

[2] यद्रूपं जीवनायैकं वीरूधाममृतात्मकं । वहीं, 100/26

[3] राय, एस. एन., पौराणिक धर्म और समाज, पृष्ठ 55 तथा जगतां यश्च जीवनं ॥ - मार्क०पुराण 106/72

[4] न पुरा प्रतिमा हि आसीत् पूजयेत मंडले रविः ॥ श्रीवास्तव, वी. सी., सन वरशिप इन ऐन्स्येन्ट इण्डिया, पृष्ट 28 से उद्धृत

[5] सिंह, भगवान, गुप्तकालीन हिन्दू देव प्रतिमायें, प्रथम खण्ड, पृष्ट 95

की पुष्टि करते हैं ।[1] पंचमार्क सिक्कों पर भी सूर्य के चक्र, गोलाकार आदि रूप मिलते है । इस तरह के सिक्के निश्चित रूप से इंगित करते हैं कि समाज में सूर्य के प्राकृतिक स्वरूप की मान्यता थी जिसका प्रभाव पौराणिक ग्रन्थों पर भी दृष्टिगोचर होता है ।

उपासनापद्धति - वैदिक पद्धति और पूजापद्धति दोनों का प्रचलन-

ऋग्वैदिक काल में सूर्य के प्राकृतिक बिम्ब की उपासना दिन में एक, दो या तीन बार होती थी । सन्ध्योपासना भी सूर्य पूजा का एक अनिवार्य अंग थी । वैदिक काल में सूर्य-आराधना स्तोत्रों, मन्त्रों प्रार्थनाओं आदि द्वारा की जाती थी । अग्निहोत्र भी सम्पन्न किये जाते थे । लेकिन सूत्र काल में सूर्य पूजा पद्धति में जप, अर्घ्य, मार्जन, आचमन, अघमर्षण, और उपस्थान की प्रक्रियायें शामिल हो गई थी ।[2]

आरम्भिक पुराण काल में सूर्य पूजा की 'पूजा पद्धति' का भी वास्तविक विकास हुआ जबकि पूर्वोक्त वैदिक सन्ध्योपासन, जप, अर्घ्य, आचमन आदि की पद्धति भी प्रचलित थी । क्योंकि पौराणिकों ने सूर्य के मानवीय एंव प्राकृतिक दोनों विग्रहों को स्वीकार किया था ।

मार्कण्डेय पुराण में ऐसे अनेक प्रसंग उल्लखित हैं जिनमें आध्यात्मक मन्त्रों से सूर्य का स्तवन करने का उल्लेख है । उदाहरणस्वरूप कश्यप

---

(1) श्रीवास्तव, वी. सी., सन वरशिप इन ऐन्शयेन्ट इण्डिया, पृष्ठ 50

(2) द्रष्टव्य - श्रीवास्तव, वी. सी., सन वरशिप इन ऐन्शयेन्ट इण्डिया, पृष्ट 208

और अदिति के पुत्र के रूप में जन्म लेने पर कश्यप ने प्रणामपूर्वक आधग्रकमन्त्रों द्वारा सूर्य का स्तवन किया था ।[1]

रवि के तेज को सह न सक पाने पर इन्द्र सहित सभी देवों ने लिखयमान भास्कर देव को मस्तक द्वारा प्रमाण पूर्वक कृताञ्जलि पुट से[2] वेदोक्त आधा ग्रक मन्त्र द्वारा स्तुति की थी । [3] अदिति ने भी एकाग्रचित्त नियमाहार, ... नियम परायण होकर गगनस्थित तेजोराशि-स्वरूप दिवाकर की स्तुति की थी [4] तथा नियत: स्त्रोत्र का दिन-रात जप किया था । अत: स्पष्ट है कि आरम्भिक पुराण काल में स्त्रोत्र, मन्त्र,जप, स्तुति, से सूर्यदेव को सन्तुष्ट किया जाता था । सूर्य आराधना व मन्त्रोच्चार में संगीत, वाद्य, नृत्य आदि का प्रयोग भी शामिल हो गया था । [5] मार्कण्डेय पुराण के 106 वे अध्याय में राज्यवर्धन की आयु वृद्धि हेतु धार्मिक प्रवर राजा के अनुरागीजनों द्वारा विविध प्रकार से भास्कर की आराधना का उल्लेख है, उससे पता चलता है कि उस समय सूर्य अराधना पद्धति में वैदिक मन्त्र, जाप, अर्ध्यप्रदान, अग्निहोत्र आदि पद्धति के साथ-साथ जो अन्य पद्धतियां प्रचलित थी वे निम्न• थी -

---

[1] तुष्टाव प्रणतो भूत्वा ग्रग्भिराधाभिरादरात् ॥ मार्क0पु0,102/16

[2] ग्रग्भिराधाभि: .....वेदोक्ताभि: ॥ वहीं, 103/52

[3] कृताञ्जलिपुटा: सर्वे शिरोभि: प्रणता रविं ॥ वहीं, 103/55

[4] वहीं, 100/30

[5] वहीं, 103/63/

§1§ घर में अर्घ्योपचारादि उपहार द्वारा भास्कर देव की पूजा[1]

§2§ मौनी होकर ऋकमंत्र, सामयन्त्र, यजुर्वेद मन्त्र के जप द्वारा पूजा[2]

§3§ नदी के तट पर निराहार तपस्या करके पूजा[3]

§4§ अग्निहोत्र में तत्पर रहकर दिन रात रवि सूक्त का जाप करके पूजा[4]

§5§ भास्कर की ओर दृष्टि लगाकर खड़े रहकर पूजा[5]

इस प्रकार सूर्य के उपासना के बोधक स्थल प्रार्थना सापेक्ष अधिक है इनमें सूर्य के लिये वैदिक शब्दावली व वैदिक विचारों का समन्वय है । राजा के अनुयायी जनों ने भास्कर देव की अपासना की इन विधियों को पुराण में अतिशय यत्न वाला कहा है §6§ पुन: यह उल्लेख है कि सुदामा नामक गन्धर्व ने वहाँ आकर उन सेवकों, ब्राहमणों से सिद्धों के द्वारा सेवित

---

§1§ केचित्गेहे च भास्करम् सम्यगर्घोपचाराधैरुपहारैरपूजयन् ।
मार्क० पुराण, 106/50

§2§ अपरे मौनिनों भूत्वा ऋग्जापेन तथा ऽपरे ।
यजुषामय साम्नां च तोषयाञ्चक्रिरे रविं ॥ वहीं, 106/5/

§3§ अपरे च निराहारा नदीपुलिनं शायिनः । वहीं, 106/52

§4§ अग्निहोत्र पराश्चान्ये रविसूक्तान्यहर्निशम् । वहीं, 106/53

§5§ तस्थुस्तथापरे न्यस्त दृष्टयः । वहीं, 106/53

§6§ यततां तेषा भास्कराराधनं प्रति । वहीं, 106/55

कामरूप महापर्वत में गुहविशाल नामक वन में जाकर सावधानचित्त से भानु की आराधना की सलाह दी क्योंकि उसके अनुसार इन सब कार्यों में सिद्ध क्षेत्र ही अधिक फलदायक है । §1§ तत्पश्चात् ब्राहमण गण गन्धर्व के उक्त वचन सुनकर उस वन में गये जहाँ उन्होंनें भगवान भास्कर का पवित्र मन्दिर देखा §2§ और सब वर्णों ने वहाँ नियताहार रह कर आलस्य रहित हो, धूप, पुष्प, अनुलेपन, गन्ध, दीप, जप, होम व नैवेद्य द्वारा पूजा करके सूर्य देव की स्तुति की । §3§

इसमें यह स्पष्ट वर्णन है कि इसी विधि से पूजा करने पर भास्कर देव ने प्रसन्न होकर वरदान दिया था और राज्यवर्धन को निरोग व स्थिरयौवन का वर दिया ।

इस प्रकार स्पष्ट है कि पुराणकाल में भानुआराधना में "पूजा" पद्धति का विकास हो रहा था उपरोक्त सभी विधियों में अन्तिम "पूजा", पद्धति, जो सुदामा नामक गन्धर्व द्वारा आज्ञापित थी, विशेष फलदायक थी यद्यपि उस समय अन्य वैदिक परम्परागत विधियों का भी प्रचलन था ।

<u>भक्ति का पुट</u>- आरम्भिक पुराणकाल में सूर्य पूजा में "भक्ति" का पुट दिखाई देता है। वस्तुतः सूर्य अरोग्यता, आयुवृद्धि के देव हैं

---

§1§ तस्माद्गुरू विशालाख्यं वनं सिद्धनिषेवितं ।
कामरूपे महाशैले गम्यतां तत्र वै लघु ।।
तस्मिननाराधनं भानोः क्रियतां सुसमाहितैः ।।
सिद्धक्षेत्रं हितं तत्र सर्वकामानवाप्स्यथ ।।- मार्क पुराण, 106/57-58

§2§ गत्वा तक्कानंन द्विजाः ददृशुः भास्वतः तत्रं पुण्य मायतनं शुभं ।।
-वहीं, 106/59

जिन्हें धूप, दीप, नैवेध, अर्घ्य, पुष्प, द्वारा पूजन अर्चन से यज्ञादि होम से, तपस्चर्या से, भक्ति पूर्वक आराधना से प्रसन्न किया जा सकता है।

राज्यवर्धन के अनुयायी जनो द्वारा भक्ति सहित तीन महीने तक स्तवपाठ पूर्वक पूजा करने पर भगवान भास्कर ने दर्शन दिया था ।[1]

अदिति द्वारा पूजित सूर्य देव के प्रत्यक्ष दर्शन देने पर अदिति ने उनसे यही प्रार्थना की कि हे विभो, भक्तानुकम्पक ! तुम भक्तों पर कृपा करने वाले हो, मैं तुम्हारी भक्त हूँ मेरे पुत्रों की रक्षा करो ।[2] गीता में कृष्ण कहते हैं कि मैं पत्र, पुष्प, फल प्रदान से अधिक सन्तुष्ट होता हूँ । [3] इसी के अनुरूप प्रस्तुत पुराण में भी पुष्प, धूप, दीप, नैवेद्य, से सूर्य पूजा सम्पन्न करने का विवरण प्राप्त होता है जिससे यह इंगित होता है कि सूर्य पूजा में नवीन परम्पराओं का समावेश हो रहा था जिसमें भक्ति भावना एक थी ।

अवतारवाद- अनेक स्थानों पर सूर्य के तेजोराशि मण्डल से अवतरित होकर दर्शन देने व वरदान देने का उल्लेख है। अदिति द्वारा पूजित देव तप्त ताँबे के कलेवर के समान क्रांति युक्त होकर अवतरित हुये थे ।[4] राज्यवर्धन

---

[1] तदा भक्त्या सम्यक् पूजा विधानतः । मार्क० पुराण, 106/75
नो भक्त्या प्रसन्नस्थितिमिरापह ।। वही, 106/3

[2] भक्तानुकम्पक विभो भक्ताहं पाहि मे सुतान् । वही, 100/34

[3] पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्तया प्रयच्छति ।।
तदहं भक्त्युपहृत मश्यामि प्रयतात्मनः ।। गीता

[4] ततः स्वतेजसस्तस्मादाविर्भूतो विभावसुः ।।

द्वारा पूजित सूर्य के सन्दर्भ में भी यही उल्लेख है ।[1]

मार्तण्ड देव के रूप में सूर्य का मानवीय अवतार

सूर्य के मानवीय करण के सन्दर्भ में मार्तण्डदेव के आविर्भाव का आख्यान महत्वपूर्ण है। पुराण-वर्णन के अनुसार अदिति ने दैत्यों द्वारा देवताओं के बल व राज्य को छीन लेने पर भगवान भाष्कर की स्तुति की, तब आकाश स्थिततेजोराशि समूह रवि ने सौषुम्न नामक किरण से अदिति के गर्भ से जन्म लिया । [2] मार्तण्ड देव के रूप में सूर्य का यह अवतार रूप था। 'अवतीर्य' शब्द से इसकी पुष्टि होती है। आगे चलकर इन्हीं मानवीय अवतार रूप में सूर्य रूप मार्तण्ड से संज्ञा व छाया संज्ञा का कथानक जोड़ दिया गया। ऐसा प्रतीत होता है कि जब वैष्णव, शैव, शाक्त, अपने- अपने सम्प्रदायों के उत्तरोत्तर प्रभावी विकास के लिये नये- 2 रोचक आख्यानोंकी कल्पना कर रहे थे तब सौर उपासक भी पीछे नहीं रहे उन्होनें भी रामकृष्ण अवतारों की परिकल्पना के परिप्रेक्ष्य में सूर्य के अवतारों की कल्पना करनी चाही और मार्तण्ड देव के रूप में अदिति के गर्भ से सूर्य का अवतार परिकल्पन इसी का परिणाम था। लेकिन वैष्णव अवतारों की कल्पना की तुलना में सौर उपासकों को अवतार परिकल्पन में आपेक्षिक सफलता नहीं मिली। यही कारण है कि भुवनभाष्कर के अन्य अवतारों की कथायें नहीं मिलती ।

---

[1] अवतीर्य ददौ तेभ्यो दुर्द्दशो दर्शन रविः । वही, 106/76

[2] ततोरश्मि सहस्त्रान्तु सौषुम्नाख्यो रवेः करः ।।
विप्रावतारं सचक्रे देवमातुरथोदरे ।।- मार्क० पुराण, 102/11

मूर्तिवाद और मन्दिर निर्माण

ऐसा प्रतीत होता है कि जिस समय वैष्णव, शैव, शाक्त आदि धर्मों में उन्नति और विकास के पथ पर अग्रसर होने में महत्त्वपूर्ण आख्यानों की कल्पना के साथ-2 मूर्तियों व मन्दिरों का निर्माण भी शुरू कर दिया था। उस समय अवतारवाद, भक्ति के साथ-2 मूर्तिपूजा व मन्दिर निर्माण का प्रभाव सौर उपासकों पर भी पड़ा और सौर उपासकों ने अपने धर्म को व्यापक और विस्तृत तथा लोकप्रिय बनाने के लिये भगवान भास्कर की 'लिख्यमान' आकृति की कल्पना की और इस प्रवाह में सौर मूर्ति पूजा का प्रारम्भ हुआ। ऐसा प्रतीत होता है कि प्रस्तुत पुराण के सूर्य उपाख्यानों की जिस समय रचना हो रही थी उस समय सूर्य मूर्ति की कल्पना ही की जा रही थी लेकिन उसका वास्तविक आकार निश्चित नहीं हुआ था। इसके प्रमाण में कुछ उपाख्यानों का उल्लेख किया जा सकता है, जैसे विश्वकर्मा द्वारा भानु-तनुक्षीण सम्बन्धी आख्यान में भानु के लिख्यमान मूर्ति का स्तव करने का उल्लेख है ।[1] इसके पहले सूर्य का तपन शील रूप ही प्रचलित था। उनका तेज निवृत करके विश्वकर्मा ने 'तनुपरिलेखन' किया था। वास्तव में यह अव्यक्त रूप से मूर्तिमान स्वरूप में प्रचलन, की ओर संकेत करता है। लेकिन उनकी मूर्ति का स्वरूप क्या था यह स्पष्ट नहीं । केवल इतना वर्णन मिलता है कि तेज निवृत होने पर सूर्य ने समस्त अंगों से युक्त शोभायमान शरीर धारण किया था ।[2]

---

(1) लिख्यमाने ततो भानौ । ।- मार्क पुराण 104/1

(2) वही, 105/6.

दूसरा आख्यान राजवर्धन के द्वारा सूर्य पूजा प्रसंग का है। [1] जिसमें वर्णन है कि राजा राज्यवर्धन ने काम रूप महापर्वत पर बने सूर्य मन्दिर में सूर्य की आराधना गन्ध, पुष्प, धूप, दीप, नैवेद्य से की थी ।

इसमें ज्ञात होता है कि उस समय सूर्य के मन्दिर भी बनने लगे थे और उनमें सूर्य की मूर्तियां स्थापित की जाती थी । सूर्यमूर्ति के स्वरूप के विषय में प्रस्तुत पुराण मौन है ।

इस प्रकार से अवतारवाद, भक्तिवाद, मूर्तिवाद के सम्मिलित रूप से यह अनुमान लगाया जा सकता है कि भागवतों के अवतारवाद, भक्तिवाद और मूर्तिपूजा का प्रभाव तत्कालीन समाज में सूर्य उपासकों पर भी पड़ा और भागवतों की भक्ति भावना सूर्य उपासना में भी समाहित कर ली गयी थी ।

जहां तक वैदिक मन्त्रों का प्रश्न है ? उनमें केवल सौर प्रार्थनायें, मन्त्र और स्तोत्र ही प्रधान है। इनमें सूर्य की प्रतिमा पूजा या मन्दिर निर्माण के संकेत नहीं मिलते । केवल चक्र, गोलाकार बिम्ब, आदि रूपों में सूर्योपासना के प्रमाण पौराणिक काल के पहले के मिलते हैं । इसमें सन्देह नहीं कि मौर्यकाल से ही सूर्य का मानवीय कृत स्वरूप मिलने लगता है। पटना से प्राप्त मिट्टी की एक तश्तरी पर सूर्य प्रतिमा का आलेखन है। [2] शुंग, कुषाणकाल की भी सूर्य प्रतिमायें मिली है । गुप्त काल में तो सूर्य प्रतिमायें नये प्रतीकों के साथ मिलती है । [3]

---

[1] मार्क० पुराण, 106 वाँ अध्याय,

[2] द्रष्टव्य- सिंह, भगवान, गुप्तकालीन हिन्दू देवप्रतिमाये, पृष्ठ 97

[3] वही, पृष्ठ 101

जहाँ तक प्राचीन काल में सूर्य के प्रतीक चिन्ह व मूर्ति स्वरूप का प्रश्न है- प्रागैतिहासिक गुफा मानवों ने गुफाओं की भित्तियों पर सूर्य प्रतीक के चिह्न अंकित किये थे। रायगढ़ जिले के सिंगनपुर नामक स्थान से प्राप्त गुफा- चित्र इनके प्रमाण है जिसमें सात किरणों से समन्वित उदीयमान सूर्य की आकृति अंकित है [1] इसी प्रकार हड़प्पा, मोहनजोदड़ों आदि सैन्धव नगरों के उत्खनन से स्पष्ट है कि उस समय भी मिट्टी के बर्तनों, मुहरों आदि पर चक्र, स्वस्तिक, तथा गोलाकार चमकती किरणों वाले चिह्न सूर्य के प्रतीक के रूप में अंकित किये जाते थे। कालीबंगा के उत्खनन से प्राप्त मिट्टी के पात्र का टूटे हुऐ टुकड़े में सूर्य की आकृतियों को एक पंक्ति में प्रस्तुत किया गया है।[2]

पंचमार्क सिक्कों पर सूर्य को चक्र, गोलाकार आदि रूपों में प्रदर्शित किया गया [3] मौर्य कालीन मिट्टी की एक तश्तरी पर चार घोड़ो द्वारा आकृष्यमाण रथ पर सूर्य की स्थानक प्रतिमा अंकित मिलती है [4] सूर्य का यह पहला मानवीय अंकित रूप मिलता है। शुंग काल की एक सूर्य की मूर्ति आशुतोष संग्रहालय में है जिसमें रथ पर आसीन, उषा व प्रत्यूषा से परिवारित सूर्य का अंकन है इसमें अन्धकार का मानवीय दैत्य रूप रथ के अधोभाग में प्रदर्शित है।[5] भाजा, अनन्तगुफा आदि से भी इसी प्रकार की सूर्य प्रतिमायें

---

(1) द्रष्टव्य चित्र नं0 - 17
श्रीवास्तव, वी.सी., सन वरशिप इन इन्शयेन्ट इण्डिया " से उद्धृत

(2) सिंह, भगवान, वही पृष्ठ 96,

(3) श्रीवास्तव, वी.सी., वही, प्लेट सं0 4ए, 4 बी, 4सी, और 4 डी

(4) वही, चित्र के लिये द्रष्टव्य प्लेट संख्या 7 ए तथा पृष्ठ 293

(5) सिंह भगवान, वही, पृष्ठ 98

प्राप्त हुई है । कुषाण काल में सूर्य को पैरों मे जूता पहने हुऐ, हाथ में तलवार धारण किये उदीच्य वेश में विदेशी प्रभाव के अन्तर्गत प्रदर्शित किया गया इस परम्परा में मथुरा संग्रहालय में मूर्तियां द्रष्टव्य है। आगे चलकर सूर्य के रूप तथा मुद्रा में परिवर्तन आया। गुप्त कालीन साहित्य में भी सूर्य प्रतिमा के लक्षणों का विधान प्रस्तुत किया गया फलत: गुप्त कालीन सूर्य प्रतिमायें नये कलात्मक रूपों में निर्मित हुई इस काल की सूर्य प्रतिमायें मध्यप्रदेश के भूमरा, आसाम, देवगढ़, आदि स्थानों से मिली है जिनमें उन्हें भारतीय परम्परा के अनुरूप प्रदर्शित किया गया है। अनावृत पद, अश्वयुक्त रथ पर आसीन तथा कमल युक्त हस्त आदि विशेषताये सूर्य को पूर्ण रूपेण भारतीय परम्परा के अन्तर्गत प्रदर्शित करती हैं ।" भारत कला भवन(वाराणसी) तथा मथुरा संग्रहालय में इस परम्परा की सूर्य प्रतिमायें द्रष्टव्य है ।

इस सन्दर्भ में यह ध्यातव्य है कि मत्स्य पुराण में भी सूर्य प्रतिमा में पैर न बनाने का निर्देश है इस पुराण में कहा गया है कि जो व्यक्ति सूर्य की पैरों के साथ आकृति बनाकर पूजा करता है वह पाप का भागी होता है इस लिये देवप्रतिमा में सूर्य का पैर नही बनाना चाहिये ।(1) सम्भवत: इसी परम्परा के अनुरूप गढ़वा के पाषाण खण्ड पर अनावृत पैर वाले सूर्य का अंकन है।(2) गुप्त काल में सूर्य के साथ-2 उनकी पत्नियों व अनुचरों का भी अंकन मिलता है।

गुप्तशासक कुमारगुप्त के काल में रेशम बुनने वाली श्रेणी द्वारा मन्दसोर के सूर्य मन्दिर के जीर्णोद्वार का विवरण तत्कालीन साक्ष्यों से मिलता है

---

(1) मत्स्य पु0, 261/1-6 तथा 11/31-33 तथा शतपथ ब्राहमण, 4/4/55

(2) सिंह, भगवान, वही, पृष्ठ 105 से उद्धृत

जिसमें गुप्त काल में सूर्य मूर्तियों व मन्दिरों के निर्माण की पुष्टि होती है। वर्धन वंशी अनेक शासक सूर्योपासक थे। तेरहवीं सदी का उड़ीसा का कोणार्क स्थित सूर्य मन्दिर सूर्य पूजा का ज्वलन्त प्रमाण है।

प्रस्तुत पुराण में यह वर्णन है कि सूर्य का रूप पहले मण्डलाकार था [1] बाद में विश्वकर्मा द्वारा शाकद्वीप में शातन करने पर सूर्य ने कान्त कलेवर धारण किया था। [2] इस रूप में समान अवयव वाले विस्तृत रथ पर चढ़कर घोड़े के द्वारा विचरण करने वाले, सप्ताश्वशाली, लिखित मूर्ति" का उल्लेख हुआ है। [3] पुराण के इस वर्णन प्रसंग में पूर्वोक्त सूर्य के प्राकृतिक रूप से मूर्तिमान स्वरूप के विकास की ही झलक स्वीकार की जा सकती है।

---

(1) .... भास्वतो रूपं प्रागासीत्परिमण्डलम् ।। मार्क पुराण, 103/39

(2) मार्क पुराण, 105/1-2

(3) रथमधिरूह्य समावयवं चारुविकम्पितम् ... ।। वही, 104/8

तथा

लिख्यमाने ततो भानों ...... ।। वही, 104/1

वपुर्दधार मार्तण्डः सर्वावयव शोभनम् ।। वही, 105/6

सूर्य का सौम्य व उग्र रूप -

सूर्य के सौम्य व उग्र रूप यानि उपासनीय व शमनीय दोनों ही रूपों का उल्लेख मार्कण्डेय पुराण में आया है । [1] दुर्निरीक्ष्य व सौम्य-सुधाकर इन दोनों ही रूपों से यह अग्निसोममय विश्व निर्मित हुआ है ।[2] उपासनीय रूप का तात्पर्य सौम्य पक्ष से तथा शमनीय का तात्पर्य प्रचण्ड पक्ष से है । वैदिक कालीन सूर्य का स्वरूप भी इन दोनों से आवेष्टित था लेकिन वैदिक ऋषियों ने सूर्य के सौम्य व मंगलमय रूप पर ही बल दिया । [3]

सौम्य रूप -

पुराणों में भी सूर्य के सौम्य रूप को ही ज्यादा प्रश्रय दिया गया है । मार्क० पुराण में अदिति द्वारा पूजित सूर्य सौम्य रूप युक्त थे । इस रूप में ही सूर्य जगत के जीवन है ।[4] जो सूक्ष्म तथा सौवर्ण

---

[1] यस्यैकमक्षरं रूपं प्रभामण्डल दुर्दृशम् ॥
द्वितीयमैन्दवं सौम्यं स नो भास्वान्प्रसीदतु ॥
- मार्क. पुराण, 106/73

[2] ताभ्यां च तस्य रूपाभ्यामिदं विश्वं विनिर्मितम् ॥
अग्नीसोममयं भास्वान्सः नो देव प्रसीदतु ॥
वही, 106/74

[3] राय, एस.एन. पौराणिक धर्म व समाज, पृष्ठ, 397

[4] मार्क० पुराण, 106/72

तनुधारी है । [1] जगत का उपकार करने के लिये इसी सौम्य रूप में आठ मास तक इन्दुमय रस ग्रहण करने के लिये तीव्र मूर्ति धारण करते हैं [2] उसी रस को वर्षण द्वारा तृप्तिकारिणी मेघमूर्ति से जगत को सन्तुष्ट करते है ।[3] जल वर्षण द्वारा अशेष औषधियों को पकाते हैं । [4] हेमन्त काल में तथा बसन्त ऋतु में अत्यन्त सौम्य रूप धारण करते है [5] अमृतमय इस रूप से ही देवता व पितर आप्यायित होते हैं ।[6] यही सूर्य का सोममय यानि सौम्य रूप है [7] इसी रूप में वे निरोगता तथा आयु वृद्धि, करते हैं । जो दिन-रात्रि की व्यवस्था के कारण है ।[8] तमोनाशक, ज्ञान में एक मात्र आधार स्वरूप, विशुद्ध, अमलात्मा, है ।[9] जो अतिशय

---

[1] सौवर्णि बिभ्रतेतनुं । वहीं, 100/18

[2] यद्रूपं तीव्र गृहीतु-मष्टमासेन कालेनेन्दुमयं रसं । वही, 100/20

[3] तमेव मुञ्चतु: सर्वं रसं वै वर्षणाय यत् ।
रूपमाप्यायकं भास्वंस्तस्मै मेघाये ते नमः ॥ मार्क०पुराण, 100/21

[4] वही, . 100/23

[5] बसन्ततौ रवे सौम्यं तस्मै देव ॥ वही, 100/24

[6] वही, 100/25

[7] सोमात्मने ॥ वही, 100/26

[8] दिनकृते··॥ वही., 75/6

[9] वहीं, 75/3/

पावन, पुण्यकर्मा, अनेक काम्यविषय दायक है । [1] कालीदास जो गुप्तयुगीन कवि माने जाते है, ने भी सूर्य के सौम्य रूप का वर्णन किया है जिसमें उनके द्वारा जल रसरूप में ग्रहण करने पर पश्चात् जलवर्षन द्वारा जगत कल्याण का उल्लेख किया है । [2] प्रणतजनवत्सल, [3] त्रिभुवनपावन जगत का हित करने के लिये सदा समान अवयव वाले मनोरम है । [4] पुराणानुसार वे महाकारूणिक, उत्तम चाक्षुष विषय के आलय स्वरूप भी है । [5]

रौद्र रूप -

मार्कण्डेय पुराण में सौम्य के अतिरिक्त सूर्य के रौद्र या शमनीय रूप को भी वर्णित किया गया है । इस रूप में सूर्य देव अग्नि पुञ्ज के रूप में प्रतिपादित किये गये है, जो तेजोराशि मण्डल के रूप में था जिसमें तेज से त्रिभुवन व्याकुल हो गया था समस्त प्राणी उस रूप के तेज से प्राणीहीन व जल शुष्क हो गया था । [6] जिसमें ब्रहमा के सृष्टि कार्य में भी विघ्न पैदा होने लगा । [7] जिससे ब्रहमा ने

---

[1] वहीं, 104/3

[2] कालिदास, रघुवंश, X, 58वॉ श्लोक

[3] मार्क0 पुराण, 104/10

[4] मार्क0 पुराण, 104/8

[5] महाकारूणिकोंत्तमाय सूर्याय चक्षुः प्रभवालयाय ।। वहीं, 104/4

[6] अप्राणाः प्राणिनः सर्व आपः शुष्यन्ति तेजसा ।। वही, 100/3

[7] सृष्टिः कृतापि में नाशं प्रयास्यत्यभितेजसा ।। वही, 100/2
तथा, सृष्टेः विघाताय ।। वहीं, 100/12

स्तुति द्वारा प्रसन्न करके सूर्य देव का तेज निवृत करके स्वल्प तेज धारण सहित सौम्य रूप धारण करने को कहा था । [1] पुराण वर्णित प्रसंग के अनुसार सूर्य के शमनीय, तेजोराशिरूप स्वरूप को देखकर अदिति भी भयभीत हो गयी थी [2] और उसको देख सकने में समर्थ न थी । [3] वह सूर्य का रूप 'तेजसां संघातः' [4] था जो दुर्दृश था, उनका अद्वितीय प्रकाशमान प्रभामण्डल दुर्निरीक्ष्य था [5] लेकिन दुर्निरीक्ष्य होकर भी अदिति द्वारा आराधना किये जाने पर सूर्य देव ने सौम्य रूप में उदयकालीन प्रभामण्डल से युक्त दर्शन दिया था [6] इसके पहले वे 'अनलमयूरव शायिने,' अग्नि सदृश किरणमाली थे । पुनश्च संज्ञा व छाया संज्ञा के कथानक में यह उल्लेख है कि सूर्य अपने अत्यधिक तेज से सचराचर तीनों लोक को तापित करते थे । [7] उनके इस महत तेज को उनकी पत्नी संज्ञा भी सहन न कर सकी थी [8] और

---

[1] उपसंहर तेजो यत्तेजसः संहतिस्तव ॥ मार्क० पुराण, 100/12

[2] मार्क॰ पुराण, 100/31-32

[3] न पश्यामि त्वां गोपते ॥ मार्क० पुराण, 100/32

[4] वहीं, 100/34

[5] यस्यैकमक्षरं रूपं प्रभामण्डल दुर्दृशं । वही, 106/73

[6] वहीं, 106/76-77

[7] यत्तेजो ऽभ्यधिकं तस्य मार्तण्डस्यं विवस्वतः ॥
तेनाति तापयामास त्री लोकान्सचराचरान् ॥
– वही, 103/5

[8] असहन्ती महत्तेजः ---। वहीं, 103/6/

छाया संज्ञा को वहाँ अपनी जगह छोड़कर पिता के घर चली गयी थी । विश्वकर्मा ने उनके उस महत्त तेज को निवर्तित करके उन्हें कान्त रूप प्रदान किया था । (1) विश्वकर्मा ने उनके तेज का सोलहवां भाग मण्डल में रखा जिससे पन्द्रह भाग निकल जाने से सूर्य का कलेवर सौम्य व कान्तियुक्त हो गया था । (2) और उन्होंने शातित तेज होकर समस्त अंगो से युक्त शोभायमान शरीर धारण किया था । (3) इस प्रकार स्पष्ट है कि मार्क० पु० में रौद्र रूप से सौम्य रूप की प्रतिष्ठा दिखाई गई है । सभी आख्यानों में (अदिति, संज्ञा आदि) पहले सूर्य के शातित या शमनीय रूप ही प्रदर्शित है, तदनन्तर सौम्य कांति-वपु धारण करने का प्रसंग है । इस प्रकार पुराणकार सूर्य के सौम्य रूप पर बल देता प्रतीत होता है जो लोक मंगलकारी, जगत के जीवन का हेतु है।

---

(1) रूपं निर्वतयाम्येत्तत्तव कान्तं दिवस्पते । वही, 103/38.

(2) शातितैस्तेजसो भागैर्दशाभिः पञ्चभिस्तथा ॥
अतीव कांतिमच्चारू भानोरासीत्तदा वपुः ॥
– मार्क॰ पुराण, 104/2

(3) शातित तेजाः स शुशुभे नातितेजसा ॥
वपुर्दधारं मार्तण्डः सर्वावयवशोभनम् ॥ वही, 105/6/

सूर्य के विविध नाम और उनका लोकोपकारी रूप –

प्रारम्भ से ही सूर्य गोलाकार बिम्ब के रूप में अन्धकार के विनाशक एवं प्रकाश के प्रसारक रूप में मान्य रहें । मार्क० पुराण में वर्णित 'तिमिरारि'(1) 'निर्धूततमसे,' (2) 'तमः पटल पटावपाटिने'(3) आदि विशेषण सूर्य के तमोपहारी रूप को स्पष्ट करते है । विश्वकर्मा कृत रवि-स्तुति में उन्हें अंधकार समूह का विनाश करके जगत में प्रकाश पाने वाला कहा गया है ।(4) वर्णन क्रम में यह भी आख्यात है कि जगत के तिमिर रूप आसव के पान के कारण ही उनका वर्ण लाल है(5)

प्रकाश प्रकीर्ण करना सूर्य का प्रमुख कार्य है, क्योंकि वे ज्योतिपुंज, तेजोराशि समूह, भास्कर,(6) भास्वान्, शुद्ध ज्योतिस्वरूप(7), प्रकाशात्मक स्वरूप(8) है । प्रकाश को प्रदान करने व अन्धकार का नाश करने के

---

(1) मार्क. पुराण, 74/33
(2) वही, 75/3
(3) वहीं, 104/2
(4) त्वमु मयूरवसहस्रपुर्जगति विभासि तमांसि नुदन् ।। वही, 104/6
(5) वहीं, 104/7
(6) वहीं, 75/6
(7) वहीं, 75/3
(8) वहीं, 75/6

कारण ही वे 'दिवाकर'[1] है, 'दिनपति' भी उनकी एक उपाधि है । और इस रूप में कमल कुल के अवबोधन के कारण भी है ।[2]

आठ मास तक वर्षा का जल सोख कर चार मास में उसे ही वर्षा के माध्यम से जगत में निक्षेप करने के कारण सूर्य ही कृषि के आधार है । और इस रूप में वे जगत के 'जीवन' स्वरूप है ।[3]

आयु, स्वास्थ्य, निरोगता और स्थिरयौवन के अभिलाषी भक्त सूर्य की आराधना कर अभीष्ट प्राप्त कर सकने में समर्थ होते हैं । मार्क० पुराण के वर्णनानुसार राजा राज्य वर्धन ने अपने पुत्र, स्त्री, व पुत्र बान्धव सहित सूर्य पूजा द्वारा आयु, निरामय स्वास्थ्य, पूर्ण कोश, विजितशत्रु व स्थिरयौवन प्राप्त कर दस हजार वर्ष का जीवन प्राप्त किया था[4] इस प्रकार सूर्य उपासकों को अरोगी, धनवान, श्रीमान् और महाप्राज्ञशील बनाते है ।[5]

भानु चरित्र का श्रवण करने से पातकों का नाश होने का भी प्रसंग प्रस्तुत पुराण में वर्णित है ।[6]

---

(1) मार्क०पुराण, 74/39, 102/6, 106/64

(2) ....कमल कुलावबोधिने ।। वहीं, 104/2

(3) .....भास्वान्जगतां यश्च जीवनं । वहीं, 106/72

(4) वहीं, 106वाँ अध्याय

(5) वहीं, 107/39

(6) वहीं, 107/40

गोलाकार बिम्ब रूप में आकाश में स्थिर रहकर भी सूर्य ज्योतिष में ग्रहों के स्वामी भी है ।[1] आकाश उनका स्थान है लेकिन वे सम्पूर्ण दिशाओं, वसुधा व अन्तरिक्ष सभी को प्रकाशित करते हैं ।[2] वे उदयाचल के शिर के माल्य स्वरूप व्यक्त किये गये है ।[3] सर्व लोक हितकारी, 'महाकारुणिक,'[4] 'प्रणत जनवत्सल,' 'प्रणतहितानुकम्पिन्'[5] आदि विशेषण सूर्य के लोकोपकारी और भक्तानुग्रह स्वरूप को अभिव्यक्त करते हैं ।

भगवान सूर्य ही आदि देव है ।[6] आदि में उत्पन्न होने के कारण आदित्य भी उनका अभिधान है ।[7]

लोक में शान्ति स्थापना भी उनका प्रधान कर्तव्य है[8] शत्रुओं का नाश करने के कारण अरिनिषूदन भी उपाधि है ।[9]

---

[1] मार्क० पुराण, 106/62

[2] वहीं, 106/63, 100/17

[3] ·····क्षणमुदयाचलमौलिमणिः ॥ वहीं, 104/6

[4] वहीं, 104/3, 104/4,

[5] वहीं, 104/10, 104/2

[6] आदि देवोऽसि । वहीं, 103/48

[7] आदित्य संज्ञा-मगमदादावेवयतो अभवत् ॥ -वहीं, 99/14

[8] वहीं, 103/49

[9] ·····अरिगणसूदन····। वहीं, 104/9

सौर उपासकों ने सूर्य को जगत का कारण[1] लोकत्रय का कारण[2] जगतस्य प्रदीपभूत,[3] अज[4] स्थितिकर्ता,[5] जगत्प्रतिष्ठास्वरूप,[6] स्वायम्भुव[7] भी व्यक्त किया । वस्तुत: सूर्य का लोक मंगलकारी रूप ही अधिक मान्य रहा इस रूप में वे लोकहित में रत,[8] जगतहितैषी,[9] प्रपन्नार्तिहर[10] कहे गये ।

सूर्य के लिये प्रयुक्त 'अनलमयूखमायिने'[11] 'गोपते'[12] 'तपन'[13] आदि नाम सूर्य के अतीव प्रचण्ड रूप के द्योतक है । सूर्य के लिये आख्यात

---

[1] मार्क० पुराण, 104/10

[2] वहीं, 104/4

[3] वहीं, 104/10

[4] वहीं, 104/4

[5] वहीं, 102/7

[6] वहीं, 104/5

[8] वहीं, 104/6 तथा 104/3

[9] ...जगत्प्रतिष्ठाय जगद्हितैषिणे ॥
वहीं, 104/5

[10] वहीं, 102/7

[11] वहीं, 104/3

[12] वहीं, 102/5

[13] वहीं, 100/31

'वेदान्तगम्य'[1] 'वेदमूर्ति'[2] 'ऋगमय', 'साममय' व 'यजुर्मय', 'त्रयीमय'[3] आदि नाम वैदिक पृष्ठभूमि से उनका सम्बन्ध अभिव्यंजित करते है ।

देवों के भी द्वारा सदा पूजनीय होने के कारण सूर्य 'देवाधिदेव' है ।[4] वे ही परम पुरूष और शाश्वत पर ब्रह्म भी आख्यात है ।

राज्यवर्धन आख्यान में ब्राहमणों द्वारा सूर्य की स्तुति में जिन नामों की चर्चा है उनमें प्रमुख है-भास्कर, 'सविता', 'पूषा', 'दिवाकर', 'अर्यमा', 'स्वर्भानु', 'दीप्तदीधिति,' तथा 'योगीश्वर' ।[5]

इनमें सविता, पूषा, अर्यमन् वैदिक काल से ही आदित्य वर्ग में अन्तर्निहित थे । [6] लेकिन प्रस्तुत पुराण में पूषा को सूर्य के ही एक नाम के रूप में अभिव्यक्त किया गया है ।

---

(1) मार्क० पुराण, 99/22

(2) वहीं, 99/22

(3) वहीं, 99/6

(4) वहीं, 99/22

(5) आदित्यं भास्करं भानुं सवितारं दिवाकरम्
पूषाणमर्यमाणं च स्वर्भानुं दीप्तदीधितिम ॥
चतुर्युगान्तकालाग्निदुष्प्रेक्ष्यं प्रलयान्तगम् ॥
योगीश्वरमनन्तं च रक्तं पीतं सितासितम् ॥ वहीं, 106/64-65

(6) विस्तृत विवरणके लिये द्रष्टव्य श्रीवास्तव, वी. सी., सन् वरशिप इन एन्शयन्ट इण्डिया, पृष्ठ 103,

गुप्तकालीन अभिलेखों में भी सूर्य के जो नाम उपलब्ध होते हैं उनमें 'सविता', 'भास्कर', 'भानु' आदि प्रमुख है ।[1] कालीदास जो गुप्तकालीन माने जाते हैं, के ग्रन्थों में भी 'सूर्य', 'सावित्री', 'रवि', 'भानु', 'आदित्य', 'अर्क', 'विवस्वत', 'भास्वन', और 'सप्तसप्ति:' नामों का उल्लेख मिलता है ।

सविता को प्रस्तुत पुराण में स्तुतिप्रसंग के सन्दर्भ में 'यज्ञेश' भी कहा गया है ।[2] इस रूप में विद्वतगण अखिल यज्ञमय विष्णु के रूप में यज्ञ द्वारा उनकी अर्चना करते हैं ।[3] ब्रह्मा कृत रविस्तुति में सूर्य यज्ञरूप और योगियों के परमचिन्तनीय वर्णित किये गये है[4] सम्भवत: एक स्तर पर सूर्य का विष्णु से तादात्म्य स्थापित किया जा रहा था । चूंकि वैदिक काल में विष्णु आदित्य वर्ग के देव थे, कालान्तर में जब वैष्णव धर्म के अधिनायक के रूप में विष्णु की महत्ता बढ़ी तो आदित्य (सूर्य) वैष्णव धर्म के प्रभाव में विष्णु से और यज्ञ से समीकृत किये गये और उन्हें शंख, चक्र, गदा, पद्म धारण करने वाले विष्णु रूप में भी प्रस्तुत किया गया ।

---

(1) उपाध्याय, वासुदेव, गुप्त अभिलेख,
जिन अभि० में सूर्य पूजा के संकेत है वे है - इन्दौर ताम्र पत्र लेख, मन्दसौर शिलालेख, ग्वालियर शिलालेख, निर्मन्द्र ताम्रलेख (6वीं सदी ई०)

(2) मार्क० पुराण, 100/37

(3) यज्ञैर्यजन्ति परमात्मविदो भवन्तं विष्णुस्वरूपमखिलेष्टिमयं विवस्वन् ॥
वहीं, 100/10

(4) नमस्ते देवरूपाय यज्ञरूपाय ते नम: ॥
परब्रह्म स्वरूपाय चिन्त्यमानाय योगिभि: ॥ वहीं, 100/11

मार्तण्ड देव के रूप में सूर्य की उत्पत्ति और सूर्याधिकार का वहन-

वैदिक काल में मार्तण्डदेव का स्थान द्वादशादित्यों में था ।[1] लेकिन प्रस्तुत पुराण में मार्तण्ड सूर्य का ही एक नाम वर्णित है और इस प्रकार सूर्य और मार्तण्ड में एकता स्थापित करने का प्रयास किया गया है।

मार्तण्ड शब्द की उत्पत्ति की व्याख्या करते हुये प्रस्तुत पुराण में वर्णन है कि अदिति के पुत्र के रूप में मार्तण्ड देव का जन्म हुआ था । गर्भाण्ड को मारित कहने के कारण उसका नाम 'मार्तण्ड' पड़ा ।[2] वस्तुत: मार्तण्ड सूर्य के ही अवतार थे । जिनके तेज से महाअसुरगण दग्ध होकर भस्म हो गये थे ।[3] मार्तण्ड का एक नाम 'विवस्वान' भी है[4] सूर्य देव ने अदिति के द्वारा पूजित होने पर कश्यप के पुत्र के रूप में मार्तण्ड नाम से जन्म लिया था । यही सूर्य का लौकिक, मूर्तिमान, स्थूल रूप था । इस रूप में संज्ञा उनकी पत्नी थी । जो त्वष्ट्रा की पुत्री थी । मत्स्य

---

[1] द्रष्टव्य, राव, एस. एन., पौराणिक धर्म और समाज ।

[2] मारितं ते यत: प्रोक्तमेतदण्डं त्वया मुने ॥
तस्मान्मुने सुतस्तेऽयं मार्त्तण्डाख्यो भविष्यति ॥
मार्क० पुराण, 102/19

[3] वही, 102/24

[4] तस्य मार्तण्डस्य विवस्वत: ॥
– वही, 103/5

पुराण में उत्तरी दिशा में अर्चनीय सूर्य को मार्तण्ड नाम दिया गया है [1] मत्स्य पुराण के एक अन्य प्रसंग में कहा गया है कि मृत अण्ड से उत्पन्न होने के कारण इसे ही मार्तण्ड कहा गया [2]

सूर्य का परम सूक्ष्म रूप और रवि का आविर्भाव -

सूर्य के पूर्वोक्त स्थूल रूप के अतिरिक्त उनके सूक्ष्मातिसूक्ष्म स्वरूप का विवरण भी प्रस्तुत पुराण में प्राप्त होता है ।

इस सन्दर्भ में ॐ को ही सूर्य का सूक्ष्म स्वरूप स्वीकार किया गया है [3] और क्रमशः भूः, भुवः, स्वः, महः, जन, तपः और सत्य को सूर्य का अपेक्षाकृत उत्तरोत्तर स्थूल या मूर्त रूप को संज्ञा दी गयी है । [4]

इस प्रकार विश्व के आदि और अन्त में परम् सूक्ष्म, रूपविहीन ॐकार रूप परमात्मा का समीकरण मार्तण्ड देव के सूक्ष्म रूप से किया गया और सूर्य के इस रूप को आदि में उत्पन्न होने के कारण 'आदित्य' की भी संज्ञा प्रदान की गयी । यहाँ पर औपानिषदिक दर्शन का प्रभाव दृष्टिगत

---

(1) मत्स्य पु0, 78/6

(2) मत्स्य पु0, 2/36

(3) ओमित्यस्मात्स्वरूपात्तु सूक्ष्म रूपं रवेः परम् ॥

– मार्क॰ पुराण, 99/24

(4) वहीं, 99/23 से 25

है । उपनिषदों में परम् अव्यक्त परमात्मा का तादात्म्य ॐकार से स्थापित करते हुये एक ब्रह्म की सत्ता का प्रतिपादन सर्वत्र दृष्टिगोचर होता है ।

सूर्य के इस परम् सूक्ष्म रूप की उत्पत्ति के सम्बन्ध में यह आख्यात है कि सृष्टि के पहले जगत में अन्धकार होने पर एक बड़ा अंडा उत्पन्न हुआ जिसके मध्य ब्रहमा स्थित थे उन्होंने सर्वप्रथम उस अंडे का भेदन किया जिससे ॐकार का महाशब्द गुंजायमान हुआ जो स्वयं सूर्य का स्वरूप था [1] इस प्रकार सूर्य जगत के अव्ययात्मक कारण माने गये । [2]

मार्कण्डेय पुराण के सूर्य विषयक वर्णन और मगोय प्रभाव-

पुराणों में ऐसा वर्णन मिलता है कि शाकद्वीप के निवासी मग नामक जाति [3] के लोग सूर्योपासक थे । [4] ये मग कुषाण लोगों के साथ भारत आये रहे होंगें । [5] गरूण पु0 के अनुसार इन्हें भारत वर्ष में लाने का श्रेय श्रीकृष्ण के पुत्र साम्ब को है जिन्होंने अपने कुष्ठ रोग की निवृत्ति के लिये चन्द्रभागा नदी (चेनाब) के तीर पर सूर्य का मन्दिर बनवाया परन्तु भारत में उचित

---

(1) मार्क0 पुराण, 98/20 से 25

(2) आदित्य संज्ञा-भगमदादावेब यतोऽभवत् ।।
विश्वस्यास्य महाभाग कारणं चाव्ययात्मकम् ।। वहीं, 99/14

(3) भविष्य पु0 1/139 उपाध्याय, बलदेव, पुराण विमर्श
पृष्ठ 324-325 से उद्धृत

(4) मकारो भगवान देवो भास्करः परिकीर्तितः ।।
मकाराध्यान योगाच्च मगा ह्येते परिकीर्तितः । भविष्य पु0 1/139/
वही, से उद्धृत
मं मंकर सूर्य गच्छति मगः - सूर्योपासकः इति ।

पुजारी के न मिलने पर इन ब्राहमणों को शाकद्वीप से गरूड़ द्वारा बुलवाया और भारत में सूर्य की तान्त्रिक पूजा का अवतार हुआ । भविष्य पु० में भी यही वर्णित है । इन्हीं के प्रभाव से सूर्य की बूटधारी प्रतिमायें बनने लगी इस प्रकार यह सर्वमान्य रूप से स्पष्ट है कि भारतीय सौर धर्म की प्रतिमा पूजा विदेशी प्रभाव से प्रचलित हुयी ।[1] ईरान के मगपुरोहित सूर्य की उपासना मिथ्र, मिहिर नाम से करते थे, इनके आने के पहले भारत में सूर्य की उपासना व पूजा चक्र या कमल के माध्यम से होती थी । इस मगीय सौर उपासना का विवरण विविध पुराणों में भी मिलता है जिनमें साम्ब पु० मुख्य है ।

प्रस्तुत पुराण में न ही सूर्य प्रतिमा के लक्षणों, न ही मन्दिर के आकार प्रकार का उल्लेख है लेकिन विश्वकर्मा द्वारा आदित्य की स्तुति में एक स्थान पर 'मिहिर' शब्द सूर्य के लिये प्रयुक्त हुआ है ।[2] यह विशेष शब्द मगों में प्रचलित था अतः प्रस्तुत पुराण में इस शब्द विशेष से संयुक्त अंश या तो अवान्तरकालीन अंश माना जा सकता है या संस्करण का परिणाम । स्वंय गुप्तकालीन प्रारम्भिक अभिलेख (मन्दसौर शिलालेख तथा ग्वालियर प्रशस्ति) में सूर्य, सवितृ, अर्क, आदित्य नाम प्राप्त होते हैं । पहली बार गुप्तकालीन निर्मन्द कॉपर प्लेट इन्सिक्रप्सन में 'मिहिर' का उल्लेख है यह अभिलेख 6वीं सदी का है [3] अतः मार्कण्डेय पु. का. उपरोक्त प्रसंग छठी शताब्दी के पहले या आस-पास का रचित माना जा सकता है ।

---

(1) राय, एस. एन., पौराणिक धर्म व समाज पृष्ठ 40 ।
(2) मिहिर विभाति यतः सुतरां त्रिभुवन भावन भानिकरैः ।। मार्क. पु., 104/7
(3) श्रीवास्तव, वी. सी. सन वरशिप इन इन्सयेन्ट इण्डिया, पृष्ठ 216

दूसरा महत्वपूर्ण तथ्य यह है कि राज्यवर्धन द्वारा पूजित आदित्य-पूजा-प्रसंग में कामरूप में महापर्वत पर स्थित गुहविशाल वन में स्थित भास्कर मन्दिर का तो उल्लेख है[1] लेकिन सूर्य प्रतिमा के आकार प्रकार के विषय में यह पुराण मौन है ।

अतः सूर्य मूर्ति का विवरण, मन्दिरों के आकार-प्रकार, पुरोहितों के कर्तव्य आदि विवरण के अभाव में मार्क० पुराण के तद्विषयक अंशों को प्रारम्भिक स्तर पर रख सकते हैं क्योंकि इन विवरणों का समावेश अवान्तर कालीन घटनायें है ।[2] इस प्रकार इनसे पुराण के काल निर्णय में भी सहायता मिलती है ।

यहाँ पर ध्यातव्य है कि मार्कण्डेय पुराण में आदित्य सूर्य के तेज को सहन न कर सकने, छाया संज्ञा के रूप में स्थिर रहकर संज्ञा का प्रत्यागमन, फलतः विवस्वान के तेज का विश्वकर्मा द्वारा शातन करने का विवरण दो स्थलों पर मिलता है । मन्वंतर वर्णन क्रम में वैवस्वत मन्वन्तर के विवरण में उपलब्ध सूर्य सम्बन्धी आख्यान पूर्ण रूपेण मगीय प्रभाव से मुक्त है ।[3] जब कि अदिति द्वारा पुनः पूजित सूर्य स्तुति अंश में सूर्य पूजा पर मगीय प्रभाव

---

(1) मार्क० पुराण, 106/57-58

(2) राय, एस. एन., पौराणिक धर्म व समाज पृष्ठ 399

(3) मार्क० पुराण, अध्याय 74 तथा 75

(4) वहीं, अध्याय 103

परिलक्षित होता है ।[1] इस विवरण में यह आख्यात है कि संज्ञा जब सूर्य का तेज सहन न होने पर बड़वा रूप में तपस्या करने लगी तब विश्वकर्मा ने मार्तण्ड को शाकद्वीप में[2] भूमि यन्त्र पर आरोपण पूर्व तेज शातन करने का उपक्रम किया था[3] जिससे सम्पूर्ण जगत के नाभिस्वरूप आदित्य के घूमने से समुद्र गिरि, वन वेष्टित पृथ्वी, आकाश में फिर गया था, चन्द्र ग्रह, तारा, दिसंकुलगंगन नीचे गिरता सा आकुल होने लगा, समुद्रों का जल उछलने लगा, महापर्वत समूह शिखर बिखरने लगे, चारों दिशाओं में भ्रमण से सम्पूर्ण जगत अतिशय व्याकुल हो गये[4] तदन्तर ब्रहमा आदि देवों ने स्तुति की[5] इन्द्र ने आकर सूर्य देव की मूर्ति लिख उनकी स्तुति की[6] लिख्यमान मूर्ति को तदन्तर सप्त ऋषियों ने बाल्यखिल्यगणों, विधाधरों, यक्ष, राक्षस, पन्नगगणों, ने स्तुति की ।[7] सूर्य देव के लिख्यमान हाने पर अप्सराओं के नृत्य बाद्य, संगीत से जगत कोलाहल से पूर्ण हो गया[8] सब

---

[1] मार्क० पुराण, अध्याय 103,

[2] शाकद्वीपे·· वहीं, 103/40

[3] भ्रमिमारोप्य तत्तेज: शातमायोपचक्रमे ।। वहीं, 130/40

[4] वहीं, 103/41 से 46

[5] मार्क० पुराण, 103/47

[6] वहीं, 103/50

[7] वहीं, 103/51-56

[8] वहीं, 103/62-63

देवताओं ने लिख्यमान सहस्त्रांशु को प्रणाम किया और इस प्रकार विश्वकर्मा ने भानुतनु क्षीण किया ।[1] इसी प्रसंग में विश्वकर्मा ने लिख्यमान मूर्ति का स्तव किया जिसमें "मिहिर" शब्द उल्लिखित है ।[2]

इसी विवरणांश में शाकद्वीप में विवस्वान के तेज के शातन का जो उल्लेख है उसे सूर्य पूजा में शाकद्वीपीय मग प्रभाव का द्योतक माना जा सकता है । जैसा कि पूर्व में कहा गया है कि शाकद्वीपीय मग सूर्योपासक थे और वहीं से सूर्य प्रतिमा पूजा भारत में आयी ।

उपरोक्त पुराणांश में इन्द्र द्वारा भानु का वपु: लिखने (लिख्यमान वपु) का जो उल्लेख है वह मगीय प्रभाव से सूर्य प्रतिमा पूजा के प्रारम्भ का संकेत माना जा सकता है ।

पूरे आख्यान को उस स्थिति विशेष का सूचक माना जा सकता है जब शाक द्वीपीय सूर्य पूजा का भारत में प्रचलन शुरू हुआ तब एक प्रकार से सम्पूर्ण जगत में विवाद, विरोध, विरोधाभास, विद्रोह, कोलाहल सा व्याप्त हो गया जिसे सम्पूर्ण जगत आकुल हो गये [3] जिस के अनन्तर देवताओं ऋषियों आदि के द्वारा व स्वयं इन्द्र देव के द्वारा लिख्यमान प्रतिमा की परम्परागत स्तुति करने पर धीरे- धीरे यह बवंडर शान्त हुआ

---

(1) मार्क० पुराण, 104/1

(2) वही, 104/7

(3) वही, 103/46

और वैदिक परम्परा के उसमें समाहित कर लिये जाने पर नृत्य,वाद्य-संगीत से उसका [प्रतिमापूजा] का स्वागत हर्षोल्लास से हुआ और इस प्रकार सूर्य की प्रतिमा [सौम्यरूपधारी] की पूजा प्रचलित हो गयी उनका एक नाम 'मिहिर' भी सूर्य के विशेषणों में जुड़ गया ।

इस प्रकार यह मत स्वीकार नहीं किया जा सकता है कि मार्क० पुराण के सूर्य विषयक आख्यानों पर मगीय प्रभाव नहीं है|परन्तु मगीय प्रभाव की किंचित प्रतिच्छाया है|मगीय प्रभाव के अन्तर्गत सूर्य प्रतिमा निर्माण-विधि और मन्दिर के आकार-प्रकार का संकेत नहीं है ।

अध्याय - 4

ब्रह्मा

(क) ब्रह्मा और वैदिक प्रजापति का तादात्म्य

(ख) ब्रह्मा के विविध अभिधान

(ग) ब्रह्मा का सृष्टिक तृत्व

(घ) ब्रह्मा, परम-ब्रह्म के रूप में

(ङ) ब्रह्मा के वराह, मत्स्य, कूर्मादि अवतार

(च) प्रजापति ब्रह्मा का गौण स्थान और अन्य देवों की अपेक्षा उनके गौण स्थान के निर्देशक स्थल

1- ब्रह्मा कृत योगनिद्रा स्तुति

2- ब्रह्मा कृत रविस्तुति व सूर्य की परमोच्चता

ब्रह्मा

त्रिदेवों में ब्रह्मा का स्थान प्रथम है । प्रजा की सृष्टि ही उनका प्रधान कर्तृत्व है । पुराणों में ब्रह्मा विषयक अनेक आख्यान और विवरण प्राप्त होतें है । पौराणिक वाङ्मय के "ब्रह्मा" वस्तुत: वैदिक कालीन "प्रजापति" से समीकृत किये जा सकते हैं । पुराणस्थ ब्रह्मा विषयक विवरणों को जानने से पहले यह उल्लेख करना वांछनीय हो जाता है कि पुराणों के पहले के ग्रन्थों से उनके स्वरूप और विशिष्टताओं पर क्या प्रकाश पड़ता है ? वैदिक ग्रन्थों का अनुशीलन करने पर ज्ञात होता है कि उस काल में भी "प्रजापति" रूप में ब्रह्मा जगत के सृष्टिकर्ता के रूप में मान्य थे । ऋग्वेदीय सूक्त के अनुसार प्रजापति ही सब देवों में श्रेष्ठ है, इनके विधानों का सभी प्राणी और देवगण पालन करते हैं, इन्होंने ही आकाश और पृथ्वी को स्थपित किया है, वे ही धाता और विधाता है ।" [1] ऋग्वेद के प्रजापति सूक्त में वे 'हिरण्यगर्भ' 'भूतस्य पतिः', 'देवेषु अधिदेवः', कहे गये हैं। [2] अर्थववेद, तैत्तरीय संहिता, शतपथ ब्राह्मण आदि में भी स्पष्ट रूप से प्रजापति को सर्वप्रमुख देवता स्वीकार किया गया । आगे चलकर यही प्रजापति 'ब्रह्मा' शब्द का अभिधान बन गया । सर्वप्रथम शतपथ ब्राह्मण में "ब्रह्मा" शब्द का उल्लेख हुआ है । [3]

---

(1) वैदिक पुराकथाशास्त्र, पृष्ठ 225

(2) ऋग्वेद, प्रजापति सूक्त,

(3) विस्तृत विवरण के लिये द्रष्टव्य - पुराणम् XIX - 2, पृष्ठ 342

पौराणिक काल में त्रिदेवों में ब्रहमा का तादात्म्य यद्यपि वैदिक प्रजापति से स्थापित किया गया और उन्हें त्रिदेवों में प्रमुखता दी गई । इस सन्दर्भ में वे सर्वशक्तिमान्, सर्वस्रष्टा, अनादि, निर्गुण, अनन्त भी अभिव्यक्त किये गये लेकिन पौराणिक देववाद में ब्रहमा का स्थान वैदिक देववाद की तुलना में गौण हो गया और भारतीय परम्परा में वे लोककर्ता, सृष्टिकर्ता ब्रहमा के रूप में ही मान्य रहें । यही कारण है कि आज भी ब्रहमा के मन्दिर कम ही मिलते है ।

पुराणों में कतिपय ऐसे विवरण भी उपलब्ध होते हैं जिनसे यह स्पष्ट होता है कि किसी समय ब्रहमा की महत्ता अधिक थी और ब्राहम सम्प्रदाय के वे प्रमुख देव थे । लेकिन समय परिवर्तन के साथ ब्रहमा की स्थिति में परिवर्तन आया और वे गौण देव के रूप में वैष्णवों, शैवों, यहां तक कि सौर व शाक्त उपासकों के आराध्य देव से काफी कम महत्वपूर्ण हो गये ।

मार्क० पुराण के सृष्टि वर्णन-प्रसंग में ब्रहमा के अभिधान, कृत्य और उनके महत्व के संदर्भ में महत्वपूर्ण जानकारी उपलब्ध होती है इसके अतिरिक्त देवी माहात्म्य, मन्वन्तर कथा प्रसंग में वर्णित सन्दर्भ भी ब्रहमा की स्थिति पर प्रकाश डालते है जिनका विवेचन अधोलिखित रूप से प्रस्तुत किया जा सकता है ।

<u>ब्रहमा और वैदिक प्रजापति का तादात्म्य -</u>

मार्क० पुराण में वर्णित ब्रहमा सम्बन्धी विवरणों में वैदिक धारणायें ही अधिक बलवती दृष्टिगोचर होती है । ऋग्वेदीय विचार के

अनुरूप ही ब्रहमा के एक अभिधान के रूप में उन्हें "प्रजापति" कहा गया है ।[1] जो देवों के भी स्वामी है,[2] जगत्पति[3], प्रकृति-पति[4] और पितामह ब्रहमा ही भूतों के आदिकर्ता है ।[5] आलोच्य पुराण में

ब्रहमा को जगत के आदि, सबके कारण स्वरूप, अचिन्त्यात्मा, क्रियातीत कहा गया है ।[6] वे ही आदि कर्ता और सब के आगे विराजते है ।[7] उनसे ही यह समस्तसंसार व्याप्त है ।[8] मार्क० पुराणोक्त उपरोक्त वर्णन में ऋग्वेदीय प्रजापतिसूक्त की धारणा की प्रतिच्छाया प्रतिबिम्बित होती है जहां प्रजापति को सभी प्राणियों के पहले

---

§1§ ....ब्रहमा भगवानादिकृत्प्रजा: ॥
प्रजापति:...॥ मार्क० पुराण, 44/1

§2§ ....प्रजापति: पतिर्देव...॥ वहीं, 44/1

§3§ ....जगत्पति:...॥ वहीं, 43/18

§4§ ....संक्षोभ्य: प्रकृते पति: ॥ वहीं, 43/12

§5§ ....आदिकर्ता च भूतानां...॥ वहीं, 42/64

§6§ वहीं, 43/8

§7§ वहीं, 42/64 तथा
आदिकर्ता च भूतानां ब्रहमाग्रे समवर्तत ॥
....ब्रहमाग्रे समवर्तत ॥ वहीं, 42/34

§8§ "तेन सर्वमिदं व्याप्तं त्रैलोक्यं स चराचरम...॥"
– वही, 42/65

विद्यमान, समस्त विश्व का स्वामी तथा उसी से व्याप्त लोकत्रय का वर्णन है ।(1) न केवल वेद अपितु ब्राह्मण ग्रन्थों (यथा शतपथ ब्राह्मण) में प्रजापति को देवों का पिता और सृष्टि के पहले विद्यमान कहा गया है ।(2)

उपरोक्त विवरण से स्पष्ट है कि मार्क॰ पुराण वर्णित ब्रह्मा वैदिक प्रजापति की ही छाया है सम्भवतः ब्रह्मा का प्रजापति के साथ तादात्म्य स्थापित करने के कारण ही 'प्रजापति' के अभिधान ब्रह्मा से जुड़ गये और इस क्रम में ब्रह्मा सृष्टा से भी बढ़कर देवपति, प्रजापति, जगत्पति, प्रकृतिपति कहलायें । न केवल मार्क॰ पुराण अपितु अन्य पुराणों में भी ब्रह्मा का प्रजापति से तादात्म्य स्थापित किया गया है । वायु, विष्णु, मत्स्य में प्रजा का पालन करने के कारण ब्रह्मा को प्रजापति कहा गया है ।(3)

---

(1) "हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्
स दाधार पृथ्वीं द्यामुतेमां·····॥
– ऋग्वेद, प्रजापति सूक्त,

(2) उपाध्याय, बलदेव, पुराण विमर्श, पृष्ठ 496 से उद्धृत

(3) ·····ब्रह्मादिकर्त्ता प्रजापति । वायु पुराण, 24/2।

·····प्रजापतिः पतिर्देवो यथा ॥ विष्णु पुराण, 1/4/2

ब्रहमा के विविध अभिधान -

प्रस्तुत पुराण में ब्रहमा को 'आदि पुरूष'(1), 'जगदीश'(2), 'जगन्नाथ'(3), 'परमेश्वर'(4), 'देवदेव'(5), 'चराचर गुरू'(6) और 'जनार्दन,' भी कहा गया है। स्वत: जन्म होने के कारण वे 'स्वायम्भुव' भी है।(7) 'हिरण्यगर्भ' नाम से भी वह अभिहित किये गये(8) क्योंकि जल स्थित अंड में वे उत्पन्न होते है अथवा हिरण्यमय ब्रहमाण्ड उनसे प्रकट होता है। भागवत पुराण में ब्रहमा को "हिरण्यगर्भोऽसि,"(9) कहकर वैदिक धारणा का ही समर्थन किया गया है।

---

(1) ब्रहमाणमादि-पुरूषमुत्पत्ति……॥ मार्क० पुराण, 42/28

(2) ……सृजतो जगदीशास्य……॥ वहीं, 44/37

(3) प्रणिपत्य जगन्नाथं पदमयोनिं पितामहं ॥ वहीं, 42/19

(4) क्षोभयामास योगेन परेण परमेश्वर: ॥ वहीं, 43/9

(5) एवं ब्रहमा जगत्पूर्वो देवदेवश्चतुर्मुख: ॥ वहीं, 43/20

(6) जनार्दन: चराचर गुरूब्रहमा……॥ वहीं, 48/13

(7) ……त्रिस्त्रोऽवस्था: स्वयम्भुव: ॥ वहीं, 43/17
……पूर्व सृष्टा: स्वयंभुवा ॥ वहीं, 47/7
ब्रहमा स्वयंम्भूभगवान……॥ वहीं, 46/74

(8) तस्मै हिरण्यगर्भाय लोकतन्त्राय……॥ वहीं, 42/29
हिरण्यगर्भो देवादिरनादिरूप……॥ वहीं, 43/21

(9) भागवत पु० 7/3/32

वैदिक काल में भी प्रजापति हिरण्यगर्भ के रूप में मान्य थे। ऋग्वेद के साथ-साथ तैत्तरीय संहिता में भी हिरण्य गर्भ स्पष्ट रूप से प्रजापति के साथ समीकृत है।[1] मार्क० पुराण में हिरण्य गर्भ कहने के कारणों पर प्रकाश डालते हुये यह वर्णन है कि 'अण्ड जल में आश्रय पूर्वक वृद्धि को प्राप्त होता रहता है, सलिल में स्थित यह अंड भूतगणों से बृहत है, जिसमें ब्रहमा नामधारी भी वृद्धि को प्राप्त होते हैं। जल में डूबा हुआ व्यक्ति जिस प्रकार जल के भीतर से उठने के समय जल द्रव्य फेंक देता है उसी प्रकार ब्रहमा भी उस अंड से उत्पन्न होते हैं'[2]। वस्तुत: यहाँ जल स्थित हिण्यमय अण्ड से उत्पन्न होने के कारण ब्रहमा 'हिरण्यगर्भ' कहलाये। वस्तुत: उपरोक्त वर्णन में प्रजापति सूक्त के उस श्लोक की झलक दृष्टिगोचर होतीहै जिसमें कहा गया है कि "गर्भ को धारण किये हुये जलराशि जब विश्व में व्याप्त हो गयी तब उस जलराशि से प्रजापति प्रादुर्भूत हुये।[3] इससे स्पष्ट होता है कि ब्रहमा का तादात्म्य वैदिक प्रजापति से स्थापित करने पर उनके जन्म की कथा भी प्रसंगत: ब्रहमा के साथ जुड़ गयी। यही वेदार्थ का पौराणिक उपबृंहण था।

---

(1) वैदिक पुराकथाशास्त्र, पृष्ठ 226.

(2) मार्क॰ पुराण, 42/62 से 73

(3) प्रजापति सूक्त, 7 वाँ श्लोक

प्रस्तुत पुराण में प्रजापति और हिरण्यगर्भ के अतिरिक्त ब्रहमा को नारायण भी कहा गया है[1] विष्णु पुराण में भी ब्रहमा को नारायणात्मक वर्णित किया गया है[2] यहां पर यह तथ्य विचारणीय हो जाता है कि विष्णु जल (नार) में अयन करने के कारण नारायण कहलाये । अतः ब्रहमा का नारायण से तादात्म्य किन परिस्थितियों का परिणाम माना जा सकता है ? इस सन्दर्भ में यह ध्यातव्य है कि नारायण को अजन्मा और अचिन्त्य व्यक्त किया गया[3] उनका सम्बन्ध आद्य जल से था जैसा कि स्वंय मार्क० पुराण नारायण की व्याख्या प्रस्तुत करता है[4] और ब्रहमा भी प्रस्तुत पुराण में जल से सम्बन्धित घोषित है । (यथा सलिल गर्भ) | अतः परब्रहम की श्रेणी में लाने के लिये तथा जल के आद्याश्रय होने के कारण ब्रहमा और हरि दोनों का सम्बन्ध नारायण से स्थापित हुआ[5] वैष्णवों ने अपने अराध्य विष्णु को परमब्रहम घोषित करते हुये उन्हें नारायण कहा तो ब्रहम उपासकों ने ब्रहमा को आद्यजल से सम्बन्धित करते हुये नारायण रूप में व्याख्यापित किया । फलतः अंचित्य, अनादि, क्रियातीत, उपमा रहित, परमेश्वर, परमब्रहम के स्वरूप को ब्रहमा में समाहित करने की चेष्टा की गयी[6]

---

(1) मार्क॰ पुराण, 44/3 से 5

(2) ....भगवान ब्रहमा नारायणात्मकः । विष्णु पु0, 1/4/2

(3) भण्डारकर, आर.जी., वैष्णव, शैव और अन्य धार्मिक मत, पृष्ठ 35

(4) आपो नारा इति प्रोक्ता आपो वै नरसूनवः ।
तासु शेते स यस्माच्च तेन नारायणः स्मृतः ॥ मार्क0 पुराण, 44/5

(5) भण्डारकर, आर जी, वैष्णव शैव और अन्य धार्मिक मत, पृष्ठ 35

(4) अहर्मुखे प्रबुद्धस्तु जगदादिरनादिमान् ॥

ब्रहमा का सृष्टिकर्तृत्व -

प्राचीन काल से अद्यतन काल तक सामान्य रूप से ब्रहमा सृष्टि-कर्ता के रूप में अधिक मान्य है । विश्व की सृष्टि ही उनका प्रधान कर्त्तव्य है । वैदिक काल से लेकर पौराणिक धारणाओं तक के सभी ग्रन्थ ब्रहमा को मुख्यत: सृष्टिकर्त्तव्य से ही सम्बद्ध करते हैं । मार्क० पुराण इसका अपवाद नहीं हैं । अनेक स्थलों पर ब्रहमा को सृष्टिकर्ता, लोककर्ता, जगत के आदि कारण, आदि के रूप में अभिव्यंजित किया गया है । सृजनकार्य के लिये त्रिगुणात्मकों में रजो गुण विशेष कारक माना गया । फलत: ब्रहमा सृष्टा के रूप में रजोगुणाश्रयी माने गये । मार्क० पुराण में वर्णन है कि ब्रहमा ने रजो गुण का आश्रय लेकर सृष्टि की[1] अन्यत्र उन्हें 'जगत-योनि' कहा गया है[2] सम्भवत: जगत के सृष्टिकर्ता या जगत का कारण होने के कारण 'जगतयोनि' भी उनकी उपाधि थी । जगत में सबसे पहले उत्पन्न होने के कारण वे 'प्रथम शरीरी' व 'प्रथम पुरूष' भी आख्यात है[3] उन्होने ही समस्त स्थावर जगंम जगत की सृष्टि की

---

[1] एवं ब्रहमा जगतपूर्वो ....।
रजोगुण समाश्रित्य सृष्टृत्वे स व्यवस्थित: ॥
- मार्क० पुराण, 43/20
.....तथा रजोगुणम् ॥
भुञ्जन्प्रवर्तते सर्गे ब्रहमत्वं समुपाश्रित: ॥ वहीं, 43/13

[2] वहीं, 42/19

[3] स वै प्रथम शरीरी स वै पुरूष उच्यते ॥ वहीं, 42/64

है ।[1] सभी देवता, मनुष्य यहाँ तक रूद्र की सृष्टि भी उन्हीं से मानी गई । न केवल मार्क० पुराण अपितु अन्य पुराण भी ब्रह्मा के सृष्टिकर्त्तृत्व को प्रधानता देते हैं। विष्णु पुराण के अनुसार आदि कृत युग में ब्रह्मा सृष्टि कार्य में प्रवृत्त हुये ।[2] वायु पुराण, भागवत पुराण, मत्स्य पुराण में भी ब्रह्मा सृष्टिकर्ता के रूप में व्यंजित है । पुराणों के पूर्ववर्ती काल में वैदिक कालीन ग्रन्थों में भी ब्रह्मा का प्रधान कर्त्तृत्व सृष्टि आख्यात है । प्रजापति सूक्त के अनुसार 'प्रजापति ने ही द्युलोक को ऊँचा किया, पृथ्वी को दृढ़ किया और स्वर्ग को स्थिर बनाया, उसने ही सूर्य को स्तम्भित किया, जो पृथ्वी के जनिता है, जिसने द्युलोक को उत्पन्न किया और विशाल जलराशि को बनाया ।[3] ऋग्वेद की इन ऋचाओं में पौराणिक सृष्टिविद्या का रहस्य छिपा है । वस्तुत: इन्हीं अर्थों का प्रस्तुतीकरण पुराणों के सर्ग खण्ड में (मानुषी, दैवी, लौकिक सृष्टि आदि) हुआ है । वेदों के अतिरिक्त ब्राह्मण ग्रन्थ भी ब्रह्मा को सृष्टि कार्य में संलग्न प्रजापति के रूप में भी प्रस्तुत करते हैं । महाकाव्य काल में भी ब्रह्मा का लोककर्तृत्व रूप प्रचलित था ।

---

(1) ससर्ज वै ब्रह्मा भगवानादिकृत्प्रजा: ॥
कथयास्येष ते ब्रह्मन् ससर्ज भगवान्यथा ॥
लोककृच्छाश्वत: कृत्स्नं जगत्स्थावरजंगमम् ॥ मार्क० पुराण, 44/1-2

(2) आद्ये कृतयुगे सर्गो ब्रह्मणा क्रियते यथा ॥ विष्णु पु०, 6/1/7

(3) ऋग्वेद, प्रजापति सूक्त, 5वाँ और 9वाँ श्लोक

ब्रहमा, परम-ब्रहम् के रूप में -

प्राचीन भारतीय देवशास्त्र के अनुसार ब्रहमा सृजन के, विष्णु पालन के तथा रूद्र संहार के देवता हैं लेकिन ये तीनों देव भी किसी परम ब्रहम् की शक्ति या प्रेरणा से अनुप्राणित होकर ही स्वाधिष्ठित कार्य में प्रवृत्त होते हैं । इनके स्वरूप क्रमशः रजोगुणात्मक, सत्वोद्रिक तथा तमोप्रधान है । लेकिन इन तीनों देवों से भी उच्च परम सत्ता है जो परमपद, अव्यय, अक्षर, अमूर्त है । इस परमोच्च सत्ता को ही उपनिषदों ने 'अणोरणीयान् महतो महीयान्' कह कर व्यक्त किया है इस को 'ओऽम्' भी कहा गया । यह परम ब्रहम निर्गुण होकर भी तीनों गुण से युक्त है और इस परम ब्रहम का समीकरण हिन्दू धर्म के विभिन्न सम्प्रदायों ने भिन्न - भिन्न रूप से किया है । इस परम ब्रहम् को नारायण भी कहा गया जो सृष्टि के भी पहले था ।[1] अतः जब ब्रहमा का तादात्म्य नारायण से स्थापित हुआ, (सलिल जिनका आधाश्रय था) तब अचिन्त्य, अनादि परम ब्रहम नारायण के गुणों को ब्रहमा में समाहित माना गया और इस प्रकार रजोगुणधारी सगुण ब्रहमा अब सर्वोच्च निर्गुण ब्रहम् के रूप में मान्य हुये । उनकी सत्ता सृष्टा ब्रहमा, पालक विष्णु और संहारक रूद्र से भी सर्वोच्च स्वीकार की गई । ब्रहमा ही सृष्टि, स्थिति और संहार के कारण आदि

---

(1) भण्डारकर, आर.जी. वैष्णव, शैव और अन्य मत,

देव घोषित किये गये [1] मार्क० पुराण के वर्णन के अनुसार ब्रह्मा ही रजोगुणाश्रयी भूत्वा सृष्टि, सत्व गुण धारण कर पालन और तमोगुणधारी होकर संहार करते है [2] और इस प्रकार निर्गुण ब्रह्मा ही ब्रह्मा, विष्णु, हर नाम को प्राप्त होते हैं [3] वर्णन क्रम में यह भी आख्यात है कि निर्गुण होकर भी ब्रह्मा तीनों काल में तीन गुणों को धारण करते हैं [4] सत्व गुण की अधिकता होने पर वे ही विष्णुत्व को प्राप्त होते हैं और तम गुण का वार्धिक्य होने पर रूद्रत्व को प्राप्त कर वे जगत का संहार करते हैं। [5] इन तीनों अवस्थाओं में ब्रह्मा तीन रूप धारण करते हैं और इस कार्य हेतु

---

[1] ब्रह्माणमादिपुरूषमुत्पत्ति स्थिति संयमे ॥
यत्कारणम्'---॥ मार्क० पुराण, 42/28

[2] वहीं, 43/13 से 15

[3] तथा स संज्ञामाप्नोति ब्रह्मविष्णु हरात्मिकाम् ॥
वहीं, 43/16

[4] सृज्यते ब्रह्ममूर्तिस्तु रक्ष्यते पौरूषी तनुः ।
रौद्री भावेन शमयेत तिस्त्रोऽवस्था: प्रजापतेः ॥
– महाभारत, वनपर्व, 272/47

[5] – उपसंहृत्य वै शेते त्रैलोक्यं त्रिगुणोऽगुणः ॥
– मार्क० पुराण, 43/15

तीन गुणों का अलग-अलग आश्रय लेते हैं ।[1] इस प्रकार हिरण्यगर्भ नारायणात्मक स्वायम्भुव की तीन अवस्थायें हैं[2] - सृष्टि, पालन, संहार ।

मार्क· पुराणोक्त उपरोक्त. वर्णन कालीदास के उस वर्णन से काफी साम्य रखता है जिसमें परम् ब्रहम की तीन मूर्तियों - सृष्टा, पालक, संहारक को नमस्कार करते हुये उस परम् ब्रहम की तीन अवस्थायें वर्णित हैं[3]

महाभारत में भी प्रजापति को तीन अवस्थाओं का उल्लेख करके उन्हें विश्वेश, आदि देव, धाता - विधाता कहा गया है ।[4]

---

[1] ब्रहमत्वे स प्रजा: सृष्ट्वा तत: सत्वातिरेकवान् ॥
विष्णुत्वमेत्य धर्मेण कुरूते, परिपालनम् ॥ 11/14 ॥
ततस्तमोगणोद्रिक्तो रूद्रत्वे चाखिलं जगत ॥
- वही, 43/14-15

[2] - तिस्रोऽवस्था: स्वयम्भुव: । वही, 43/17

[3] नमस्त्रिमूर्तये तुभ्यं प्राक्सृष्टे: केवलात्मने ।
गुणत्रयविभागाय पश्चाद् भेदमुपेयुषे ॥
तिसृभिस्त्वमवस्थाभि: महिमानमुदीरयन् ।
प्रलयस्थिति सर्गाणामेक: कारणतां गत: ॥ कुमारसंभवम्, 2/4-6

[4] महाभारत, वनपर्व, 272/47

वस्तुतः स्वायम्भुव ब्रहमा की इन तीन अवस्थाओं को वैदिक सृष्टि विज्ञान के अव्यय ब्रहम, अक्षर ब्रहम और क्षर ब्रहम का पौराणिक रूपान्तर माना जा सकता है।[1] वस्तुतः इस रूप में पुराणों में वेदों के प्रतिपाद्य विषयों का ही उपब्रंहण हुआ है ।

मार्क0 पुराण के निर्गुण परम् ब्रहम के रूप में ब्रहमा को कल्पना की धारणा अन्य पुराणों यथा-पद्म, वामन, भविष्य[2] में भी अनुस्युत देखी जा सकती है । इस धारणा का मूल वैदिक काल से ही प्राप्य है । मुण्डकोपनिषद में प्रजापति ब्रहमा परम् ब्रहम व्याख्यापित है । उपनिषदों में इसे ही 'विश्वात्मा' कहा गया[3] जो परम् ब्रहम के दार्शनिक रूप की व्याख्या है ।[4]

मार्क0 पुराण के उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट होता है कि किसी समय ब्रहमा को महत्ता, विष्णु, शिव आदि देवों की अपेक्षा अधिक थी और ब्रहम उपासकों ने अपने आराध्य देव को परम ब्रहम के रूप में स्थापित करते हुये नारायण के गुणों को भी उसमें समाहित कर लिया था । ब्रहमा को उपासना का गुप्तकालीन साक्ष्य वृहत्संहिता है जिसमें

---

[1] द्रष्टव्य - अग्रवाल, वा॰ श॰, मार्क0 पुराण एक अध्ययन, पृष्ठ 124

[2] वामन पुराण, 39/20/23
भविष्य पुराण, 1/17/5

[3] वैदिक पुराकथाशास्त्र, पृष्ठ 226

[4] बार्नेट, हिन्दूगाड्स एंड हीरोस, पृष्ठ 61 से उद्धृत

तत्कालीन प्रमुख सम्प्रदायों की गणना में ब्राहम-उपासकों की भी चर्चा है ।[1] मार्क० पुराण के ब्रहमा विषयक उपरोक्त विवेचन से यह भी स्पष्ट होता है कि पुराण साहित्य में त्रिदेवों के मध्य एकता स्थापित कर, एक निर्गुण परम ब्रहम् की प्रेरणा व शक्ति को महत्त्व देकर, एकेश्वरवाद की प्रतिष्ठा स्थापित करने का प्रयास किया जा रहा था । पुराणों का यही उद्घोष है कि एक ही पर ब्रहम तीन रूपों में प्रगट होकर सृष्टि, पालन, संहार में प्रवृत्त होता है । इसे पौराणिक - धार्मिक - समन्वयवाद का स्पष्ट संकेतक माना जा सकता है ।

इस सन्दर्भ में यह तथ्य विचारणीय है कि ब्रहमा, विष्णु, शिव की सत्ता से भी ऊपर सर्वोच्च स्थान रखने वाली परम ब्रहम-सत्ता का समीकरण वैष्णवों ने विष्णु से, शैवों ने शिव से, शाक्तों ने शक्ति दुर्गा से और ब्राहमों ने ब्रहमा से स्थापित किया । स्वंय मार्क॰ पुराण में भिन्न-भिन्न प्रसंगों में परम् ब्रहम, निर्गुण, अव्यय सत्ता को ब्रहमा, सूर्य, शक्ति, विष्णु से समीकृत किया गया है । सूर्य सम्बन्धी आख्यान में भगवान सूर्य के द्वारा ही रज, सत्त्व व तम गुण धारण कर क्रमशः सृजन, पालन, संहार करना वर्णित है ।[2] तो देवी माहात्म्य में यह सत्ता

---

[1] हाजरा, आर.सी. पुरानिक रिकार्डस ऑन हिन्दू राइट्स एण्ड कस्टम्स से उद्धृत

[2] सर्गस्थिति अन्तहेतुश्च रजः सत्वादिकान्गुणान् ॥
आश्रित्य ब्रहमविष्णवादि संज्ञामभ्येति शाश्वतः ॥
- मार्क॰ पुराण, 99/21

परमा शक्ति के आधीन स्वीकार की गई है[1] एक अन्य प्रसंग में विष्णु को यह पदवी वर्णित है ।[2]

इसी प्रकार शिवपुराण शिव से, वैष्णव पुराण विष्णु से, शाक्त पुराण शक्ति से त्रिदेवों की उत्पत्ति व्याख्यापित करते हैं ।[3]

मार्क॰ पुराण में जिन स्थलों में ब्रह्मा का वर्णन अचिन्त्य, परमपद, अनादि, परब्रह्म, निर्गुण, अमूर्त रूप में हुआ है, वे अंश ब्राह्म सम्प्रदाय की ओर संकेत करते हैं । गुप्त कालीन ब्रह्मा की मूर्तियां भी प्राप्त होती है । ब्रह्मा की सबसे प्राचीन मूर्ति गान्धार की बौद्धकला में मिलती है।[4] जैन विधान में इनका अंकन तीर्थंकर शीतलनाथ के रूप में हुआ है । मथुरा, मीरपुर से कई गुप्तकालीन ब्रह्मा की मूर्तियां मिली हैं ।[5]

ब्रह्मा के वराह, मत्स्य कूर्मादि अवतार -

ब्रह्मा को अव्यक्त, अक्षर, निर्गुण ब्रह्म रूपी नारायण से समीकृत करने के परिणामस्वरूप मत्स्य, कूर्म, वाराह आदि रूप धारण कर पृथ्वी के उद्धार का प्रसंग भी ब्रह्मा के साथ संयुक्त कर दिया गया । फलतः पुराणों में ब्रह्मा द्वारा वाराह आदि रूप धारण करने का आख्यान वर्णित हुआ ।

---

(1) विसृष्टौ सृष्टिरूपा त्वं स्थितिरूपा च पालने ॥
तथा संहृतिरूपान्ते जगतोऽस्य जगन्मये ॥
वहीं, 78/56-57

(2) मार्क० पुराण, 4/39

(3) विष्णु पु०, 1/2/66 तथा 67

(4) उपाध्याय, बल्देव, पुराण विमर्श, पृष्ठ 498

(5) सिंह, भगवान, गुप्तकालीन हिन्दू देव प्रतिमायें, पृष्ठ 119
द्रष्टव्य, - चित्र संख्या - 18

मार्क० पुराण में यह वर्णित है कि नारायणात्मक ब्रहमा ने जागरित होकर पृथ्वी को जब जल में डूबा हुआ अनुमान किया तब उसके उद्धार की कामना से वाराह मूर्ति धारण की और वेदयज्ञमय शरीर धारण कर जल में प्रविष्ट हुये [1] फिर पाताल से उद्धार कर पृथ्वी को जल के ऊपर स्थापित किया। वायु और ब्रहमाण्ड पुराण में भी वराह अवतार का सम्बन्ध ब्रहमा से स्थपित किया गया है ।[2] सामान्यत: यज्ञवाराह का वर्णन ब्रहम, मत्स्य, भागवत, विष्णु आदि पुराणों में भी उपलब्ध होता है ।[3]

ब्रहमा के द्वारा वाराह रूप धारण करने सम्बन्धी आख्यान का मूल वैदिक ग्रन्थों में भी प्राप्य है । इनमें तैतरीय ब्राहमण, तैत्तरीय संहिता और शतपथ ब्राहमण प्रमुख है. ।

तैत्तरीय संहिता के अनुसार पहले इस विश्व में जल ही जल था। प्रजापति वायु रूप होकर उसमें विचरण करने लगा । वहाँ उसने पृथ्वी को देखा । तब वाराह के रूप में उसने पृथ्वी का हरण किया ।[4]

---

[1] मार्क. पुराण, 44/6-9 तथा
------तद्वाराहं वपुरास्थित: ॥ वहीं, 44/7/

[2] वायु पु०, 6/7-11, ब्रहमाण्ड पु०, 1/5/7-11

[3] द्रष्टव्य पुराण विमर्श, पृष्ठ 182

[4] तैत्तरीय संहिता 7/1/5/1
आपो वा इदमग्रे सलिलमासीत् । तस्मिन् प्रजापतिर्वायु र्भूत्वाऽचरत् । स इमामपश्यत् । तं वाराहो भूत्वाऽहरत् ॥
'पुराण विमर्श' से उद्धृत

तैत्तरीय ब्राहमण के अनुसार प्रजापति ने वराह का रूप धारण कर जल के भीतर निमज्जन किया वह पृथ्वी को नीचे से ऊपर ले आये।[1]

शतपथ ब्राहमण के अनुसार पृथ्वी के पति प्रजापति वाराह रूप धारण कर इसे नीचे से ऊपर लाये।[2] इस प्रकार स्पष्ट है कि वैदिक काल में भी वाराहरूप धारण कर पृथ्वी का उद्वार सम्बन्धी आख्यान का सम्बन्ध प्रजापति से था जिसे ब्रहमा को नारायण रूप में अभिव्यंजित करने वाले पुराणों ने भी अपना लिया। आगे चलकर जब ब्रहमा की महत्ता कम हो गई और विष्णु नारायणात्मक देव के रूप में अधिष्ठित हुये तो वाराहादि अवतारों की कल्पना विष्णु के साथ सम्बद्व मान ली गई।

मार्क० पुराण में भी वैष्णव आख्यानांश में इन अवतारों का सम्बन्ध विष्णु वासुदेव से वर्णित है। लेकिन ब्रहमा विषयक प्रसंग विवरण में मत्स्य, कूर्म व वाराह अवतार का सम्बन्ध ब्रहमा से स्थापित है। वाराह के साथ यज्ञ प्रतीक को संवलित कर उसे यज्ञ वाराह अवतार कहा गया। क्योंकि इस रूप

---

(1) तैत्तरीय ब्राहमण 1/1/6
स वराहो रूपं कृत्वोपन्यमज्जत/स प्रथ्वीमधः आर्च्छत: ॥
'पुराणविमर्श' से उद्धृत

(2) शतपथ ब्राहमण, 14/1/2/11
तामेमूर्ष इति वाराह उज्जधान/सोऽस्या:
पतिरिति ॥
'पुराण विमर्श' से उद्धृत

ब्रह्मावेदयज्ञरूप शरीर को धारण करते है । [1]

वराह अवतार के ही समान मत्स्य, कूर्म अवतार के बीज वैदिक ग्रन्थो में प्राप्य है । [2] शतपथ ब्राह्मण में भी कूर्म रूप का सम्बन्ध स्पष्ट रूप से प्रजापति से आख्यात है [3] मार्क॰पुराण में मत्स्य और कूर्म रूप के बारे में विस्तार से वर्णन नहीं मिलता है । केवल इतना ही वर्णित है कि प्रजापति नारायणात्मक ब्रहमा ने पूर्व-2 कल्प में मत्स्य, कूर्मादि रूप धारण किये थे । [4]

प्रजापति ब्रहमा का गौण स्थान और अन्य देवों की अपेक्षा उनके गौण स्थान के निर्देशक स्थल -

मार्क॰पुराणोक्त उपरोक्त वर्णन के विवेचन से स्पष्ट होता है कि किसी समय ब्रहमा का स्थान सर्वोपरि था । सृष्टा होने के साथ-साथ अमूर्त नारायणात्मक ब्रहम होने के कारण वे विष्णु, शिव, शक्ति आदि

---

[1] पुराणं,5. 2., पृष्ठ 230 से 236 और चित्र संख्या 1, 3, 8, आदि

[2] विस्तार के लिये द्रष्टव्य पुराण विमर्श, पृष्ठ 179 तथा 180

[3] स यत् कूर्मो नाम एतद् वै रूपं कृत्वा प्रजापतिः प्रजाः असृजत् ॥ शत0 ब्रा0 7/5/1/5

[4] मार्क0 पुराण, 44/7

देवों से भी ज्यादा महत्वपूर्ण थे । इसी अमूर्त रूप में वे पूजित थे लेकिन अमूर्त परब्रहम की मूर्त प्रतिमायें भी बनायी जाती थी जिसका प्रमाण गुप्तकालीन वराहमिहिर की वृहत्संहिता है । लोक पितामह ब्रहमा की आराधना मुख्यत: आयु, सन्तति व परिवार को सुख समृद्धि की कामना से की जाती थी । स्वंय मार्क० पुराण में विपर्षि रूचि द्वारा कमलयोनि ब्रहमा की तपस्या द्वारा आराधना करने का उल्लेख है [1] पुनश्च यह भी आख्यात है कि लोक पितामह ब्रहमा ने उनकी सुचिर काल तक नियमपूर्वक तपस्या से प्रसन्न होकर अभीष्ट वर प्रदान किया था । इसी प्रकार अन्यत्र यह वर्णन प्राप्त होता है कि दु:सह के पुत्र कुमार तथोक्ति" द्वारा पीड़ित होने पर चराचर गुरू ब्रहमा के नाम का कीर्तन करना चाहिये ।[2] ऐसा प्रतीत होता है कि उस समय ब्राहम सम्प्रदाय का अस्तित्व था ।

लेकिन समयान्तर के साथ ब्राहम उपासकों को वैष्णव, शाक्त शैव आदि सम्प्रदायों की प्रतिस्पर्धा का सामना करना पड़ा । यह वह समय था, जब सभी सम्प्रदाय अपने-अपने इष्ट को सर्वोच्चता के केन्द्र बिन्दु पर अधिष्ठित करना चाहते थे । एतदर्थ इन सम्प्रदायों ने ऐसे अनेक आख्यानों का सृजन किया जो उनके सम्प्रदाय के उत्तरोत्तर विकास में तो सहायक हुये किन्तु क्रमश: ब्रहमा का स्थान गौण होने लगा ।

---

(1) मार्क० पुराण, 93/4-11

(2) मार्क० पुराण, 48/12-13

और विष्णु, शक्ति शिव, स्व-2 क्षेत्र के बाहर भी प्रतिष्ठित होने लगे। अमूर्त परब्रह्म के स्थान ब्रह्मा अब केवल स्रष्टा-ब्रह्मा रह गये फलत: ब्रह्मा की गौण स्थिति होने में विभिन्न सम्प्रदायों के रोचक आख्यानों ने महत्वपूर्ण योगदान दिया जिनमें कुछ इस प्रकार थे -

(1) ब्रह्मा को विष्णु के नाभि कमल से उत्पन्न मानना।

(2) विष्णु के कर्णमलोद्भूत मधुकैटभ नामक राक्षसों से ब्रह्मा की रक्षा असम्भाव्य वर्णित कर रक्षार्थ ब्रह्मा का विष्णु व शक्ति की स्तुति करना।

(3) सृष्टि के प्रारम्भ में सूर्य द्वारा अपने ताप से दग्ध कर देने की आशंका से ब्रह्मा द्वारा सूर्य की स्तुति करना

(4) ब्रह्मा द्वारा शिव, या शक्ति या सूर्य या विष्णु की शक्ति से प्रेरित होकर सृष्टि कर्म में प्रवृत्त होना।

(5) सरस्वती (सावित्री) द्वारा ब्रह्मा को मूर्त रूप में पूजित न होने का शाप देना[1]

(6) विष्णु का नारायण से तादात्म्य स्थापित कर वराह, मत्स्यादि अवतारों को विष्णु से सम्बद्ध करना और इन अवतारों की विस्तृत कथा पुराणों के माध्यम से प्रस्तुत करना यथा वराह पुराण, मत्स्य पुराण आदि।

---

(1) पद्म पुराण-सृष्टिखण्ड

ब्रहमा की इस अपेक्षाकृत गौण स्थिति से प्रस्तुत पुराण भी असम्पृक्त नहीं\यदि सृष्टि वर्णन प्रसंग को अलग कर दे तो अनेक आख्यानों में ब्रहमा की अपेक्षाकृत गौण स्थिति ही प्रदर्शित है और वे शक्ति, विष्णु, सूर्य की आराधना व स्तुति करते ही अभिव्यंजित है । इन आख्यानों का संक्षिप्त विवेचन अग्रलिखित है -

मधुकैटभवध प्रसंग और ब्रहमा कृत योगमाया स्तुति -

देवी माहात्म्य, अंश में देवी की उत्पत्ति के प्रसंग में यह आख्यात है कि - कल्प के अन्त में जब विष्णु एकार्णव में शयन कर रहे थे तब विष्णुकर्णमलोद्भूत दो असुर-मधु एंव कैटभ विष्णु के नाभिकमल पर स्थित ब्रहमा का संहार करने के लिये उद्यत हुये, तब ब्रहमा ने विष्णु को जगाने के लिये विष्णोर्नेत्रकृतालया भगवती निद्रा की स्तुति की और तब विष्णु ने एकार्णवशय्या से उठकर मधु कैटभ का वध किया ।[1]

उपरोक्त आख्यान से स्पष्ट है कि ब्रहमा को विष्णु के नाभिकमल से उत्पन्न माना गया[2] और ब्रहमा के लिये प्रयुक्त अभिधान जनार्दन अब विष्णु की उपाधि बन गयी[3] राक्षसों से अपने को अरक्षित

---

[1] मार्क० पुराण, 78/49 से 77

[2] स नाभिकमले विष्णोः स्थितो ब्रहमा प्रजापतिः ॥
- मार्क० पुराण, 78/51

[3] मार्क० पुराण, 78/51

देखकर ब्रहमा कृत भगवती स्तुति में उन्हें शाक्त से कम महत्वपूर्ण घोषित किया गया। राक्षसों से अपनी सुरक्षा कर पाने में असमर्थ ब्रहमा प्रस्तुत आख्यान में विष्णु व भगवती के सामने असहाय से जान पड़ते हैं । 'पद्मयोनिः' 'कमलोद्भवः', 'पद्मसम्भवः', 'नाभि कमले संस्थितः' आदि विशेषण§ जो ब्रहमा के लिए प्रयुक्त हुए § ब्रहमा की उत्पति विष्णु के नाभिकमल से घोतित करने लगे फलतः विष्णु की महत्ता ब्रहमा से अधिक मानी जाने लगी और ब्रहमा का स्थान विष्णु की अपेक्षा गौण हो गया । इस प्रकार मधुकैटभ-वध आख्यान विष्णु की अपेक्षा ब्रहमा के गौण पद का सूचक आख्यान है ।

इस आख्यान में ब्रहमा न केवल विष्णु से बल्कि भगवती से भी कम महत्वशाली प्रतीत होते हैं ब्रहमा कृत निद्रा भगवती की स्तुति इस तथ्य का प्रमाण है । इस स्तुति में ब्रहमा स्वयं को भगवती निद्रा की स्तुति कर उन्हें प्रसन्न करने में असमर्थ व्यक्त करते हैं §1§ और उन्हें ही उस परम सत्ता से समीकृत करते हैं जो विष्णु, शिव और ब्रहमा को तद्रूप प्रदान करती हैं । स्वयं ब्रहमा के अनुसार जब भगवती योगमाया ने ही विष्णु, शिव व उन्हें शरीर ग्रहण कराया है तो कौन उनकी स्तुति में समर्थ हो सकता है । §2§ फलतः सृजनकारी ब्रहमा अब केवल सृष्टा रह गये| सृजन के लिये भी उन्हें भगवती की प्रेरणा, शक्ति और रूप की आवश्यकता पड़ने लगी और उनका स्थान न केवल विष्णु से अपितु देवी से भी निम्न मान लिया गया। ब्रहमा का पद व स्थान के ह्रासमान की

---

§1§ ···सा त्वं किं स्तूयसे मया ।।- मार्क0पुराण,78/63

§2§ वही, 78/ 65

ओर अग्रसर होने पर विष्णु या शक्ति प्रधान तत्त्व बन गये ।

ब्रहमा की गौण स्थिति का परिचायक वह वर्णन भी है जिसमें 'निःशेषदेवगण तेजोराशिसमुद्भवा भगवती' वर्णन प्रसंग में विष्णु के तेज से बाहु, इन्द्र के तेज से मध्य देश, कुबेर के तेज से नासिका के सम्भूत होने का उल्लेख है लेकिन ब्रहमा के तेज से भगवती के चरण उत्पन्न होना वर्णित है ।(1)

ब्रहमा कृत रविस्तुति और सूर्य की परमोच्चता -

मार्क॰ पुराण के अन्तर्गत वेदमय मार्त्तण्ड को उत्पत्ति के प्रसंग में यह व्याख्यापित है कि जब आदित्य के तेज से सम्पूर्ण विश्व संतापित होने लगा तब सिसृक्षु पितामह पद्मयोनि ब्रहमा ने यह चिन्तन किया कि उनके द्वारा सृष्टि करने पर भी भास्कर देव के तीव्र तेज से नष्ट हो जायेगी, उनके तेज से समस्त प्राणी प्राणहीन और जल शुष्क हो जायेगा तब सृष्टि कैसे होगी । फलतः रवि के तेज को अल्प करने के लिये ब्रहमा ने भुवनभास्कर की स्तुति की ।(2)

इससे ज्ञात होता है कि ब्रहमा को अपने सृजन कार्य में सूर्य की भी सहायता लेनी पड़ी । स्वंय ब्रहमा प्रस्तुत पुराण में वर्णित स्तुति प्रसंग में स्वीकार करते हैं कि वे सूर्य की आद्या शक्ति

---

(1) मार्क॰ पुराण, 79/14-15

(2) मार्क पुराण, 100/1 से 4.. इति संचिन्त्य भगवान्स्तोत्रं भगवतो रवेः ।

से ही प्रेरित होकर सृष्टि करने में समर्थ होते हैं और प्रलय व स्थिति भी अपनी इच्छा से नहीं करते हैं ।(1)

इस वर्णन से भी स्पष्ट होता है कि ब्रह्मा, विष्णु, रूद्र को स्वाधिष्ठित कार्य में नियोजित करने वाले अव्यक्त नाराणात्मक ब्रह्मा की महत्ता क्षीण हो गई थी उनके स्थान पर सूर्य प्राथमिकी स्तर पर आदिकर्ता स्वीकार किये गये । सौर सम्प्रदाय में सूर्य आदि में उत्पन्न होने के कारण आदित्य कहलाये ।(2) सौर उपासकों ने नारायणात्मक ब्रह्मा के गुणों को भी सूर्य में समाहित कर उन्हें परम् सर्वोच्च सत्ता के रूप में प्रस्तुत किया फलतः सूर्य परमपूज्य, परमवेद्य, परमज्योति, श्रेष्ठ से भी श्रेष्ठतर, गुणातीत, सर्वकारण पर-ब्रह्म के रूप में महत्वाशाली हुये ।(3) ब्रह्मा उपरोक्त आख्यान में सूर्य से अनुनय करते हैं कि वे अपना तेज निवृत्त करें क्योंकि उनका तेज समूह सृष्टि में विघ्नकारी है ।(4) ब्रह्मा द्वारा स्तुत्य होने पर सूर्य अपना तेज निवृत्त करते हैं और तब ब्रह्मा सृजन में सफल होते हैं ।

---

(1) सृष्टिं करोमि यदहं तव शक्तिराद्या तत्प्रेरितो जल महीपवनाग्निरूपाम् । तद्देवतादिविषयां प्रणवात्मकाख्यां नात्मेच्छा स्थितिलयावपि तद्वदेव ॥ - वही, 100/8

(2) वही, 99/ 14

(3) मार्क. पुराण, 100/ 6 से 7

(4) मार्क पुराण, 100/12 उपसंहर तेजो यत्तेजसः संहतिस्तव, सृष्टेर्विघाताय विभो सृष्टौ चाहं समुद्यतः ।।

वस्तुत: ब्रहमा कृत रवि स्तुति की प्रस्तुति सौर सम्प्रदाय द्वारा अपने आराध्य की सर्वोच्चता को व्यक्त करने के लिये किये गये प्रयासों का एक अंग थी । इन आख्यानों से यही सिद्ध होता है कि वैष्णवों, शाक्तों की भांति सौर उपासक भी अपने आराध्य देव की सर्वोच्चता व महत्ता प्रदर्शित करने के लिये रोचक आख्यानों की रचना कर रहे थे जिन्होंनें ब्रहमा की स्थिति अन्य देवों की तुलना में महत्व-हीन करने में अहं भूमिका निभाई । वस्तुत: ब्रहमा की मान्यता सृष्टा सगुण रूप से घोषित होती रही । वैष्णव, शैव, शाक्त, सौर आदि सम्प्रदायों का ब्राह्म सम्प्रदाय की तुलना में उत्तरोतर विकास हुआ और इस विकास और प्रसार की पृष्ठभूमि में वे सभी रोचक आख्यान प्रतिष्ठित थे जिन्हें उनके आचार्यों ने परस्पर प्रतिद्वन्द्विता और प्रति-स्पर्धा के द्वन्द्वात्मक संघर्ष में स्वमहत्वघोतनार्थ कल्पित किया था। इन रोचक आख्यानों ने जनता को गहराई से प्रभावित किया। फलत: 12 वीं-13वीं शताब्दी तक ब्राहम उपासकों में काफी कमी आ गई । यही कारण है कि अमूर्त उपासना में ब्रहमा का स्तवन तो आज भी प्रचलित है लेकिन मन्दिरों में इनकी पूजा मुख्यतया पुष्कर और विठूर में ही देखी जाती है [1]

न केवल पुराण अपितु अन्य साक्ष्यों से भी ब्रहमा की अपेक्षाकृत गौण स्थिति का पता चलता है। यशोधर्मन का मालव संवत 589 के मन्दसोर शिलालेख में [2] ब्रहमा को शिव की प्रेरणा, आज्ञा व कृपा से सृजन, पालन,

---

(1) कल्याण, देवतांक अंक । पृष्ठ 207

(2) बैनर्जी, जे0एन0, डेवलपमेन्ट आफ हिन्दू आइकेनोग्रैफी, पृष्ठ 513 से उद्धृत

व संहार करने वाला कहा गया है। महाकाव्यों में भी बाद के अंशों में शिव को सृष्टिकर्ता कहा गया है जिनकी महानता स्वयं ब्रह्मा भी वर्णित करते हैं।[1]

वस्तुत: तीसरी और छठी सदी के मध्य ब्रह्मा सर्वोच्च देव के रूप में प्रतिष्ठित थे।[2] संभवत: सातवीं सदी या उसके बाद उनकी महत्ता घटने लगी। बाण व दण्डी के ग्रन्थ भी इस तथ्य की ओर इंगित करते हैं।[3]

---

(1) वही, पृष्ठ 513

(2) बार्नेट, हिन्दू गाड्स एंड हीरोज, पृष्ठ 113

(3) जिसका प्रसंग प्रथम अध्याय में दिया गया है।

अध्याय - 5

वैष्णव धर्म और दत्तात्रेय

1. विष्णु और नारायण का एकीकरण

2. विष्णु - नारायण का वासुदेव से तादात्म्य और भागवत धर्म का विकास

3. विष्णु और चतुर्व्यूहात्मक रूप

4. विष्णु और अवतारवाद

5. माथुर कृष्णावतार

6. दत्तात्रेय अवतार

   (क) विष्णु के अंशावतार रूप में
   (ख) दत्तात्रेय अवतार का प्रयोजन
   (ग) लक्ष्मी - दत्तात्रेय पत्नी के रूप में
   (घ) दत्तात्रेय का विविध स्वरूप तथा अभिधान
       (1) अवतारी रूप
       (2) अवधूत रूप
       (3) योगीश्वर रूप
   (ङ) दत्तात्रेय की उपासना पद्धति
   (च) दत्तात्रेय और यदृच्छावाद या नियतिवाद

7. योग धर्म का निरूपण

   (क) योग का अर्थ
   (ख) योग के अष्टअंग
       (1) प्राणायाम
       (2) आसन
       (3) प्रत्याहार
       (4) धारणा, ध्यान एवं समाधि
   (ग) योगी के रूप में आचार धर्म
   (घ) पंचव्रतों और पंचनियमों का पालन

वैष्णव धर्म और दत्तात्रेय

विष्णु का अस्तित्व वैदिक युगीन है । ऋग्वेद के अनेक सूक्तों में उनकी स्तुति की गयी है । वैदिक काल में विष्णु की महत्ता उनके द्वारा तीन पगों से सम्पूर्ण पृथ्वी को नापने में निहित थी [1] और इस रूप में वे 'उरुगाय:' और 'उरुक्रम:' (विस्तीर्ण गतिवाला तथा विस्तीर्ण पाद प्रक्षेप करने वाला) कहलायें । उत्तर वैदिक काल में तत्कालीन समाज में विष्णु का प्रभाव एवं आयाम बढ़ने लगा । ब्राह्मण युग में वे समस्त देवों में श्रेष्ठ तथा पवित्रतम माने जाने लगे । क्रमशः "यज्ञो वै विष्णुः" कह कर विष्णु की एकता यज्ञ से स्थापित हुई ।[2] अब वे सृष्टिकर्ता और सृष्टि-नियन्ता के रूप में प्रतिष्ठित हुए । महाकाव्य काल तक विष्णु को परमोच्च ब्रह्म का पद प्रदान किया जा चुका था । वासुदेव से भी वे समीकृत किये जा चुके थे । विष्णु और नारायण का तादात्म्य पहले ही स्थापित किया गया था और जब वासुदेव-विष्णुनारायण से सम्पृक्त हुए तब वैष्णव धर्म का विकास भागवत धर्म के रूप में हुआ । पुनश्च पाञ्चरात्रमत के अन्तर्गत चतुर्व्यूहात्मक रूपों में वैष्णव अवतारों की कल्पना की गई । इस क्रम में पूर्ववर्ती उन अवतारों का सम्बन्ध भी विष्णु से जुड़ गया जो पहले सृष्टिकर्ता ब्रह्मा के अवतार माने जाते थे । विष्णु के साथ लक्ष्मी की भी पूजा का प्रचलन हो गया । और इस प्रकार वैष्णव धर्म का

---

1. इदं विष्णुर्विचक्रमे त्रेधा निदधे पदम् ।
   – ऋग्वेद, 1. 22. 17

2. द्रष्टव्य– उपाध्याय, वासुदेव, प्राचीन भारतीय मूर्तिविज्ञान, पृष्ठ 8।

पौराणिक रूप निखर कर सामने आया जिसका दिग्दर्शन विस्तृत रूप में विष्णु, पद्म, भागवत आदि पुराणों मे परिलक्षित है ।

मार्कण्डेय पुराण यद्यपि विष्णु की पूजा अथवा उनके अवतारों का विस्तृत वर्णन प्रस्तुत नहीं करता है और न ही उसका वर्णनात्मक आख्यान प्रस्तुत करना पुराणकार का अभीष्ट उद्देश्य था तथापि आलोचित पुराण में विष्णु का नारायण से तादात्म्य, उनके चतुर्व्यूहात्मक रूपों, तथा दत्तात्रेय अवतार का वर्णन प्राप्य है जिसके अनुशीलन से पुराण निहित वैष्णव धर्म के विकास तथा अवतारवाद पर प्रकाश डाला जा सकता है जो निम्नलिखित रूप में प्रस्तुत है -

विष्णु और नारायण का एकीकरण-

नारायण शब्द की उत्पत्ति के सम्बन्ध में आलोचित पुराण में है कि "जल शब्द का नाम 'नार' अर्थात तनु है उसमें अयन करने के कारण वह "नारायण" नाम से संज्ञित है ।(1) नारायण विषयक प्राचीन भावना का मूल बिन्दु ऋग्वेद में मिलता है जिसके अनुसार "भूलोक से परे, पृथ्वी से परे, विद्यमान देवों से परे, वह कौन गर्भ है जिसने सर्व,प्रथम जलको धारण किया और जिसमें समस्त देव स्थित है ।(2) यहाँ पर नारायण को समस्त देवों का आश्रय माना गया है।भण्डारकर महोदय ने भी नारायण शब्द की व्याख्या "देवों के आश्रय" रूप में की है ।(3)

---

(1) आपो नारा इति प्रोक्ता मुनिभि स्तत्त्व दर्शिभिः ।।
अयनं तस्य ताः पूर्व तेन नारायणः स्मृतः ।।-

मार्क॰पुराण, 4/43

(2) ऋग्वेद, 10/82/5-6

स्पष्ट है कि नारायण परमात्मस्वरूप ब्रह्मवाची थे जिनका सम्बन्ध जल से था । प्रारम्भिक वैदिक काल में विष्णु और नारायण नामक देवता भिन्न भिन्न थे । कदाचित तैत्तरीय आरण्यक की रचना के समय तक उनका अन्तिम एकीकरण नहीं हो सका था ।[1] बाद में नारायण और विष्णु के एकीकरण की भावना पुष्ट हुई और नारायण को हरि की भी संज्ञा दी गई । इस प्रकार नारायण -विष्णु का आश्रय जल से घोतित करने के लिये क्षीरसागर में विष्णु के शयन की कल्पना जागृत हुई रही होगी । नारायण से एकीकरण के परिणामस्वरूप विष्णु अव्यय, ब्रह्म, जगतकारण निर्गुण, अव्यक्त आदि स्वीकार किये गये। इस प्रकार पौराणिक वैष्णव धर्म के विकास में एक ओर तो वैदिक विष्णु का योगदान था तो दूसरी ओर दार्शनिक देवता नारायण का समावेश भी महत्वपूर्ण था।

विष्णु नारायण का वासुदेव से तादात्म्य और भागवत् धर्म का विकास-

प्रस्तुत पुराण में वैष्णव अंशावतारी दत्तात्रेय के लिये वासुदेव, कृष्ण आदि नाम भी मिलते हैं।इस सन्दर्भ में यह ध्यातव्य है कि पौराणिक वैष्णव धर्म के विकास में वासुदेव का योगदान भी महत्वपूर्ण रहा है । सात्वत् धर्म के मुख्य उपास्य देव वासुदेव कृष्ण थे और वे ही उसके मूल प्रवर्तक माने गये। वासुदेव-कृष्ण भी विष्णु- नारायण से सम्बन्धित माने गये तब उनका धर्म भागवत् धर्म कहलाया। विष्णु पुराण के एक उल्लेख के अनुसार विष्णु सर्वत्र है, उनमें सभी का वास है , इसी लिये वे वासुदेव" नाम से भी

---

(1) चतुर्वेदी, परशुराम, वैष्णवधर्म, पृष्ठ 21,

अभिहित है ।[1] विष्णु का वासुदेव कृष्ण के साथ तादात्म्य महाकाव्य काल में ही हो गया था। महाभारत के शांति पर्व में युधिष्ठिर कृष्ण को विष्णु रूप में ही देखते हैं ।[2] पाणिनी भी वासुदेव के अनुयायियों से परिचित थे ।[3] इससे स्पष्ट होता है कि पाणिनी के युग में ही भागवत् सम्प्रदाय की उत्पत्ति हो गयी थी । वासुदेव के लिये 'भगवत्' शब्द का प्रयोग होता था और उनके अनुयायी "भागवत्" कहलाते थे। बेसनगर के गरूड़ध्वज स्तम्भ लेख, मेगस्थनीज के विवरण, बौद्ध पालिग्रन्थ "निर्देश" पाणिनी आदि के विवरणों से वासुदेव के अनुयायियों का पता चलता है ।[4] सम्भवतः मथुरा में इस धर्म का, प्रचार अधिक हुआ। धीरे-2 यह धर्म पश्चिम और दक्षिण में प्रसरित हुआ जिसका प्रमाण, राजस्थान के घोसुंडी शिलालेख तथा नासिक के नानाघाट अभिलेख से प्राप्त होता है। नानाघाट अभिलेख प्रथम सदी ई०पू० के आस पास का है [5] स्पष्ट है कि ईसापूर्व की इन शताब्दियों में भागवत धर्म का अस्तित्व था जिसके केन्द्र वासुदेव थे, जो विष्णु - नारायण से समीकृत और एकीकृत थे। गुप्त काल में भी यही धारणा प्रचलित थी जिसका प्रमाण कालिदास कृत मेघदूत है जिसमें एक स्थल पर इन्द्र धनुष से सुशोभित काले मेघ को मोरपंख धारण करने वाले गोपवेषधारी विष्णु से उपमित किया गया है ।[6]

---

(1) विष्णु पुराण, 1/2/7/12
(2) महाभारत, शान्तिपूर्व, अध्याय 43,
(3) अग्रवाल, वासुदेव शरण, पाणिनीकालीन भारत वर्ष, पृष्ठ 352
(4) द्रष्टव्य, चतुर्वेदी परशुराम, वैष्णव धर्म, पृष्ठ, 30, 31 आदि
(5) सिंह, भगवान, गुप्तकालीन हिन्दू देवप्रतिमायें, पृष्ठ 28
(6) मेघदूत, 1/15

गुप्तकाल में विष्णु के पूर्णावतार के रूप में वासुदेव कृष्ण स्वीकार किये गये। साथ ही साथ वासुदेव को केन्द्रित कर चतुर्व्यूहात्मक रूपों की भावना भी प्रचलित रही ।

विष्णु और चतुर्व्यूहात्मक रूप- व्यूहवाद भागवत धर्म का विशिष्ट सिद्धान्त कहा जा सकता है जिसके केन्द्र में नारायण और वासुदेव की धारणा का सम्मिलन था। प्रस्तुत पुराण में निर्गुण वासुदेव द्वारा मूर्त रूप से अवतरित होने के सम्बन्ध में जैमिनी द्वारा पूछे गये प्रश्न के सन्दर्भ में नारायण के चतुर्व्यूहात्मक रूप का उल्लेख है जिसके अनुसार नारायण वासुदेव की चार मूर्तियाँ है -﴾1﴿

﴾1﴿ वासुदेव जो प्रधान है, सर्वदा शुद्ध, सुप्रतिष्ठहैं ।

﴾2﴿ संकर्षण- जो तामसी है।

﴾3﴿ प्रद्युम्न- जो सत्वगुणात्मिका है ।

﴾4﴿ अनिरूद्ध जो रजो गुणात्मिका है ।

स्पष्ट है कि नारायणात्मक विष्णु के चतुर्व्यूहवाद में वासुदेव प्रथम देव थे जिनकी उपासना पाणिनी के पहले से चली आ रही थी । विष्णु के उपर्युक्त चारो व्यूहों का आकलन पाञ्चरात्र मत के अन्तर्गत आता है। महाभारत के नारायणीय अंश में भी इनके संकेत मिलते हैं जिसके अनुसार वासुदेव परमात्मा है, संकर्षण उन्हीं के दूसरे रूप है। संकर्षण से ﴾जो जीव के भी प्रतीक हैं﴿, मन रूपी प्रद्युम्न की उत्पत्ति होती है और प्रद्युम्न से अनिरूद्ध ﴾अहंकार﴿ उत्पन्न होता है ये चारों ही नारायण या वासुदेव से उत्पन्न है और

﴾1﴿ मार्क० पुराण, 4/45-53

नारायण में ही विलीन हो जाते हैं ।[1] पतंजलि ने भी अपने भाष्य में" स्त्वात्मचतुर्थ एव" के रूप में व्यूहवाद की ओर ही संकेत किया है । ऐसा प्रतीत होता है कि पाँचरात्र सम्प्रदाय के प्रधान उपास्यदेव- वासुदेव की उपासना बुद्ध-युग में प्रचलित थी ।[2] लेकिन वासुदेव के अतिरिक्त संकर्षण या बलदेव की उपासना द्वितीय शती ई0पू0 में प्रचलित होने का साक्ष्य घोसुंडी अभिलेख के कतिपय उल्लेखों से संकेतित जान पड़ता है ।[3] कुछ विद्वानों के अनुसार महाभारत में वासुदेव और संकर्षण इन्हीं दो व्यूहों का उल्लेख है, प्रद्युम्न और अनिरूद्ध की कल्पना अवान्तरयुगीन है। श्रीमद्भागवतगीता में चतुर्व्यूहात्मक सिद्धान्त का उल्लेख नहीं है । बलदेव उपाध्याय ने पंतजलि के विवरण के आधार पर इस सिद्धान्त को ईसापूर्व द्वितीय शती से निस्सन्देह प्राचीन मानने का विचार रखा है ।[4] ईसवी पूर्व की शताब्दियों में व्यूहवाद के प्रचलन के द्योतक जो आभिलेखीय साक्ष्य है उनमें "यवन दूत हेलियोडोरस द्वारा भिलसा के समीप स्थापित गरूण स्तम्भ और उस पर अंकित लेख महत्वपूर्ण है, जिसमें 'देवदेवस वासुदेवस' के सम्मान में भागवत हेलियोडोरस" द्वारा गरूड़ स्तम्भ स्थापित करने का उल्लेख है । इस गरूड़स्तम्भ का सम्बन्ध जे0एन0 बैनर्जी महोदय ने व्यूहवाद से जोड़ा है[5]

---

(1) द्रष्टव्य-चतुर्वेदी, परशुराम, वैष्णव धर्म, पृष्ठ 50
(2) उपाध्याय, वासुदेव, प्राचीन भारतीय मूर्ति विज्ञान, पृष्ठ 82-83
(3) अग्रवाल वा0श0, भारतीय कला, पृष्ठ 263
(4) उपाध्याय, बलदेव, पुराण विमर्श, पृष्ठ 167
(5) बैनर्जी जे0एन0, डेवेलपमेन्ट ऑव हिन्दू आइकोनोग्राफी, पृष्ठ 103-104

उनके अनुसार यह ध्वज स्तम्भ प्रद्युम्न से सम्बन्धित था तथा सम्भवतः यहाँ प्राप्त अन्य ध्वजों के अवशेष अन्य व्यूह देवताओं से सम्बन्धित थे तथा सम्भवतः यहाँ पर साम्ब और अनिरुद्ध के मन्दिर भी निर्मित थे ।

इसी प्रकार चित्तौरगढ़ के समीप "घोसुंडी" का वैष्णव शिलालेख संकर्षण और वासुदेव की पूजा के निमित्त शिला प्रकार (नारायण वाटिका) का उल्लेख करता है ।(1)

मथुरा के मोरा अभिलेख में पंचवीरों का उल्लेख है ।(2) जो प्रथम शती ई० का है । जिससे पता चलता है कि तोषा नामक महिला ने वासुदेव के साथ-साथ चारों पूर्वोक्त व्यूहों की मूर्तियाँ एक मन्दिर में स्थापित करवायी थी ।

इसी प्रकार दक्षिण में महाराष्ट्र प्रान्त में नानाघाट अभिलेख में भी वासुदेव, संकर्षण आदि का उल्लेख (3) है जिससे पता चलता है कि ईसा पूर्व की सदियों में भारत के विभिन्न भागों में व्यूहवाद का प्रचार हो गया था।

प्रस्तुत पुराण में चतुर्व्यूहों के स्वरूप एवं कृत्यों पर भी प्रकाश परिलक्षित होता है। इस सन्दर्भ में प्रस्तुत पुराण के विवरण अन्य पुराण यथा-ब्रह्मपुराण के विवरण के हो समान है। प्रस्तुत पुराण के विवरण के अनुसार - वासुदेव मूर्ति शुक्ल वर्ण की, अनिर्देश्य, नित्य, तीनों, गुणों का अतिक्रम करने वाली, सर्वकाल है इसके रूप, वर्ण आदि सभी भाव कल्पनात्मक है। (4) महाभारत

---

(1) उपाध्याय, वासुदेव, प्राचीन भारतीय मूर्ति विज्ञान, पृष्ठ 84 से उद्धृत
भगवद्भ्यां संकर्षण वासुदेव सर्वेश्वराभ्यां पूजा-शिला-
प्रकारो नारायण- वाटिका ।" (घोसुंडी लेख)

(2) सिंह, भगवान, गुप्तकालीन हिन्दू देव प्रतिमायें, पृष्ठ 28 से उद्धृत

(3) उपाध्याय, वासुदेव, प्राचीन भारतीय मूर्ति, विज्ञान से उद्धृत-
'नमो धंमस नमो ईदस नमो संकषनं वासुदेवानं
चंदसरानं महिमवतानं ...... ।।"

में इन्हें ही 'पुरूष" कहा गया है। स्पष्ट है कि वैष्णव धर्म का विकास जब चतुर्व्यूहात्मक रूपों के आलोक में प्रस्फुटित हुआ तब भी वासुदेव वैष्णव धर्म के मूल उपास्य बने रहे और प्रधान व्यूह के रूप में उनकी मान्यता प्रतिष्ठित रही ।

वासुदेव के अतिरिक्त अन्य तीन व्यूहों की गणना सगुण रूपों में स्वीकार की गई । प्रस्तुत पुराण के अनुसार दूसरा व्यूह- संकर्षण नाम से विख्यात था जो शेष या बलराम का ही स्वरूप था। इस व्यूह को तमोगुणधारी व्यक्त किया गया तथा पाताल लोक में मस्तक पर पृथ्वी धारण करने वाली मूर्ति के रूप में इसकी महत्ता निरूपित की गयी ।[1] संकर्षण जीव के प्रतीक माने गये । महाभारत के शांतिपर्व के नारायणीय अंश में वासुदेव व संकर्षण को क्रमशः परमात्मा व जीव का प्रतीक माना गया है। लेकिन महाभारत के प्रारम्भिक अंशों में संकर्षण को कृष्ण वासुदेव का बड़ा भाई कहा गया है। और यह भी आख्यात है कि उन्होनें कृष्ण को कंस के विरूद्ध सहायता भी दी थी ।[2] संकर्षण के उपास्य होने तथा उनकी पूजा का उल्लेख कौटिल्य के अर्थशास्त्र में भी मिलता है ।[3] संकर्षण रूपी जीव की उत्पत्ति वासुदेव परमात्मा से मानी गई और नारायण के छः दिव्य गुणों में से ज्ञान और बल संकर्षण में प्रधान माने गये ।[4] बलराम की कुछ प्रतिमाये भी मिली है।

---

(1) द्वितीया पृथिवी मूर्ध्ना शेषाख्या धारयत्यधः ।
तामसी सा समाख्याता तिर्यक्त्वं समुपाश्रिता ।। -मार्क० पुराण, 4/48

(2) महाभारत, 2/79/23 तथा 2/14/34, वैष्णव धर्म" लेखक चतुर्वेदी, परशुराम, से उद्धृत

(3) चतुर्वेदी, परशुराम, वैष्णव धर्म, पृष्ठ 52 से उद्धृत

(4) वही, पृष्ठ 53,

जिसमें उन्हें नागयुक्त या सिर पर नागफणों से आवृत्त प्रदर्शित किया गया है।[1] सम्भवत: इसी लिये संकर्षण की कल्पना शेषनाग के रूप में (पृथ्वी को धारण करने वाले) प्रस्तुत पुराण में मिलती है।

व्यूहात्मक सिद्धान्त में तीसरी मूर्ति प्रद्युम्न मूर्ति है। इसे ही महाभारत में "मन" का प्रतीक माना गया है जिसकी उत्पत्ति संकर्षण रूपी जीव से होती है। प्रस्तुत पुराण के अनुसार प्रद्युम्न व्यूह सतोगुणावलम्बी है।[2] धर्म की संस्थापना इसका प्रधान कार्य है। प्रजा का पालन भी इसी व्यूह के अधिकार में है एतदर्थ यह तीसरा व्यूह ही अवतार ग्रहण करता है।[3] इस प्रकार धार्मिक सन्तुलन की व्यवस्था (धर्मस्य उत्थानं, अधर्मस्य ग्लानि:) करना प्रद्युम्न व्यूह के ही अधीन है।[4] ऐश्वर्य और वीरता की अधिकता इनमें स्वीकार की गई।

प्रद्युम्न से अनिरूद्ध की उत्पत्ति होती है जो अहंकार का प्रतीक माना गया है। इस चतुर्थ व्यूह की प्रकृति रजोगुणात्मक आख्यात है[5] जो संसार

---

(1) 'द्वितीया पृथिवी मूर्ध्ना शेषाख्या धारयत्यध:।' तथा बलराम की मूर्तियों लिये सिंह, भगवान, गुप्तकालीन हिन्दू देव प्रतिमायें, पृष्ठ 87-88 तथा चित्र संख्या..19....(भारतीय कला से उद्धृत)

(2) सत्वोद्रिक्ता तु सा ज्ञेया धर्म संस्थानकारिणी ।।
— मार्क० पुराण, 4/49

(3) वही, 4/58

(4) यदा-यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति जैमिने ।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजत्यसौ ।। - वही, 4/53

(5) रजस्तस्या: गुण: ....।। — वही, 4/50

की सृष्टि का कारक भी है । इस व्यूह का स्वरूप "समुद्र के मध्य सर्प की शय्या पर शयन करते हुऐ "वर्णित किया गया [1] शक्ति और तेज इनके प्रधान गुण माने गये ।

इस प्रकार, उपरोक्त चारो मूर्तियों के सम्बन्ध में ही वैष्णव धर्म में "व्यूहवाद" का प्रचार हुआ जिसके आधार पर आगे चलकर "अवतारवाद" की धारणा का विकास हुआ ।

<u>विष्णु और अवतारवाद-</u> वैष्णव धर्म के विकास में महत्त्वपूर्ण भूमिका "अवतारवाद" की भी रही है। व्यूहों को कभी-2 विभवों के रूप में भी प्रदर्शित किया गया जिसके आधार पर "अवतारवाद" की परिकल्पना को आधार मिला। प्रस्तुत पुराण मे नारायण- विष्णु के कतिपय प्रमुख अवतारों का उल्लेख करते हुऐ उन्हें व्यूहवाद के अर्न्तगत प्रद्युम्न मूर्ति से सम्बद्ध बताया गया है। प्रस्तुत पुराण में विष्णु नारायण के जिन अवतारों का उल्लेख है उनमें वराह, वामन, नृसिंह और माथुर कृष्ण का नामोल्लेख है तथा यह भी वर्णन है कि उनके अवतारों की संख्या वर्णित नहीं की जा सकती [2] स्पष्ट है कि पुराणकार का उद्देश्य विष्णु के अवतारों की विस्तार से चर्चा करना नहीं है तथापि व्यूहवाद के सन्दर्भ में कतिपय महत्त्वपूर्ण अवतारों का प्रसंग आना स्वाभाविक ही था ।

---

[1] चतुर्थी जलमध्यस्था शेते पन्नगतल्पगा ।।- वही, 4/50

[2] तथैवान्यान्न संख्यातुमिहोत्सहे ।- मार्क0 पुराण,4/56

नारायणीय अंश में भी अवतारों की चर्चा है और वहां केवल वाराह नृसिंह, वामन, राम , परशुराम व कृष्ण के नाम मिलते हैं (1) लेकिन बाद में शांति पर्व में ही दशावतारों की चर्चा है । धीरे- 2 अवतारवाद" की परिकल्पना के आगे व्यूहवाद कमजोर पड़ने लगा और अवतारों की संख्या में भी वृद्धि हुई । महाभारत और पुराणों में अवतारवाद" का सिद्धान्त सर्वमान्य होने पर भी उनकी संख्या में अन्तर पाया जाता है यथा श्रीमद्भागवत्के प्रथम स्कन्ध में अवतारों की संख्या 22 है यथा -सनत्कुमार, वराह, नारद, नारायण, कपिल, दत्तात्रेय, यज्ञ, ऋषभदेव, पृथु, मत्स्य, कच्छप, धन्वन्तरि, मोहिनी, नृसिंह, वामन, परशुराम, वेदव्यास, राम, बलराम, कृष्ण, बुद्ध और कल्कि । लेकिन इसी पुराण के द्वितीय स्कन्ध में हंस और हयग्रीव नाम जोड़कर अवतारों की संख्या 24 कर दी गई । ऐसा प्रतीत होता है कि विष्णु के अवतारों की संख्या घटाई- बढ़ाई जा रही थी लेकिन उनके दस अवतार ही ज्यादा लोकप्रिय थे जिनमें मत्स्य, कूर्म, वाराह, नृसिंह, वामन परशुराम, राम, कृष्ण, बुद्ध और कल्कि थे ।

बारहवीं सदी तक पूर्णरूपेण दशावतार का नियमन हो चुका था यही कारण है कि जयदेव ने 'गीतगोविन्द' में तथा क्षेमेन्द्र ने "दशावतार चरित' में दशावतार की स्तुति की ।

दशावतार में बुद्ध का समावेश कब हुआ यह प्रश्न विचारणीय है। आठवीं सदी के विद्वान कुमारिल ने बुद्ध की निन्दा "धर्म का लोप करने वाले शाक्य" कह कर की जिससे प्रकट होता है कि 8 वीं शताब्दी में गौतम बुद्ध

---

(1) चतुर्वेदी, परशुराम, वैष्णव धर्म, पृष्ठ 53

अवतार रूप में स्वीकृत नहीं थे। किन्तु कालान्तर में उन्हें अवतारों में परिगणित कर लिया गया। 'गीतगोविन्द', (1150 ई0) 'दशावतारचरित' (1066 ई0) आदि इसके प्रमाण है। जिससे यह सूचित होता है कि बुद्ध संवलित दशावतार की परिकल्पना ग्यारहवीं शताब्दी में स्वीकृत हो चुकी थी। प्रस्तुत पुराण में अवतारकोटि में बुद्ध की गणना का लेशमात्र भी नहीं जिससे यह धारणा व्यक्त की जा सकती है कि प्रस्तुत पुराण पूर्ण रूपेण बुद्ध को अवतार कल्पना में स्थान मिलने के पहले ही लिखा जा चुका था। अन्य पुराणों मे मत्स्य पुराण में बुद्ध को अवतार की कोटि में रखा गया है और बुद्ध को नवाँ अवतार माना गया है।(1) सातवीं शताब्दी के अभिलेख में भी बुद्ध का नाम दशावतार -कोटि में है।(2) इससे ऐसा प्रतीत होता है कि उस समय बुद्ध की अवतार रूप में कुछ लोग पूजा करने लगे थे लेकिन अन्य कुछ लोग उन्हें अवतार रूप में मानने को तैयार न थे।

जहाँ तक प्रस्तुत पुराण में उल्लिखित अवतारों का प्रश्न है, उनके कृत्यों का अति संक्षिप्त उल्लेख मात्र ही प्राप्य है यथा- वराह अवतार में नारायण द्वारा दाँतों के अग्रभाग के द्वारा पृथ्वी को जल से निकालने का वर्णन, नृसिंहमूर्ति द्वारा हिरण्यकशिपु का वध, आदि। इन अवतारों का मूल ऋग्वेद संहिता में पाया जाता है जिसमें मत्स्य, कूर्म, वाराह

---

(1) मत्स्य पु0, 47/39-45 तथा 47/240

(2) आर्क्यालॉजिकल सर्वे आफ इण्डिया, वाल्यूम 26,

आदि अवतारों का सम्बन्ध प्रजापति से जोड़ा गया है ।[1]
विष्णु के वामन रूप से देवताओं के लिये तीन पदों द्वारा असुरों से
पृथ्वी प्राप्त कर लेने की भी चर्चा ब्राहमण साहित्य में प्राप्य है । नृसिंह
की चर्चा भी तैत्तरीय आरण्यक में है । आगे चलकर ये सभी अवतार रूप
विष्णु से जोड़ दिये गये । स्पष्ट है कि अवतारवाद मूल रूप में वैदिक
काल में अवश्यमेव था लेकिन उस समय अवतारों की पूजा का प्रचलन था या नहीं
यह स्पष्ट प्रमाणों के अभाव में अकथनीय है । वैष्णव धर्म के उदय होने पर
जब व्यूहवाद का प्रचलन हुआ तब अवतारवाद का उत्कर्ष हुआ था । गुप्त
काल में तो विष्णु के अवतारों की पूजा पहले से कुछ अधिक होने लगी थी ।
और अवतार पूजा के महत्व के सामने व्यूहवाद कुछ गौण समझा जाने लगा
था परिणामतः कला में भी विभिन्न अवतार विषयक अभिव्यक्ति प्रदर्शित
हुई । वराह, नृसिंह, वामन, कृष्ण आदि की मूर्तियाँ सर्वाधिक प्राप्त
हुई । गुप्त काल में सम्भवतः वराह अवतार सर्वाधिक लोकप्रिय था
जिसकी पुष्टि इस बात से भी होती है कि गुप्त काल में बहुसंख्यक वराह
मूर्तियों के अतिरिक्त वराह के निजी स्वतन्त्र मन्दिर भी बनने लगे थे
जिसमें एरण का वराह मन्दिर विशेष उल्लेखनीय था ।[2] इनके अतिरिक्त
नृसिंह, वामन, कृष्ण आदि अवतार भी लोकप्रिय थे ।

---

(1) विस्तार के लिये द्रष्टव्य-
उपाध्याय, बलदेव, पुराण विमर्श, पृष्ठ 179 -186

(2) अवतारों की मूर्तियों के सम्बन्ध में विस्तृत विवरण हेतु
द्रष्टव्य-बेनर्जी, जे०एन० कृत, डेवेलपमेन्ट ऑफ हिन्दू
आइकोनोग्राफी तथा सिंह, भगवान कृत गुप्तकालीन हिन्दू
देव प्रतिमायें ।

<u>माथुर कृष्णावतार</u> - मार्क० पुराण में अन्यान्य अवतारों के प्रसंगोल्लेख में यह भी वर्णन है कि इस समय विष्णु नारायण का अवतार है - माथुर कृष्ण । (1) स्पष्ट है कि पुराण की रचना के समय कृष्ण विष्णु के पूर्ण अवतार माने जा चुके थे अर्थात् भागवत धर्म अब वैष्णव धर्म में निमग्न हो चुका था । यद्यपि कृष्णावतार के मूल में चतुर्व्यूहात्मक वासुदेव की भावना का प्रश्रय था तथापि विष्णु अब देवाधिदेव थे और कृष्ण मात्र उनके अवतार थे ।

पूर्व में यह स्पष्ट किया जा चुका है कि विष्णु का नारायण से तादात्म्य होने पर सात्वत धर्म के मुख्य उपास्यदेव वासुदेव कृष्ण भी उनसे जुड़ गये । ईसा पूर्व की शताब्दियों में उनके अनुयायी विद्यमान थे जिसका पता पाणिनी से चलता है जिसके पुरातात्त्विक प्रमाण, बेसनगर, घोसुंडी, नानाघाट आदि के अभिलेख है । प्रश्न यह है कि वासुदेव कृष्ण के लिये "माथुर अवतार" अभिधान की सार्थकता की प्रमाणिकता के निर्देशक साक्ष्य कौन-कौन से है| मथुरा कृष्ण की जन्मस्थली के रूप में विख्यात है । मथुरा में कृष्ण का अधिक महत्त्व होने के कारण उनके उस अवतार को "माथुर" रूप से भी अभिहित किया गया रहा होगा । जहाँ तक "कृष्ण" शब्द की प्राचीनता का प्रश्न है, यह शब्द ऋग्वेद के आठवें मण्डल में एक सूक्त के ऋषि एवं रचयिता के रूप में आया है (2) इन्हें ही अंगिरस गोत्र में

---

(1) ---तस्येह माथुरः साम्प्रतं त्वयम्।। मार्क० पुराण,4/56

(2) चतुर्वेदी, परशुराम, वैष्णव धर्म पृष्ठ 26 से उद्धृत

उत्पन्न भी कहा गया है और कौशीतकी ब्राहमण में भी उसी कृष्णांगिरस का उल्लेख है ।[1] छान्दोग्य उपनिषद में घोर आंगिरस के शिष्य देवकी पुत्र कृष्ण का उल्लेख है [2] डा० भण्डारकर के अनुसार यदि देवकी पुत्र कृष्ण और कृष्णांगिरस एक ही व्यक्ति थे तो यह कहा जा सकता है कि ऋग्वेद के समय से लेकर छान्दोग्य उपनिषद की रचना के समय तक कृष्ण के ऋषि होने की परम्परा विद्यमान थी । [3] आगे चलकर महाभारत काल में गोपालक कृष्ण का कथानक भी कृष्ण से जुड़ जाना प्रमुख है । कृष्णांगिरस, घोरांगिरस शिष्य कृष्ण, वासुदेव कृष्ण और गोपालकृष्ण इन चारों के एकीकरण के सम्बन्ध में कोई निश्चित निष्कर्ष नहीं निकाला जा सका है । तथापि छान्दोग्य उपनिषद और भगवद्गीता में वर्णित उपदेशों के साम्यता के आधार पर कुछ विद्वानों ने यह सम्भावना व्यक्त की है कि देवकी पुत्र कृष्ण और वासुदेवकृष्ण ब्राहमण काल में एक रहे होगें ।[4]

इस प्रकार देवकी पुत्र कृष्ण मथुरा प्रदेश के यादवकुल से सम्बन्धित माने गये जिनकी शिक्षा घोर आंगिरस के यहाँ हुई रही होगी, जिन्होंने कंस का वध कर महाभारत युद्ध में पाडवों की सहायता की और अपने

---

(1) चतुर्वेदी, परशुराम, वैष्णव धर्म, पृष्ठ 26

(2) -वही- पृष्ठ 26 से उद्धृत
कौशीतकी ब्राहमण, 30/6, छान्दोग्य उपनिषद, 3/17/6

(3) भंडारकर, गोपालकृष्ण, वैष्णविज्म, शैविज्म, अदर माइनर रिलिजस सेक्ट्स, पृष्ठ 15-16

(4) राय चौधरी, हेमचन्द्र, अर्ली हिस्ट्री आफ वैष्णविज्म, पृष्ठ 50

गुरू के विचारों को ही सिद्धान्त रूप में प्रचारित करते हुये अर्जुन को उसका उपदेश दिया और उनके व्यक्तित्व व सिद्धान्त से प्रभावित सात्वत् उनके अनुयायी बन गये । धीरे-धीरे उनका मत पूर्व, पश्चिम, दक्षिण में भी फैला । लेकिन ईसा पूर्व की चौथी शताब्दी में उनका धर्म मथुरा में विशेष लोकप्रिय था, जिसकी सूचना मेगस्थनीज आदि यूनानियों के विवरणों से प्राप्त होती है । उसके अनुसार "हेराक्लीज को शौरसेनवंशी बड़े प्रतिष्ठा से देखते हैं" साथ ही साथ उसके विवरण यह सूचना भी देते हैं कि उस समय उस वंश के "मेथोरा"[1] तथा "क्लेइसोबोरा" नामक दो बड़े नगर थे और इनके प्रदेश से होकर "जोबारे" नदी बहती थी । यहाँ पर "हेराक्लीज" से तात्पर्य हरिकुल अर्थात् वासुदेव कृष्ण से, 'मेथोरा'-मथुरा से, 'क्लेइसोबारा'-कृष्णपुर से तथा 'जोवारे' - यमुना नदी से है । स्पष्ट है कि कृष्ण का मूल क्षेत्र मथुरा और उसके पास का क्षेत्र था, जहाँ जमुना नदी बहती थी । मथुरा वैष्णव सम्प्रदाय का केन्द्र थी । सम्भवतः कृष्णावतार के सन्दर्भ में उन्हें "माथुर अवतार" कहना प्रासंगिक ही था।

<u>दत्तात्रेय अवतार -</u> विष्णु के चतुर्व्यूहात्मक रूपों, तथा अवतारवाद की धारणा के क्रमशः उत्तरोत्तर विकास के परिणाम स्वरूप विष्णु के त्रिविध अवतार- रूपों की कल्पना भी की गई । ये त्रिविध रूप थे - पूर्ण अवतार, आवेश अवतार और अंशावतार । जो अवतार किसी विशिष्ट उद्देश्य की पूर्ति के लिये जीवन भर के लिये धारण किया गया उसे पूर्णावतार की

---

(1) लाहा, बिमल चरण, प्राचीन भारत का ऐतिहासिक भूगोल पृष्ठ 180-182

संज्ञा कल्पित की गई। जीवन के कुछ भाग तक उद्देश्य पूर्ति करने वाले रूप आवेश अवतार के अन्तर्गत परिगणित किये गये, और अंशावतार में विष्णु के अंश रूप में अवतरित होने की प्रक्रिया प्रस्फुटित मानी गई। इस दृष्टि से राम, कृष्ण आदि पूर्णावतार के अन्तर्गत तथा परशुराम आदि आवेश अवतार के अन्तर्गत स्वीकार किये गये। प्रस्तुत पुराण में दत्तात्रेय को विष्णु के अंशावतार के रूप में प्रस्तुत करके उनके अवतारी स्वरूप, उपासना तथा उनके द्वारा उपादिष्ट योगधर्म का निरूपण भागवतीय निवृत्तिमूलक धार्मिक परम्परा के द्योतन के रूप में किया गया है। भागवतों का यह निवृत्तिमूलक धर्म राजा अलर्क और दत्तात्रेय के मध्य संवाद के रूप में वर्णित है।

<u>विष्णु के अंशावतार रूप में</u> - जहाँ तक दत्तात्रेय रूप से विष्णु के अवतार के विवेचन का प्रश्न है - प्रस्तुत पुराण में दत्तात्रेय की उत्पत्ति अत्रिमुनि की साध्वी पतिव्रता तपस्विनी अनुसूइया नाम पत्नी से विष्णु के तेज से संवलित आख्यात हैं। पुराण में स्पष्ट शब्दों में दत्तात्रेय को विष्णु का अंशधारी अवतार कहा गया है। [1] अन्यत्र वर्णित है कि विष्णु ही दत्तात्रेय नाम से अनुसूया के गर्भ से उत्पन्न हुये थे [2]

---

[1] विष्णोरंशं जगद्धातुरवतीर्णं धरातले ॥ मार्क०पुराण, 16/33

[2] तुष्टेन विष्णुना जज्ञे दत्तात्रेयो महात्मना ॥
स्वशरीरात्समुत्पन्नः सत्वोद्रिक्तो द्विजोत्तमः ॥
दत्तात्रेय इति ख्यातः सोऽनसूयास्तनं पपौ ॥ -वही, 16/97-98
तथा,
विष्णुरेव अवतीर्णोऽसौ द्वितीयोऽत्रेः सुतोऽभवत् । -वही, 16/99

एक स्थल पर दत्तात्रेय के लिये "वैष्णव" अभिधान भी प्रयुक्त हुआ है [1] जिसे उनके वैष्णवावतारी होने का ही संकेतक माना जा सकता है । वैष्णव अवतारी के रूप में उनका लक्ष्य दैत्यों का विनाश और साधुओं की रक्षा ही था[2] और जो विष्णु के अवतार ग्रहण का प्रयोजन भी था जिसे लगभग सभी वैष्णव ग्रन्थों में प्रतिपादित भी किया गया[3] विष्णु के अवतार रूप में कल्पित किये जाने के कारण वे सभी विशेषण दत्तात्रेय के साथ संयुक्त मान लिये गये जो विष्णु से सम्बन्धित थे । यथा प्रस्तुत पुराण में उन्हें नारायण, अच्युत, अनन्त, वासुदेव, चक्रपाणि, शार्ङ्गधन्वन्, कृष्ण, जगन्नाथ, दैत्यांतक आदि नामों से भी सम्बोधित किया गया ।[4] उन्हें नारायणस्वरूप से भी अभिहित किया गया[5]। शंख, चक्र गदा उनके आयुध रूप में प्रस्तुत किये गये । उनकी उपासना में भक्ति समन्वित वैष्णव कर्मकाण्डों तथा आराधना पद्धति को महत्व मिला

---

[1] मार्क० पुराण, 17/5

[2] दत्तात्रेयः प्रजाः पाति दुष्टदैत्यनिबर्हणात् ॥
शिष्टानुग्रहकृत् योगी ज्ञेयश्चांशः स वैष्णवः ॥ -वही, 17/4-5

[3] परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् ॥ गीता
तथा,
अधर्मस्य विनाशाय धर्माधारार्थमेव च ॥
अनादिनिधनो देवः करोति स्थितिपालनम् ॥-मार्क०पुराण, 17/42

[4] -वही- 16/180-182

[5] नारायणेन अभिषिक्तो दत्तात्रेय स्वरूपिणा ---। -वही , 17/7

और दत्तात्रेय याग का प्रचलन भी हो गया । फलतः एक अवतारी पुरूष के रूप में दत्तात्रेय की कल्पना प्रस्तुत पुराण में प्रस्फुटित हुई जिनकी आराधना और स्तुति न केवल मानवों द्वारा अपितु देवों द्वारा भी किये जाने का वर्णन प्रस्तुत किया गया ।

न केवल मार्कण्डेय पुराण में अपितु अन्य पुराणों में भी विष्णु के दत्तात्रेय अवतार का वर्णन उपलब्ध होता है यथा मत्स्य, विष्णु, भागवत आदि पुराण ।

मत्स्य पुराण में विष्णु के दस अवतारों में जिन तीन अवतारों को मानुष अवतार की संज्ञा दी गई है उनमें दत्तात्रेय भी शामिल है ।[1] भागवत पुराण में दत्तात्रेय को आजगर-मुनि की संज्ञा से विभूषित किया गया क्योंकि अजगर के सदृश निश्चेष्ट जीवन वृत्ति रखने के कारण अजगर उनके गुरूओं में एक थे ।[2] विष्णु पुराण में भी दत्तात्रेय को विष्णु का अंशावतारी कहा गया है ।[3] मत्स्य पुराण के वर्णन के अनुसार भृगु की भार्या के वध के कारण दिये गये शाप के निमित्त विष्णु ने मर्त्य लोक में मानव रूप से पुनः सात बार अवतार लिया था जिसमें त्रेता युग में मार्कण्डेय को पुरोहित बनाकर दत्तात्रेय रूप में लिया गया अवतार भी एक था ।[4]

---

(1) मत्स्य पु0, 47वॉं अध्याय,

(2) भागवत पु0, 7/13/36

(3) योऽसौ भगवदंशमत्रिकुलप्रसूतं दत्तात्रेयाख्याराध्य॥
 – विष्णु पु0, 4/12/12

दत्तात्रेय-अवतार का प्रयोजन - धार्मिक सन्तुलन की व्यवस्था करना अवतार का प्रमुख उद्देश्य होता है । स्वंय गीता में कृष्ण ने कहा है कि "जब जब धर्म की ग्लानि और अधर्म का अभ्युत्थान होता है तब तब मै अवतार, ग्रहण करता हूँ । साधुओं की रक्षा और दुष्टों का विनाश करने के लिये युग-युग में जन्म लेता हूँ ।(1) गीता के ये वाक्य अवतारवाद की रीढ़ है, इसका प्रभाव पुराणों पर भी परिलक्षित होता है । विष्णु के दत्तात्रेय रूप से अवतार ग्रहण करने का प्रयोजन मार्क० पुराण में यत्र-यत्र प्रदर्शित है जिसमें यह आख्यात है कि अधर्म के विनाश एंव धर्म के आधार के लिये विष्णु ने अवतार लिया (2) एक अन्य स्थल पर दुष्टों का नाश एंव साधु वैष्णवों के प्रति अनुग्रह ही दत्तात्रेय के अवतरित होने का लक्ष्य आख्यात है(3) विष्णु के अंश के रूप में त्रिभुवन का पालन भी उनका कार्य है ।(4) अन्यत्र जगत की रक्षा के लिये विष्णु के अंश से दत्तात्रेय द्वारा

---

(1) यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत ।
अभ्युत्थानम् धर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहं ॥
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे-युगे ॥ -गीता, 4/3-4

(2) अधर्मस्य विनाशाय धर्माधारार्थमेव च ॥
मार्क० पुराण, 17/42

(3) दत्तात्रेय: प्रजापति दुष्टदैत्यनिबर्हणात् ॥
शिष्टानुग्रहकृत योगी ज्ञेय: चांश: स वैष्णव: ॥
मार्क० पुराण, 16/4-5

(4) --- पाति यो भुवनत्रयं ॥ -वही- 16/32

जन्म ग्रहण करने का प्रसंग वर्णित है ।[1] महान योगी के रूप में दत्तात्रेय द्वारा योग का ज्ञान प्रदान कर मुमुक्षुओं को मुक्ति का द्वार दिखाना उनका धार्मिक कर्त्तव्य प्रतीत होता है [2]

लक्ष्मी-दत्तात्रेय-पत्नी के रूप में - गुप्तकाल में वैष्णव धर्म के विकास में जो एक नया तत्व परिलक्षित हुआ था वह था- विष्णु के साथ-साथ उनकी पत्नी लक्ष्मी की पूजा की परम्परा का आरम्भ । सम्भवतः यही कारण है कि वैष्णवों की अवतारवाद की धारणा में वैष्णव अवतारों तथा स्वंय विष्णु के आख्यानों में लक्ष्मी को भी महत्त्व दिया गया । परिणामतः विष्णु के अवतार दत्तात्रेय को पत्नी के रूप में विष्णु सहचरी लक्ष्मी की कल्पना भी की गई रही होगी। प्रस्तुत पुराण में लक्ष्मी को दत्तात्रेय को वामपार्श्वस्थिता भार्या के रूप में चित्रित किया गया है ।[3]

वैष्णव धर्म में यह मान्यता प्रबल हुई कि विष्णु के ही समान लक्ष्मी भी सर्वव्यापक है, वे जगज्जननी है, वे विष्णु की आत्मा है । लक्ष्मी के बिना विष्णु की कोई सत्ता नहीं । लक्ष्मी विष्णु की

---

(1) वही, 16/33

(2) ------मोक्षदोऽस्मि वै ॥ -वहीं, 17/40

(3) -वहीं- 16/161

अर्धांगिनी तथा महामायास्वरूपिणी है । लक्ष्मी ही विष्णु की शक्ति है, जब जब विष्णु अवतार लेते हैं तब-तब लक्ष्मी उनके साथ रहती है और उनकी सहायता करती है ।[1] विष्णु के दैवी अवतारों के साथ दैवी बनकर, तथा मानुषी अवतारों के साथ मानवी बनकर लक्ष्मी विष्णु के साथ रही है।[2] परशुराम अवतार के समय पृथ्वी बनकर, कृष्णावतार में रुक्मिणी तथा रामावतार में सीता रूप से वे साथ रही । अतः दत्तात्रेय का विष्णु रूप से अवतार ग्रहण की कल्पना में लक्ष्मी का उनकी पत्नी रूप में वर्णन वैष्णव आख्यानों के अनुरूप ही था । इस सन्दर्भ में यह ध्यातव्य है कि वैदिक काल में श्री (लक्ष्मी) का सम्बन्ध आदित्य से था, पौराणिक काल में जब विष्णु की महत्ता बढ़ी तो लक्ष्मी को विष्णु से संयुक्त कर दिया गया।[3] प्रस्तुत पुराण में दत्तात्रेय-पत्नी लक्ष्मी के लिये 'उदधिसम्भवा' विशेषण प्रयुक्त हुआ है जो पौराणिक देवासुरसंग्राम में समुद्र से प्राप्त लक्ष्मी के आख्यान का द्योतक माना जा सकता है।

वैष्णव परम्परा के ही अनुकूल दत्तात्रेय प्रसंग में लक्ष्मी को सम्पूर्ण जगत की इष्टदायिनी, शुभकारिणी तथा संसार की अरणिस्वरूपा कहा गया है[4]

प्रस्तुत प्रसंग में लक्ष्मी के सात स्थान आख्यात है यथा- लक्ष्मी मनुष्य के पैर में रहने से गृह प्रदान करती है , अस्थि में स्थित होने से नाना प्रकार के रत्न और वस्त्र देती है गुह्यक स्थान में वास से स्त्री, क्रोड में रहने से पुत्र, कण्ठ में रहने से कण्ठाभूषण तथा मुख में स्थित होने से कवित्व लाभ देती

---

(1) एवं यदा जगत्स्वामी देवदेवो जनार्दनः ।
अवतारं करोत्येषा तदाश्रीस्तत्सहायिनी ।।- विष्णु पु०, 1/9/142

(2) विष्णु पु०, 1/9/145

(3) द्रष्टव्य, राय, एस०एन०, पौराणिक धर्म और समाज, पृष्ठ 23,

है । यदि लक्ष्मी मस्तक पर स्थित हो तो वह उसे छोड़कर अन्य का आश्रय ग्रहण कर लेती है ।[1]

उपरोक्त वर्णन में विष्णु पत्नी लक्ष्मी का स्वरूप उस परमाशक्ति के तुल्य प्रदर्शित होता है जो महालक्ष्मी रूप से रत्न, सम्पत्ति, समृद्धि की अधिष्ठात्री है, महासरस्वती रूप से विद्या, कवित्व और मेधा प्रदान करती है तथा महाकाली के रूप में सांसारिक सुख, वैभव प्रदान करती है । दत्तात्रेय की पत्नी के रूप में उपरोक्त रूपत्रय की अभिव्यंजना ही दिग्दर्शित है।

इस सन्दर्भ में एक प्रसंग यह भी विवेचनीय है कि गुप्त काल के पूर्व लक्ष्मी विष्णु की पत्नी के रूप में पूजित नहीं थी वरन् वैदिक काल में श्री देवी के रूप में आदित्यों से सम्बद्ध थी । वही लक्ष्मी आगे चलकर कुबेर और कभी-2 गणेश पत्नी के रूप में भी कल्पित की गई। कुषाण काल में कुबेर और हारीति के साथ लक्ष्मी की प्रतिमा भी प्राप्त होती है [2] गुप्त काल में सर्वप्रथम स्कन्दगुप्त के जूनागढ़ अभि0 में लक्ष्मी सहित विष्णु का उल्लेख प्राप्त होता है ।

दत्तात्रेय का विविध स्वरूप और अभिधान-

वैष्णव अंशावतारी दत्तात्रेय के आख्यान के अनुशीलनात्मक विवेचन से स्पष्ट होता है कि प्रस्तुत पुराण में दत्तात्रेय के स्वरूपत्रय की विशेषताओं को निरूपित करने की चेष्टा की गयी है ये स्वरूपत्रय है। §1§ अवतारी भक्तानुकम्पक रूप §2§ अवधूत जीवन की मर्यादाओं से सम्पृक्त स्वरूप तथा

---

§1§ मार्क0 पुराण, 16/171 से 174 तक

§2§ द्रष्टव्य, अग्रवाल, वासुदेवशरण, भारतीय कला, पृष्ठ 272

3- योगीश्वर स्वरूप

<u>अवतारी रूप</u> - अवतारी भक्तानुपकम्पक स्वरूप से दत्तात्रेय नितान्त वैष्णव भगवत् - परम्परा के अनुरूप चित्रित किये गये है जिसके अनुसार वे भगवत् विष्णु के अवतार है इसलिये सर्वत्र समदर्शी है, [1] त्रिभुवन का पालन करने वाले, [2] महाभाग, उपासना, उपहारादि से सन्तुष्ट किये जाने पर इच्छित वर प्रदान करने वाले, भक्ति सहित पूजा किये जाने पर प्रसन्न होने वाले है ।[3] वे ही विष्णु रूप है जो माया से आश्रित होकर मनुष्य रूप में अवतार लेते हैं जिसकी आराधना इन्द्रादि सर्वदेव करते हैं ।[4] वैष्णव परम्परा के ही अनुकूल धार्मिक कर्मकाण्ड यथा - पत्र, पुष्प, गन्धानुलेपनप्रदानपूर्वक, भक्तिसहित आराधना आदि से उनको सन्तुष्ट किया जा सकता है । विष्णुत्व के सूचक अधिकांश अभिधान उनके साथ संयुक्त किये गये । 'चक्रपाणि', 'वासुदेव', आदि विशेषण उनके विष्णुत्व के ही सूचक है ।[5] वे नारायणस्वरूप भी अभिव्यक्त किये गये । दत्तात्रेय का यह स्वरूप उपासनीय, अवतारात्मक स्वरूप कहा जा सकता है जिसमें "भगवत्" की सभी विशिष्टतायें शामिल थी । यही उनका सौम्य रूप था, जो कल्याणकारी, शरणागतवत्सल, भक्तानुकम्पक था ।

---

(1) मार्क० पुराण, 16/51

(2) -वही-, 16/32

(3) -वही-, 17/12

(4) -वही-, 16/34

(5) -वही-, 16/180 से 182

अवधूत- रूप - अपने दूसरे स्वरूप में दत्तात्रेय अवधूत जीवन की मर्यादाओं से जुड़े प्रतीत होते हैं । [1] इस रूप में उन्हें सुरापान में रत, रमणी सहित, गंधर्वों द्वारा गीयमाण, उच्छिष्ट, अजितेन्द्रिय, अपवित्र, योषितसंग कहा गया है। कार्त्तवीर्य द्वारा आराधना किये जाने पर दत्तात्रेय स्वयं अपनी कुत्सित मर्यादाओं को प्रकट करते हुये कहते हैं कि मद्यपान मेरे निन्दित कर्म हैं, रमणी भार्या के साथ मैं कुत्सित हूँ, निन्दनीय कार्यों में व्यस्त, उपकार करने में असमर्थ हूँ । [2] अजितेन्द्रिय और निरन्तर अपवित्र हूँ । इसी प्रकार देवताओं द्वारा आराधित होने पर भी दत्तात्रेय अपने इन्हीं दुर्गुणों को व्यक्त करते हैं [3] तपोधन, महात्मा होते हुये भी वे विकृताचारी है ।[4] अन्यत्र उन्हें सुरा पिबनसपत्नीक, तथा गीतवाद्य आदि भोगों तथा वनिता के संसर्ग से दूषित कहा गया है । [5]

योगीश्वर रूप- दत्तात्रेय का तीसरा रूप- योगीश्वर रूप है जिसमें वे महायोगी योगस्थित, योगविद आख्यात है ।[6] प्रस्तुत पुराण के वर्णन

---

[1] द्रष्टव्य, वासुदेवशरण, मार्क० पुराण एक सांस्कृतिक अध्ययन,

[2] मद्यासक्तोऽहमुच्छिष्टों न चैवांह जितेन्द्रिय : ।।- मार्क पुराण,
तथा
स्त्रीचेयं मम पार्श्वस्थेत्येतद्भोगानुकुत्सित: । -वहीं, 17/4.

[3] वही 16/49

[4] ..... तपोधनं विकृताचरणं ।।- वही 16/140

[5] वही, 16/15

[6] योगे स्थास्याम् इति ।। वही, 16/113,
- स्योगविद --- ।। वही, 16/117 तथा 16/108

के अनुसार दत्तात्रेय को मुनिगणों द्वारा परिवेष्टित किये रहने का कारण उनका परमयोगी स्वरूप था ।[1] इस स्वरूप में वे निष्पाप तथा प्रक्षालित-अन्तःकरण वाले योगी के रूप में प्रस्तुत किये गये । प्रस्तुत पुराण में यह वर्णन है कि जिस प्रकार सूर्य की किरण द्विज और चाण्डाल दोनों का स्पर्श करके भी दोनो में आसक्त नहीं उसी प्रकार योषितयुक्त होते हुये भी वे निष्पाप और अनासक्त है ।[2] पुराणकार के अनुसार वारूणीपान के पश्चात् भी वे दूषित नहीं हैं| स्पष्ट है कि वैष्णवों के निवृत्तिमूलक परम्परा के पोषक महान योगीश्वर रूप में दत्तात्रेय की प्रतिष्ठा अधिक थी । योग धर्म का सम्बन्ध भागवतीय धर्म से सिद्ध करने के लिये ही दत्तात्रेय को योगीश्वर के साथ-2 अवतारी पुरूष के रूप में प्रस्तुत किया गया । कृष्ण भी गीता में परम् पुरूष होते हुये भी योगीश्वर कृष्ण है । स्पष्ट है कि भागवतीय योग धर्म के अधिष्ठाता और उपदेष्टा के रूप में ही वैष्णव अंशावतारी दत्तात्रेय के चरित्र का प्रस्तुतीकरण पुराणकार को अभीष्ट था । भागवत् पुराण के अनुसार - प्रवृत्ति और निवृत्ति ये दो कर्म वैदिकी है ।[3] कालिदास ने भी "प्रजोये गृहमेधिनाम्" के साथ-साथ "योगेनान्ते तनुत्यजाम्" कह कर योग को महत्ता प्रदान किया और यही भागवत् धर्म का सम्पूर्ण सूत्र भी बना । इसीआदर्श के अनुरूप मदालसा प्रदत्त गृहस्थधर्म के वर्णन और दत्तात्रेय प्रदत्त योग धर्म के निरूपण के माध्यम से पुराणकार ने भागवतीय स्वरूप की ही प्रतिष्ठा की । योग धर्म में ईश्वर का प्रतीक "ओम" था जो

---

(1) मार्क० पुराण, 16/107

(2) वहीं, 16/32

आत्मा की पवित्रता का द्योतक भी था। इस प्रकार आस्तिकता के कारण "योग" एक दर्शन के साथ - साथ धर्म ज्यादा था। पुराणों में इसी लिये योग विधि एवं अध्यात्मविद्या को भागवतीय धर्म के निरूपण में विशेष महत्त्व मिला। भागवत पुराण में [1] कपिलदेवहूति संवाद, ऋषभोपदेश, अवधूत-प्रह्लाद सम्वाद, आदि इस के उदात्त उदाहरण है। प्रस्तुत पुराण में वर्णित दत्तात्रेय प्रदत्त योग ज्ञान का वर्णन भी इसी परम्परा में आता है।

<u>दत्तात्रेय की उपासना पद्धति</u> - प्रस्तुत पुराण के अध्यायों का अनुशीलन करने से स्पष्ट हो जाता है कि उस समय वैष्णव अवतार दत्तात्रेय की उपासना में योग विधि तो प्रचलित थी ही, साथ ही साथ पौराणिक "भक्ति" समन्वित आराधना पद्धति अधिक महत्त्वपूर्ण मानी जाती थी। स्वयं एक स्थल पर दत्तात्रेय द्वारा आख्यात है कि 'मै सदा भक्ति द्वारा मनुष्य को सुलभ होता हूँ।' [2] राजा कार्त्तवीर्य द्वारा दत्तात्रेय की पूजा भक्ति सहित करने का उल्लेख है। [3] अन्यत्र उन्हें "भक्तवत्सल" कहा गया है। [4] एक अन्य स्थल पर कार्तवीर्य दत्तात्रेय से उनके प्रति भक्ति का वरदान माँगते है।

---

[1] भागवत पु०, तृतीय, पंचम तथा सप्तम स्कन्ध

[2] सदैव वैष्णवानां च भक्त्याहं सुलभोऽस्मि भो:। - मार्क० पुराण, 17/

[3] वहीं, 17/1

[4] वहीं, 16/82

जहाँ तक भक्ति सिद्धान्त की प्राचीनता का प्रश्न है, इसके संकेत ऋग्वेदीय सूक्तों में भी मिल जाते हैं ।[1] श्वेताश्वेतरोपनिषद में "भक्ति" शब्द का प्रयोग मिलता है । [2] नारायणीय उपाख्यान और भगवद्गीता में भक्ति का प्रतिपादन हुआ है| पुराणों में तो "भक्ति" पर अधिक महत्त्व दिखाई देता है । भक्ति भी कई प्रकार की निरूपित की गई यथा पद्म पुराण में लौकिकी, वैदिकी, आध्यात्मिकी प्रकार की भक्ति, [3] तथा मानसी, वाचिकी तथा कायिकी प्रकार की भक्ति, [4] भागवत् पुराण में सात्त्विकी, राजसी, तामसी विभेद वाली भक्ति[5] का उल्लेख है ।

पौराणिक काल में "भक्ति" समन्वित "पूजा पद्धति" अधिक लोकप्रिय थी जिसके अर्न्तगत लौकिक पदार्थों यथा पत्र, पुष्प, गन्ध, अनुलेपन, अन्न आदि के अर्पण द्वारा आराध्य को सन्तुष्ट किये जाने का विश्वास शामिल था । दत्तात्रेय की उपासना में जिन आचरणों व कर्मकाण्डमूलक पूजा परम्परा को महत्व दिया जा रहा था उसकी

---

[1] द्रष्टव्य - धर्मशास्त्र का इतिहास, पृष्ठ 455,

[2] वहीं, पृष्ठ 455

[3] पद्म पु0, 5/15/164

[4] वहीं, 5/15/165-168

[5] भागवत पु0, 3/29/7-10

संकेतक उपासना विधि निम्नलिखित रूप में प्रस्तुत की जा सकती है ।

1- गुप्तनामोच्चारण विधि[1]

2- माल्यादि अर्पण विधि[2]

3- मंध मांसयुक्त उपहार तथा घृतयुक्त मिष्ठान अर्पण द्वारा[3]

4- वीणा, वेणु, शंख आदि मनोहर संगीत गान से[4]

5- लक्ष्मी सहित तथा ब्राह्मण की पूजा से[5]

6- पादसंवाहन तथा अर्घ्यप्रदान विधि[6]

7- चन्दन, गंध, अम्बु, फल, अन्न आदि प्रदानपूर्वक[7]

8- अनुगमन क्रिया द्वारा[8]

9- दात्तत्रेय-याग के सम्पादन द्वारा[9]

10- योगविधि द्वारा[10]

---

(1) मार्क० पुराण, 17/9 तथा 17/14

(2) वहीं, 17/10

(3) वहीं, 17/11

(4) वहीं, 17/12

(5) वहीं, 17/1

(6) पादसंवाहनाद्येन अर्घ्यार्घाहरणेन च ॥ वहीं, 17/1-2

(7) वहीं, 17/2-3

(8) वहीं, 16/1 45

(9) वहीं, 17/36

(10) वहीं, 16/17

उपरोक्त "पूजा पद्धति" के अतिरिक्त स्तुति, चिन्तन, आराधन आदि से भी सन्तुष्ट किये जाने का प्रसंग वर्णित है । स्पष्ट है कि लौकिकी, वैदिकी, आध्यात्मिकी तीनों प्रकार की भक्ति-पूजा का समावेश वैष्णव धर्म में हो गया था । स्वंय दत्तात्रेय के शब्दों में पुराण कार ने स्पष्ट रूप से गीता के उस "भक्ति" के सिद्धान्त को स्वीकार किया है जिसमें कृष्ण कहते हैं कि जो मुझे भक्ति से पत्र, पुष्प, फल अर्पण करते हैं उसे मैं भक्ति से सन्तुष्ट देखता हूँ ।[1] इसी के अनुरूप दत्तात्रेय की उक्ति है कि जो मनुष्य माल्यादि से पूजन करते हैं, मधमांस रूप उपहार और घृतयुक्त मिष्ठान्न प्रदान करते हैं उनको परमसन्तुष्ट करता हूँ ।"[2] अन्यत्र वर्णन है कि पत्र, पुष्प, फल द्वारा पूजित दत्तात्रेय मुक्ति प्रदान करते हैं।[3]

दत्तात्रेय प्रसंग में उनकी आराधना के सम्बन्ध में जो विवरण प्राप्त हैं उनके आधार पर उपासना भक्ति को स्थूलरूप में तीन विभेदों में विभाजित कर सकते हैं । (1) मानसिक भक्ति (2) वाचिक भक्ति (3) कायिक भक्ति मानसिक भक्ति के अन्तर्गत नामस्मरण, चिन्तन, को महत्त्व दिया गया । स्वंय दत्तात्रेय मुमुक्षुयोगियों के लिये चिन्तनीय वर्णित किये गये । वाचिक

---

(1) पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति
तदहं भक्त्युपहृत पश्यामि प्रयतात्मनः ।। - भगवद्गीता

(2) मार्क० पुराण, 17/11-12

(3) पत्रपुष्पफलेनाहं पूजितो मोक्षदोऽस्मि वै ।। वहीं, 17/40

भक्ति के अन्तर्गत, नामसंकीर्तन, स्तुति, यश कीर्तन, आदि क्रियायें सम्मिलित की जाती है जिसका उल्लेख नारद पांचरात्र की ज्ञानामृतसार संहिता में है ।[1] प्रस्तुत पुराण में भी नाम संकीर्तन के महत्व को कई वर्णन- प्रसंग में निरूपित किया गया है। वर्णन क्रम के अनुसार दत्तात्रेय कार्तवीय के द्वारा गुप्तनाम संकीर्तन के कारण प्रसन्न हुए थे ।[2] इसी प्रकार देवताओं द्वारा दत्तात्रेय की स्तुति" किये जाने का प्रसंग भी वर्णित है ।[3] कायिक भक्ति के अन्तर्गत शरीर, मन, इन्द्रिय पर नियन्त्रण रखना महत्वपूर्ण है जिसका प्रतिपादन अलर्क को दिये गये योगज्ञान में हुआ है ।

स्तुति, आराधना आदि के साथ-साथ "पूजापद्धति" का विकास हो रहा था लेकिन याज्ञिक क्रियाओं का भी लोप नहीं हुआ था। राजा कार्तवीर्य द्वारा अतुल ऐश्वर्य की प्राप्ति के लिये दत्तात्रेय की आराधना "पूजा पद्धति से ही की गयी वर्णित है। अभीष्ट वर प्राप्त करने के बाद कार्तवीर्य ने दत्तात्रेय याग" का सम्पादन किया था [4]

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि पौराणिक भक्तिवाद, पूजा पद्धति आदि के साथ-साथ वैष्णव आराधना परम्परा में वैदिक स्तुति परम्परा और यज्ञ क्रिया का भी प्रचलन था। पुराणकारों ने किंवा भागवतों ने भगवत-गीता के "भक्ति" समन्वित आराधना पद्धत्ति को अपनाया, वही आत्मनिवेदन

---

[1] मिश्र, जयशंकर, प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास, पृष्ठ 677

[2] प्रसाद सुमुखस्तेऽहं गुह्यनाम प्रकीर्तनात् ।।- मार्क॰पुराण, 17/14

[3] वही, 16/179 तथा 16/144

[4] मार्क॰ पुराण, 17/36-37 .

को भी महत्व दिया । योगीश्वर होने के कारण दत्तात्रेय की उपासना में अनुगमन, प्रणाम, स्मरण, चरणसेवन आदि के साथ-2 यौगिक क्रियाओं के अन्तर्गत ओम् के जप के निरूपण के रूप में इन्द्रिय निग्रह पर भी बल दिया गया ।§जिसका विवेचन योग धर्म के अन्तर्गत किया गया है । §

आगे चलकर जब पौराणिक उपासना पद्धत्ति में व्रत, तीर्थ आदि का महत्व बढ़ा तब दत्तात्रेय के जन्म सम्बन्धी व्रत का अनुष्ठान प्रचलन में आया रहा होगा। पी0वी0 काणे ने व्रतों की सूची में §1§ दत्तात्रेय जयन्ती व्रत का भी उल्लेख किया है जो मार्गशीर्ष पूर्णमासी को मनायी जाती है। तमिल पचांगों से भी यह जयन्ती पर्व मनाने का संकेत मिलता है। स्पष्ट है कि परवर्ती काल में भागवत धर्म में अनेक व्रत और धार्मिक कृत्य शामिल हो गये जिनमें अवतारों की जयन्तियाँ भी मनाई जाने लगीं ।

<u>दत्तात्रेय और यदृच्छावाद या नियतिवाद</u>- जैसा कि पूर्व में उल्लिखित है कि भागवतों ने प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों मार्गों को सम्बल प्रदान किया था उसमें दत्तात्रेय को निवृत्ति मार्ग के पोषक के रूप में प्रस्तुत किया। दिव्य व्यक्तित्व के कारण दत्तात्रेय एक ओर अंशावतारी रूप में मान्य थे । तो दूसरी ओर वे अवधूत जीवन की मर्यादाओं से समाविष्ट भी स्वीकार

---

§1§ काणे, पी0वी0, धर्मशास्त्र का इतिहास, चतुर्थ भाग,

किये गये । इस रूप में अनघ, अजितेन्द्रिय, योगी, तयोषित तथा मद्यासक्त आदि अभिधान उनके साथ जुड़ गये । दत्तात्रेय- अलर्क-संवाद एक ओर योग विधि -धर्म का प्रतिपादक स्थल है वहीं दूसरी ओर इस पर श्रमण परम्परा या नियतिवादी परम्परा अथवा यदृच्छावाद का भी प्रभाव कुछ विद्वानों ने स्वीकार किया है । इनमें वासुदेव शरण अग्रवाल महोदय प्रमुख है। उन्होंने अपनी व्याख्या में यह निरूपित करने की चेष्टा की है कि जिस क्षेत्र में अवधूत ऋषभदेव तथा भरत की परम्परा विद्यमान थी उसी क्षेत्र में भागवतों ने दत्तात्रेय के रूप की उद्भावना की । यह क्षेत्र था- महाराष्ट्र तथा आसपास का प्रदेश । उनके अनुसार दक्षिण में जैनियों की श्रमण परम्परा की मान्यता विद्यमान थी जिसकी पृष्ठभूमि में बाहुबली की प्रतिमा आज भी स्थापित है,जो श्रवणबेल-गोला स्थान में बनायी गयी थी| उसी क्षेत्र में दत्तात्रेय का निवास स्थान भागवतों ने घोषित किया और उसे सह्याद्रि पर्वत का समीपवर्ती क्षेत्र बताया ।

दक्षिण भारत में उस प्रदेश में श्रमण परम्परा के विद्यमान होने का संकेत भागवत पुराण में भी द्रष्टव्य है जिसमें ऋषभदेव का चरित्र निरूपित है ।

भागवत पुराण[1] के अनुसार ऋषभदेव कोंक, वेंक, कुटक तथा दक्षिण कर्नाटक में उन्मत्त के समान दिगम्बर वेष में घूमते थे, इन्हीं ऋषभदेव के पुत्र

---

(1) भागवत पु0, 5/7 वां अध्याय तथा

अग्रवाल, वा. श., मार्कण्डेय पुराण एक सांस्कृतिक अध्ययन, पृष्ठ 87

भरत थे जिनके नाम से इस देश का नाम "भारत पड़ा । भरत से पूर्व इसका नाम अजनाभवर्ष था। भरत और ऋषभदेव दोनों ही भागवत् पुराण में अवधूत जीवन की मर्यादाओं के पालक तथा अनुगामी रूप में प्रस्तुत है । भागवत् पुराण में ऋषभ देव को "आजगर व्रत में आस्थित" भी कहा गया है।{1} इससे स्पष्ट होता है कि श्रमण परम्परा तथा अवधूत परम्परा में पारस्परिक साम्य और सम्बन्ध अवश्य था। भागवत पुराण में ही एक अन्य स्थल पर आजगरमुनि तथा प्रहलाद के संवाद का उल्लेख है जिसमें अवधूत को आजगर मुनि कहा गया है तथा उनका स्थान सह्याद्रि पर्वत के समीप कावेरी नदी की तलहटी में आख्यात है ।{2} इस संवाद में दत्तात्रेय ने अजगर और मधुमक्खी को अपना गुरू कहा है। अजगर के समान निश्चेष्ठ पड़ा रहकर 'दिष्टभुक' तथा " यदृच्छा" से प्राप्त वस्तु ग्रहण करने के कारण उन्हें नियतिवाद या यदृच्छावाद का पोषक भी माना गया। प्राचीन भारत में प्रचलित नियतिवादी दार्शनिक मत के संस्थापक मुखलिगोशाल थे उसे ही दिष्टवाद भी कहा गया {3} भागवत पुराण में दत्तात्रेय अवधूत को भी 'दिष्टभुक" कहा गया है जिससे यह प्रकट होता है कि यदृच्छावाद और नियतिवाद में निकट का सम्बन्ध रहा होगा । इस प्रकार प्राचीन भारत में प्रचलित दार्शनिक मत यदृच्छावाद से अवधूत आजगर मुनि सम्बद्ध थे ।

{1} भागवत पु०, 5/6/32-34
[ऋषभदेव जैन धर्म के प्रथम तीर्थंकर भी माने जाते हैं ।}

{2} वही, 7/13/11-12

{1} अग्रवाल, वासुदेवशरण, मार्कण्डेय पुराण एक सांस्कृतिक अध्यय, पृष्ठ 84

महाभारत के शान्ति पर्व में [1] भी अवधूत परम्परा का निर्वाह संकितित है जिसमें बोध्य ऋषि इसी प्रकार के अवधूत वर्णित है जो अजगर को अपना गुरू मानते थे । आजगर मुनि की कूटस्थ, मुक्त, हानि-लाभ से परे स्थिति को ही गीता में ब्राहमी स्थिति कहा गया है।

इसी प्रकार जातक ग्रन्थों में संखपाल जातक में भी नागराज संखपाल का चरित्र आजगर वृत्ति का उदाहरण स्वीकार किया जा सकता है।

स्पष्ट है कि मार्कण्डेय पुराण, भागवत पुराण, महाभारत तथा जातक ग्रन्थों मे जिस आजगर वृत्ति वाले अवधूत जीवन का परिचय प्राप्त होता है,

---

[1] अग्रवाल, वासुदेव शरण, मार्कण्डेय पुराण एक सांस्कृतिक अध्यय पृष्ठ-85

उसका सम्बन्ध नियतिवाद या यदृच्छावाद से था §दत्तात्रेय इसी मत के अनुयायी थे । यह परम्परा आचार मीमांसा के क्षेत्र में अवधूत जीवन को आदर्श मानती थी इस अवधूत जीवन का सम्बन्ध श्रमण परम्परा से था जिसका संकेत भागवत पुराण में ऋषभ व भरत के आख्यानों में संरक्षित है । अवधूत आजगर वृत्ति के पालक उपरोक्त भरत तथा ऋषभदेव भी थे अतः दत्तात्रेय और ऋषभ समान परम्परा के पोषक कहे जा सकते हैं क्योंकि इन दोनों का जीवन अनघ, मुक्त, आजगर वृत्ति युक्त तथा प्रज्ञाशील था। कर्म में लिप्त न होकर भी कैवल्य के, मोक्ष के साधक के रूप में दोनों ही ,प्रतिष्ठित थे । इस विवेचन से यह अनुमान लगाया जा सकता है कि मार्कण्डेय पुराण वर्णित दत्तात्रेय चरित का प्रसंग भागवत पुराणोक्त भरताख्यान का पूर्ववर्ती आख्यान है जिस समय दक्षिण भारत में कर्णाटक, महाराष्ट्र आदि प्रदेशों में श्रमण परम्परा बलवती थी और भागवत अनुयायी उनके प्रबल प्रतिद्वन्दी के रूप में उभर रहे थे उस समय भागवतों ने स्वधर्मप्रतिष्ठापनार्थ उसी क्षेत्र में प्रचलित मान्यताओं के अनुकूल व्यवस्था के अन्तर्गत दत्तात्रेय अवतार की कल्पना सृजित की और उन्हें उसी क्षेत्र में प्रचलित ऋषभदेव और भरत की परम्परा के साँचे में संवर्धित करने का प्रयास किया । इसी क्रम में भागवतों ने दत्तात्रेय को अनघ,अजितेन्द्रिय, उच्छिष्ट, मद्य से आसक्त रूप में ,प्रस्तुत किया जो श्रमण परम्परा में नियतिवाद और यदृच्छावाद जैसे दार्शनिक मतों के अनुरूप ही था । इस कल्पना का विकसित रूप भागवत पुराण में प्राप्त होता है । आज भी दत्तात्रेय, की मान्यता दक्षिण भारत में अधिक है। इस परम्परा में गुरू को महत्त्व दिया जाता है तथा दत्तात्रेय जयन्ती भी मनायी जाती है ।

योगधर्म का निरूपण-

भागवतों ने एक ओर गृहस्थ आश्रम के प्रवृत्ति मूलक आचारों को महत्ता देकर कालिदास के " प्रजायै गृहमेधिनाम्" के आदर्श का निर्वाह किया वहीं दूसरी ओर कालिदास की उक्ति "योगेनान्ते तनुत्यजाम् " के आधार पर निवृत्तिमूलक योग धर्म का भी प्रतिपादन किया । "प्रवृत्तं च निवृत्तं च द्विविधं कर्मवैदिकम्" कहकर पुराणों ने इसका समर्थन किया ।[1] प्रस्तुत पुराण यद्यपि शाक्त प्रधान पुराण को कोटि में आता है तथापि विष्णु के अवतारों, अवतार प्रयोजन, चतुर्व्यूहात्मक रूपों, भागवत भक्ति, प्रवृत्ति व निवृत्ति दो प्रकार की भागवती निष्ठाओं आदि के वर्णनों से प्रस्तुत पुराण का भागवत- धर्मीय स्वरूप स्पष्ट हो जाता है। मदालसा द्वारा अलर्क को उपादिष्ट आश्रम धर्म, भागवत धर्म की प्रवृत्ति मूलक धारण को व्यक्त करता है तो दत्तात्रेय प्रोक्त योग-धर्म उनके निवृत्ति, वैराग्य, मोक्ष का साधन था। स्वयं दत्तात्रेय जो महान योगी, योग युक्त तथा योगस्थ थे, विष्णु के अवतार रूप में वर्णित किये गये।भागवत पुराण स्वयं तत्सम्बन्धी ऋषभोपदेश [2], अवधूत प्रहलाद संवाद [3], जड़ भरत- रहूगण संवाद, [4] हंसोपदेश [5],

---

[1] मार्क० पुराण, 42/1

[2] भागवत पु०, 5/5

[3] वही, 7/13

[4] वही, 7/11

तथा कपिल देवहूति संवाद[1] प्रस्तुत करके भागवतों की अध्यात्म योग विद्या का उदात्त उदाहरण प्रस्तुत करता है । इसी परम्परा के द्योतनार्थ मार्क० पुराण में दत्तात्रेय प्रदत्त योग धर्म का वर्णन 34 वें अध्याय से 41 वें अध्याय तक विशेष रूप से हुआ है ।

योग शब्द का प्रयोग ऋग्वेद, उपनिषद, स्मृतियों व महाभारत में भी मिलता है । ऋग्वेद में योग का प्रयोग भिन्न अर्थ में हुआ है ।[2] वैदिक काल में "योग" और "यति" शब्द सन्यासी का पर्याय नहीं था । उपनिषदों में योग द्वारा परमात्मा का ध्यान करके इन्द्रियों को स्थिर करने की बात कही गयी हैं । [3] जिसके अनुसार नचिकेता ने योग विधि व विद्या को जानकर ब्रह्म ज्ञान प्राप्त किया । इससे स्पष्ट है योग शब्द का विधान उसी अर्थ में बहुधा प्रचलित था जिसका अभिधान योगसूत्र महाभारत, पुराण आदि में प्राप्त होता है । उपनिषद काल से ही योग व यति धर्म में साम्य प्रदर्शित होने लगता है ।

---

[1] भागवत पु०, 3/25

[2] ऋग्वेद, 1/34/9 में योग शब्द का अर्थ 'जुँआ में लगाना' है ।

[3] मृत्युप्रोक्तां नचिकेतोऽथलब्ध्वा विद्यामेतां योगविधिं च
कृत्स्नं ब्रह्म प्राप्तो विरजोऽभूद् —— ॥
कठोपनिषद, 6/18

मार्कण्डेय पुराण में 34वें अध्याय से 41वें अध्याय तक दत्तात्रेय प्रदत्त योग विषयक ज्ञान का वर्णन है जिसे राजा अलर्क ने दत्तात्रेय से प्राप्त करके वैराग्य का आश्रय लेकर मोक्ष-मुक्ति पद प्राप्त किया था। इन अध्यायों में योग का जो वर्णन प्राप्त होता है वह पातंजल योग से पर्याप्त साम्य रखता है। यद्यपि धर्म की अपेक्षा एक दर्शन के रूप में योग की चर्चा का महत्त्व अधिक था तथापि प्रस्तुत पुराण में योग सम्बन्धी वर्णन वैराग्य, सन्यास व यति धर्म के अति निकट भी प्रतीत होते हैं। एक दर्शन की अपेक्षा धर्म के रूप में योग की प्रतिस्थापना ही प्रस्तुत पुराण में अभीष्ट थी। योग शब्द का उल्लेख प्रस्तुत पुराण में अनेकधा प्रयुक्त हुआ है। पुराणानुसार यह योग -'शाश्वत ब्रह्म के साथ एकता प्रदान कराने वाला' है जिसके अनुष्ठान से पुनर्जन्म से मुक्ति प्राप्त होती है [1] जिससे चित विषयों से अनासक्त होकर स्थिर रहता है।[2] विषयासक्ति से मुक्ति योग का पहला लक्षण है।[3]

---

[1] कथं च ब्रह्मणैकत्वं व्रजेयं शाश्वतेन वै ॥
तन्मे योगं तथा ब्रह्न्प्रणतायाभियाचते ॥
- मार्क० पुराण, 35/19-20

[2] किन्त्वत्र विषयाक्रान्ते स्थैर्यवत्त्वं न चेतसि ॥
- वहीं, 35/18

[3] - वहीं, 36/3

यहाँ पर यह उल्लेखनीय है कि पातंजल योग सूत्र भी चितवृत्तियों के निरोध को योग की संज्ञा प्रदान करता है [1] अर्थात मन की चंचलताओं पर नियन्त्रण ही योग है । प्रायः सर्वत्र ही चित्त की चंचलताओं पर नियन्त्रण, विषयों से अनासक्ति, ब्रह्म से एकाकार आदि की अवस्था को योग की संज्ञा प्रदान की गयी है । देवलधर्मसूत्र मन को विषयों से हटाने की क्रिया को योग कहता है ।[2]

प्रस्तुत पुराण में सर्वत्र ही संसार से अनासक्त होकर एकान्तचित्त से संयतेन्द्रियपूर्वक ईश्वर या ब्रह्म से साक्षात्कार के अर्थ में ही इस शब्द का प्रयोग पुराण कार ने किया है, [3] जो मुक्ति का अन्यतम साधन है, जो निरन्तर अभ्यास से प्राप्त होता है जिसके लिये वेद, यज्ञ, जप आदि आवश्यक नहीं है [4]

---

(1) योगश्चित्त वृति निरोधः । योगसूत्र 1/2

(2) द्रष्टव्य, काणे पी.वी., धर्मशास्त्र का इतिहास, पंचम भाग, पृष्ठ 262, पाद टिप्पणी 27,

(3) मार्क० पुराण, 41/34

(4) - वहीं, 41/35

विष्णु पुराण भी आत्मजित मन के ब्रह्म के साथ संयोग की अवस्था को योग की संज्ञा देता है । [1] गीता भी चित्त की अनासक्ति को योगी का प्रधान लक्षण मानती है [2] अर्थात सांसारिक - सुख से विरक्ति ही संग परित्याग है जिसमें योगारूढ़ पुरूष मुक्ति प्राप्त करता है ।

उपरोक्त परिभाषाओं के आलोक में विवेचना करने पर ज्ञात होता है कि प्रस्तुत पुराण में यद्यपि योग की स्पष्ट परिभाषा प्रस्तुत नहीं है तथापि उन सभी परिभाषाओं का समावेश यत्र-तत्र पुराणोक्त योग सम्बन्धी विवरणों में अवश्य ही है जिनका उल्लेख योग सूत्र, स्मृति, सूत्र ग्रन्थों, पुराणों तथा गीता में प्राप्त होता है। प्रस्तुत पुराण में यह वर्णन है कि ममतासक्त चित्त दुख का कारण है, दुख उत्पन्न होने पर ही ज्ञान और ज्ञान से वैराग्य उत्पन्न होता है, अतः मुमुक्षु योगी संग का परित्याग करें [3]। इन पंक्तियों में योग सूत्र के "चित्रवृत्ति निरोधः" का भाव ही सन्निहित है । प्रस्तुत पुराण में यह भी विवेच्य है कि योगी जन योगाचरण द्वारा मुक्ति लाभ प्राप्त कर ब्रह्मत्व को प्राप्त कर लेते हैं [4] इस प्रकार प्रस्तुत

---

[1] आत्म प्रयत्न सापेक्षा विशिष्टा या मनोगतिः ।
तस्या ब्रह्मणि संयोगो योग इत्यभिधीयते ॥
विष्णु पु0, 6/7/31

[2] गीता, 6/20

[3] मार्क0 पुराण, 36/2-3

[4] - वहीं; 41/34

पुराण में योग की व्याख्या ब्रह्म से एकाकार एवं सांसारिक विषयों से, ममता से, दुःख से, मुक्ति के साधन के रूप में की गयी है । दार्शनिक रूप से जगत को सुख दुखात्मक - ममतार्गत रूप में व्याख्यापित करते हुये ममतासक्त व्यक्ति को दुःखी तथा ममताशून्य अनासक्त व्यक्ति को मुमुक्षुयोगी, तथा वैरागी की संज्ञा दी गयी है और इस रूप में प्रस्तुत पुराण पातंजल योग सूत्र व गीता से बहुत प्रभावित प्रतीत होता है ।

प्रस्तुत पुराण में योग को 'परम् सुख' की संज्ञा दी गयी है जिसमें यह आख्यात है कि योग की अपेक्षा परम् सुख और कुछ नहीं है ।[1] योग से अच्छा अन्य साधन मुक्ति लाभ के लिये नहीं हैं, मुक्ति के लिये यज्ञ व जप की आवश्यकता को प्रस्तुत पुराण निराधार व सन्देहास्पद मानता है ।[2] महाभारत के शान्ति पर्व में कहा गया है कि सांख्य के समान कोई ज्ञान नहीं और योग के समान कोई अध्यात्मिकशक्ति नहीं । गीता में भी योगी को तपस्वी, ज्ञानी, कर्मरत व्यक्ति से भी अधिक श्रेष्ठ माना गया है ।[3]

---

(1) योगान्नास्ति परं सुखं
प्राप्यसे येन तद् ब्रह्म यत्र गत्वा न शोचसि
ततोऽहमपि यास्यामि किं यज्ञैः किम् जपेन में ॥
- मार्क० पुराण, 43/33

(2) - वहीं, 41/34, 35

(3) तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽभिमतोऽधिक ।
कर्मिभ्यः चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन ॥
- गीता, 7/46

प्रस्तुत पुराणोक्त योग का चरम् लक्ष्य ब्रह्मैक्य की प्राप्ति है जिसके लिये विवेक ज्ञान आदि के साथ-साथ मन की चंचलता पर नियन्त्रण भी आवश्यक माना गया और जो परम्परागत योग सूत्रोक्त विवेचना का ही समर्थक है । पुराणानुसार ज्ञान के बल से ममता से मुक्ति सम्भव है[1] जो पुरूष विद्या रूपी कुठार से ममता के वृक्ष का छेदन कर योग पूर्वक अवस्थित रहते हैं वे ही ब्रह्म सायुज्यता प्राप्त करने में समर्थ होते हैं[2] स्पष्ट है कि "योग" की व्याख्या धर्म रूप में अधिक है । याज्ञवल्क्य स्मृति में भी योग को परम धर्म कहा गया है ।[3]

प्रस्तुत पुराण में योग के आठ अंगों का प्रत्यक्ष उल्लेख नहीं है तथापि उनका वर्णन योग साधना के विविध सोपानों के रूप में हुआ है । योग सूत्र योग के अष्ट अंगों का उल्लेख करता है । ये आठ अंग है । §1§ प्रणायाम् §2§ आसन् §3§ प्रत्याहार §4§ धारणा §5§ ध्यान §6§ समाधि §7§ स्वाध्याय §8§ ईश्वरप्रणिधान

---

§1§ मार्क० पुराण, 34/7

§2§ - वहीं, 35/12 तथा 36/6

§3§ अयंतु परमो धर्मः यद्योगेनात्मदर्शनम् ॥
-याज्ञवल्क्य स्मृति, आचाराध्याय,

प्राणायाम् - प्राणायाम यानि प्राण का नियन्त्रण या विराम । योग के अंग के रूप में प्रणायाम का उल्लेख पंतजलि के योग सूत्र में प्राप्त होता है तथापि प्रणायाम शब्द उसके भी पूर्व प्रचलित था लेकिन योग के अंग के रूप में नहीं वरन् एक धार्मिक क्रिया के रूप में ।[1] प्रस्तुत पुराण में योग के एक अंग के रूप में चर्चा करते हुये यह कहा गया है कि योगवित पुरूष सर्व प्रथम प्रणायाम् का साधन करे[2]

प्राणायाम् की परिभाषा - प्राणायाम की व्याख्या करते हुये उक्त पुराण में कहा गया है कि प्राण और अपान इन दोनों वायु का निरोध ही प्राणायाम है ।[3] अन्य स्थान पर इसी पुराण में व्याख्यापित है कि जिसके द्वारा पंचप्राण संयत हो उसे प्राणायाम कहते हैं [4]

प्रमुख प्रश्न यह है कि प्राण और अपान का अर्थ क्या है "प्राण" प्र उपसर्ग पूर्वक अन् (सांस लेना) धातु से निष्पन्न शब्द है । ऋग्वेद में भी यह शब्द बहुधा प्रयुक्त हुआ है । जिससे "प्राण" का अर्थ सामान्य रूप से सांस लेना" निकलता है[5]। ऋग्वेद के एक श्लोक में 'अपान' शब्द भी

---

(1) काणे, पी.वी, धर्मशास्त्र का इतिहास, पंचम भाग, पृष्ठ 28।

(2) प्रथमं साधनं कुर्यात्प्राणायामस्य योगवित् । मार्क0पुराण, 36/12

(3) प्राणापान निरोधस्तु प्राणायाम् उदाहृयत:।-वही, 36/12

(4) प्रणानामुपसंरोधात्प्राणायाम् इति स्मृत: ॥ -वही, 36/40

(5) ऋग्वेद, 1/101/5, 10/121/3, 1/66/1, 3/53/21 आदि

प्रयुक्त हुआ है[1] अथर्ववेद में "प्राणा: व अपाना:" को बहुवचन में प्रयुक्त किया गया है ।[2] बृहदारण्यक उपनिषद् में प्राण और अपान का उल्लेख है कि व्यक्ति को एक ही व्रत लेना चाहिये उसे प्राण यानि उच्छ्वास तथा अपान यानि निःश्वास इस विचार से लेना चाहिये कि दुष्ट मृत्यु मुझे पकड़ लेगी ।[3] कीथ, कैलेण्ड, ड्यूमाण्ट आदि विद्वान प्राचीन वैदिक साहित्य में उल्लिखित "प्राण" का अर्थ "निःश्वास" एवं "अपान" का अर्थ 'उच्छ्वास' लगाते हैं । [4] लेकिन सभी टीकाकार व ब्राउन इसका उलटा अर्थ लगाते है । काणे महोदय स्वयं "प्राण" का अर्थ सांस लेना व 'अपान' का अर्थ सांस छोड़ना मानते हैं ।[5] शंकराचार्य ने बृहदारण्यक उपनिषद् के भाष्य में प्राण को "प्रणयन" के कारण उर्ध्वगति वाला तथा "अपान" को अधोवृत्ति वाला कहा है ।[6]

---

[1] अन्तश्चरति रोचनास्य प्राणादपानती/ऋग्वेद, 10/189/2

[2] अथर्ववेद, 8/1/1

[3] तस्मादेकमेव व्रतं चरेत्, प्राण्याच्चैवापान्याच्च, नेन्मापाप्मा मृत्युराप्नवदिति|बृहदा० उप० 1/5/23/

[4] द्रष्टव्य काणे पी.वी., धर्मशास्त्र का इतिहास, पृष्ठ 279

[5] -वहीं,

[6] प्राणो मुखनासिका सञ्चार्या हृदयवृत्तिः प्रणयनात्प्राणः । अपनयनात्मूत्रपुरीषादेरपानों अधोवृत्तिः आनाभिस्थानः| बृहदा०उप०, 1/5/3 का शांकरभाष्य

इस प्रकार प्राण यानि उच्छ्वास व अपान यानि नि:श्वास दोनो का निषेध ही प्राणायाम् है । इस प्रकार योग में प्राण का संयमन प्राणायाम माना गया और प्राणायाम पर बल दिया गया । मार्कण्डेय पुराण की प्राणायाम् की परिभाषा पंतजलि समर्थित ही है । योग सूत्र में वर्णन है कि "श्वास लेने व छोड़ने की गति में जो विराम (विच्छेद) होता है उसे प्राणायाम् कहते है" ।[1] यहाँ पर भाष्य ने श्वास का अर्थ वायु को भीतर खींचना तथा नि:श्वास का अर्थ वायु को बाहर फेंकना लगाया है[2] और उन दोनों का विच्छेद यानि अभाव प्राणायाम् है[3] गीता में भी यही भाव द्रष्टव्य है।[4] वस्तुत: योग पद्धति में प्राणायाम् द्वारा प्राण के वैज्ञानिक संयमन पर बल दिया गया था । योग सूत्र में पुन: कहा गया है कि विधारण प्राणायाम् है ।[5] भगवद्गीता में भी 'प्राणे अपान' का व 'आपने प्राण' का हवन प्राणायाम् वर्णित है । [6]

---

(1) श्वास प्रश्वासयोर्गतिविच्छेद: प्राणायाम: । योगसूत्र, 2/49

(2) द्रष्टव्य, काणे, धर्मशास्त्र का इतिहास भाग 5 पृष्ठ 282

(3) तयोगति विच्छेद: उभयाभाव: प्राणायाम: । भाष्य, योगसूत्र, 2/49

(4) अपाने जुह्वति प्राणं ऽपानं तथापरे
प्राणापानगती रूद्ध्वा प्राणायाम परायणा: ।। गीता, 4/29।

(5) प्रच्छर्दन विधारणाभ्यां वाप्राणस्य । योगसूत्र, 1/34

(6) गीता, 4/29

प्राणायाम के भेद - मार्कण्डेय पुराण में 3 प्रकार के प्राणायाम का वर्णन है ये तीन प्रकार है[1]

[1] लघु प्राणायाम

[2] मध्यम प्राणायाम

[3] उत्तरीयया उत्तम प्राणायाम्

इन तीनों प्रकार के प्राणायामों में अन्तर स्थापित करते हुये कहा गया है कि लघु प्राणायाम् द्वादश मात्रा का, मध्यम प्राणायाम् 24 मात्रा का तथा उत्तम प्राणायाम 36 मात्रा का होता है ।[2] पुन: "मात्रा" की व्याख्या इस प्रकार की गई है कि निमेष और उन्मेष दोनों का समय ही एक मात्रा का काल है ।[3] योगसूत्र इस सम्बन्ध में मृदु, मध्यम व दीर्घ तीन प्रकार के प्राणायाम् का उल्लेख करता है ।[4] एक चौथे प्रकार के प्राणायाम का भी उल्लेख है लेकिन उसकी विशिष्ट व्याख्या नहीं की है ।[5] योग सूत्र पर टीका करते हुये वाचस्पति ने भी तीन प्रकार के प्राणायाम बताये है ।[6]

---

[1] लघुमध्यमोत्तरीयाख्य: प्राणायामस्त्रिधोदित: । मार्क० पुराण,36/13

[2] लघुर्द्वादशमात्रस्तु द्विगुण: सतुमध्यम:
त्रिगुणाभिस्तु मात्राभिरूत्तम: परिकीर्तित: । वहीं, 36/14

[3] निमेषोन्मेषणे मात्रा कालो लघ्वक्षरस्तथा । वहीं, 36/15

[4] बाह्याभ्यन्तरस्तम्भवृत्ति"। योग सूत्र,2/50
एवं मृदुरेवं मध्य एवं तीव्र इति संख्या परिदृष्ट: -----। व्यासभाष्य,

[5] बाह्याभ्यन्तर विषयाक्षेपी चतुर्थ: ।। योगसूत्र,2/51

[6] प्राणायामस्त्रिधा ज्ञेय: कनीयो मध्यमोत्तम: । वाचस्पति
[योग सूत्र 2150 पर]

मिताक्षरा ने प्राणायाम की तीन कोटियां बताई है - अधम, मध्यम, उत्तम। कूर्म पुराण, गरूड़ पुराण भी प्राणायाम के तीन प्रकारों को स्वीकार करते हैं ।

इस सम्बन्ध में यह भी उल्लेखनीय है कि रेचक, कुम्भक और पूरक ये तीन प्रकार के प्राणायामों का उल्लेख भी प्राचीन ग्रन्थों में पाया जाता है । देवल धर्म सूत्र में इन तीनों का वर्णन है । [1] भागवत पुराण भी इन तीनों का उल्लेख करता है ।[2] योग सूत्र में ब्रहम, आभ्यन्तर व स्तम्भ इन तीन प्रकार के प्राणायामों का भी उल्लेख है[3] जब बाहर से वायु खीचने पर विराम किया जाये तो यह ब्राह्य या कुम्भक है, जब भीतर की वायु छोड़ दी जाये तो वह आभ्यन्तर प्राणायाम की दशा होती है । पंतजलि प्रत्यक्ष रूप से पूरक, रेचक व कुम्भक प्राणायामों की चर्चा नहीं करते हैं केवल मृदु, मध्यम व तीव्र इन तीन भागों में ही विभाजन करते हैं और यही क्रम पुराणों में भी अपनाया गया है । विभिन्न पुराणों व अन्य ग्रन्थों में इन तीनों प्रकार के प्राणायामों के काल व संख्या में अन्तर पाया गया है जिसका विवरण इस प्रकार है :-

---

[1] त्रिविध प्राणायाम कुम्भोरेचनं पूरणमिति ।
काणे, पूर्वोक्त, पृष्ठ 283 से उद्धृत

[2] प्राणस्य शोधयेन्मार्गं पूर कुम्भक रेचकैः
प्रतिकूलेनवा चितं यथा स्थिरमचंच्चलम् ॥ भागवत पु0, 3/28/9।

[3] बाह्याभ्यन्तर स्तम्भवृत्ति र्देशकाल संख्याभिः परिदृष्टो
दीर्घ सूक्ष्मः वाह्यभ्यान्तर विषयापेक्षी चतुर्थः ।
- योगसूत्र, 2/49-51

	पुराण व ग्रन्थ	प्रथम प्राणायाम मात्रा	द्वितीय मात्रा	तृतीय मात्रा
1.	मार्कण्डेयपुराण[1]	लघु (12)	मध्यम (24)	उत्तम (36)
2.	गरूण पुराण[2]	लघु (18)	मध्यम (20)	उत्तम (30)
3.	लिंग पुराण[3]	नीच (12)	मध्यम (24)	उद्घात (36)
4.	मिताक्षरा (याज्ञवल्क्य)[4]	अधम (15)	मध्यम (30)	उत्तम (45)
5.	कूर्म पुराण[5]	मार्क० पुराणवत् ही		
6.	योग सूत्र[6]	मृदु (36)	मध्यम (72)	तीव्र (108)

इस तालिका से स्पष्ट है कि सभी ग्रन्थकारों ने प्राणायाम की तीनों प्रकारों को क्रमशः पहले से दूसरे को दुगना, तीसरे को तिगुना मात्रा का माना है ।

---

(1) मार्क० पुराण, 36/13-14

(2) गरूण पुराण , 1/226/14-15

(3) लिंग पु०, 1/8/47-48

(4) मिताक्षरा 3/200-20/ काणे, पी.वी. पूर्वोक्त से उद्धृत

(5) कूर्म पुराण, वहीं से उद्धृत

(6) योग सूत्र,

मार्कण्डेय पुराण में इन तीनों प्रकार के प्राणायाम के परिणामों का भी उल्लेख है कि योगी पुरुष प्रथम प्राणायाम द्वारा स्वेद को, दूसरे के द्वारा कम्पन को, तीसरे द्वारा विषाद आदि दोषों को जीत लेता है ।

प्राणायाम की अवस्थायें - मार्क0 पु0 में प्राणायाम रत योगी की चार अवस्थायें वर्णित है - ध्वस्ति, प्राप्ति, संवित और प्रसाद ।[2] वर्णनानुसार ध्वस्ति प्राणायाम की अवस्था में योगी को चित की मलीनता दूर हो जाती है तथा दुष्ट व अदुष्ट समस्त कर्मो का फल दृष्टगत हो जाता है ।[3] प्राप्ति की अवस्था में योगी स्वंय समस्त ऐहिक और आमुष्मिक कार्यों को निरूद्ध करते हैं ।[4] और जिस अवस्था में योगी अतीत, अनागत और तिरोहित, दूरस्थ सभी जान लेते है उसे प्राणायाम की संवित अवस्था कहते हैं।[5] जिस अवस्था में योगी मन, पंचवायु, इन्द्रिय व इन्द्रियों के विषय से शुद्धि लाभ करता है वह प्राणायाम की प्रसाद अवस्था है[6]

---

[1] प्रथमेन जयत्स्वेंद मध्यमेन च वेपथुम ।
विषादं हि तृतीयेन जयेद्दोषानुक्रमात ॥ मार्क0पुराण, 36/16

[2] ध्वस्ति: प्राप्तिस्तथा संवित्प्रसादश्च महिपते । वही, 36/21

[3] कर्मणा मिष्टदुष्टानां जायते फलसंक्षय: ॥
चेतसो व कषायत्वं यत्र सा ध्वस्तिरूच्यते । -वही, 36/22

[4] वही, 36/23

[5] वही, 36/25

[6] वही, 36/26

प्राणायाम से लाभ - प्राणायाम का निर्देश योग में इन्द्रियकृत दोषों को दूर करने के लिये ही किया गया है । योगीजन प्राणायाम द्वारा दोषों को दग्ध करें ऐसा निर्देश कई स्थलों पर प्राप्य है ।(1) जिस प्रकार वायु व अग्नि से तपाया हुआ सोना अपने मल को त्याग देता है उसी प्रकार प्राणायाम द्वारा योगी वायु के निग्रह से दोषों को दूर कर लेता है ।(2)

योग सूत्र में कहा गया है कि प्राणायाम के अभ्यास से प्रकाश का आवरण नष्ट हो जाता है और योगी का मन धारणा के योग्य हो जाता है ।(3) स्मृतियाँ भी प्राणायाम को पातकों को दूर करने में सहायक मानती है । मनुस्मृति मे तो एक प्राणायाम से ही हल्के - फुल्के दोषों को दूर करने की बात कही गई है ।(4) याज्ञवल्क्य स्मृति के अनुसार एक सौ प्राणायाम कर लेने से सभी पाप यहाँ तक कि ऐसे भी पाप जिनके प्रायश्चित की कोई व्यवस्था नहीं है वे भी नष्ट हो जाते है ।(5) प्राणायाम को

---

(1) प्राणायामैर्दहेत्दोषान्......। - मार्क पुराण, 36/10

(2) भागवत पु0, 3/28/10, मार्क0 पुराण, 36/11

(3) ततः क्षीयते प्रकाशावरणम्धारणासु च योग्यता मनसः।

- योग सूत्र 2/52-53

(4) मनुस्मृति, 11/199 एंव 201

(5) याज्ञवल्क्य स्मृति,- 3/305

स्मृतियों में परम तप भी कहा गया है ।(1)

योगभाष्य ने प्राणायाम को सर्वोच्च तप माना है जिससे मन की विशुद्धि होती है और ज्ञान की दीप्ति चमक उठती है ।(2) मनुस्मृति के अनुसार प्राणनिग्रह से इन्द्रियकृत समस्त दोष दूर हो जाते है(3) इस सन्दर्भ में यह उल्लेखनीय है कि स्मृतियॉ प्राणायाम की व्यवस्था प्रतिदिन सन्ध्यावंदन के समय करती है तथा ॐ या गायत्री के जप का निर्देश प्राणायाम के समय देती है।ओम् जप को प्राणायाम के समय करने का उल्लेख योग सूत्र में स्पष्ट नहीं है । जप युक्त प्राणायाम सबीज तथा जपरहित प्राणायाम अबीज प्राणायाम कहा जाता है । प्रस्तुत पुराण में प्राणायाम के समय ओंकार जप का उल्लेख नहीं है जबकि विष्णु पराण में सबीज व अबीज दो प्रकार के प्राणायामों का निर्देश है ।(4)

दोषों को दूर करने के अतिरिक्त प्राणायाम द्वारा वशता, इच्छानुसार कार्य सम्पादन, अतीत अनागत सभी कुछ जानना, चित्त की

---

(1) मनुस्मृति, 2/83

(3) तपों न परं प्राणाय मात्ततो विशुद्धिर्मलानां दीप्तिश्च ज्ञानास्येति
- योग भाष्य (योग सूत्र 2/52 पर)

(3) मनुस्मृति, 6/71

(4) प्राणायामस्य विज्ञेयस्सबीजो बीज एव च ॥
- विष्णु पुराण, 6/7/40

मलिनता की रहितता सम्भव होती है । प्राणवायु साधना से पाप ही नष्ट होते है शरीर नष्ट नहीं होता है।[1] इस प्रकार स्पष्ट है कि मार्कण्डेय पुराण के रचनाकाल में प्राणायाम योग के अंग के रूप में ही व्यवहृत होता था न कि धार्मिक कृत्य के रूप में । धार्मिक कृत्य के रूप में प्राणायाम की गणना सूत्र काल में प्रचलित थी । अत: अनेक पापों एवं दुष्कर्मों के प्रायश्चित स्वरूप प्राणायाम किये जाने का निर्देश कई सूत्र ग्रन्थों में दिया गया है[2] लेकिन पंतजलि के योग सूत्र के समय से यह योगांग के रूप में महत्वशाली हुआ । यहाँ यह भी ध्यातव्य है कि जैन आचार्य हेमचन्द्र ने प्राणायामों की भर्त्सना की और कहा कि उसमें मन को आराम नहीं प्राप्त होता ।[3]

---

[1] मार्क० पुराण, 36/19

[2] गौतम धर्म सूत्र 1/61 एंव 23/6, बौधयन धर्मसूत्र 4/1/4-11 आदि

[3] काणे, पी.वी. पूर्वोक्त, पृष्ठ 285 से उद्धृत

आसन - आसन का अर्थ है - निश्चित अवस्था में शरीर की अवस्थिति । यही अर्थ योग में मान्य है । सभी योग शास्त्रकारों ने योग में आसन की स्थिति महत्वपूर्ण मानी है । प्रस्तुत पुराणकार भी योग के सन्दर्भ में आसनों की चर्चा करता है कि योग के आरम्भ में आसन का अनुष्ठान करें तत्पश्चात ॐ इस प्रणव जप सहित सरल भाव से योग में प्रवृत्त हो।[1] भागवत पुराण भी योगसूत्र की भाषा में "स्थिरं सुखं आसनं आश्रितों यति" कह कर स्थिर व सुखप्रद आसन की चर्चा करता है ।

आसन, यानि वह स्थान जो स्थिर और सुखप्रद हो, योगी को लाभ पहुचातें है । योगसूत्र आसन को स्थिर व सुखप्रद मानता है ।[2] लगभग इसी बात का समर्थन गीता में भी मिलता है कि शुद्ध भूमि में स्थिर आसन स्थापन करके योग का अभ्यास करना चाहिये ।[3] उपरोक्त पुराण भी सम आसन की चर्चा करता है ।[4] लेकिन यह बाह्य आसन या स्थान का द्योतक है । योग में आसन से तात्पर्य शरीर की विशिष्ट स्थिति से

---

(1) आसनं आस्थाय योगं युञ्जीत ॥
- मार्क० पुराण, 36/28

(2) स्थिरसुखमासनम् । योगसूत्र, 2/46

(3) शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः ॥
-गीता, 6/11

(4) मार्क० पुराण, 36/29.

होता है जिसमें योगी अपने शरीर की स्वाभाविक गति को शिथिल कर देता है तथा[1] मन पर नियन्त्रण स्थापित करके प्राणायाम के लिये उपयुक्त अवस्थिति प्राप्त कर लेता है ।

मार्कण्डेय पुराण पद्मासन, अर्धासन व स्वास्तिकासन का उल्लेख मात्र करता है ।[2] सन्दर्भ में उल्लेखनीय है योग सूत्र किसी विशिष्ट आसन का उल्लेख नहीं करता जबकि योग सूत्र पर भाष्य में पद्मासन, वीरासन, भद्रासन, स्वस्तिकासन आदि का उल्लेख है[3]। योग का एक और प्रकार हठ योग भी आसन को प्रमुखता देता है लेकिन हठ योग के आसन व पातंजल योग के आसनों में भेद है । हठयोग 84 आसनों का उल्लेख करता है[4] जो रोग निवारक ज्यादा है । कुण्डलिनी जाग्रत करना व सुषम्ना नाड़ी में ब्रह्मरन्ध्र तक ले जाना हठयोग के आसनों का प्रमुख उद्देश्य है जबकि पातंजल योग में आसन का लक्ष्य- एकाग्रता, ध्यान, इन्द्रियनिग्रह, प्राणायाम के लिये उपयुक्त पृष्ठभूमि तैयार करना है, वह सीधा सरल आसन है । जबकि हठयोग स्वास्थ्य,

---

(1) प्रयत्नशैथिल्य - योगसूत्र, 2/47

(2) मार्क० पुराण, 36/28

(3) भाष्य (योगसूत्र 2/46 पर)
तद् तथा पद्मासनं भद्रासनं स्वस्तिकं दण्डासनं सोपाश्रयं पर्यकं । क्रौञ्चनिषदनं हस्तिनिषदनमुष्ट्रनिषदनं समसंस्थानां स्थिर सुखं यथा सुखं चेत्येवमादीनि ।

(4) हठयोगप्रदीपिका, 1/17 - काणे, पी.वी., पूर्वोक्त से उद्धृत,

नीरोगता, शुद्धता के लिये आसनों का विधान करता है । यही हठयोग व पातंजल योग में अन्तर है । प्रस्तुत पुराण इस सन्दर्भ में पातजंल योग विधि व दर्शन से अनुप्राणित व प्रभावित दिखाई देता है और इसलिये तीन प्रमुख आसनों का उल्लेख करता है जिनका उल्लेख अन्य पुराणों में भी हुआ है ।[1] विष्णु पु0 भद्रासन की चर्चा करता है ।[2] भागवत् पु0 में गीता का ही अनुकरण द्रष्टव्य है ।[3] भागवत पुराण में शुचौ देशे आसन प्रतिष्ठापित करने के साथ-साथ स्वास्तिकासन के अभ्यास का भी उल्लेख है ।[4] प्रस्तुत पुराणकार योग के अभ्यास हेतु आसन की विधि तथा तत्सम्बन्धी वर्ज्य स्थानों का भी संकेत करता है । इसके अनुसार सरल भाव से सम आसन में बैठकर दोनों चरणों को संहृत्य करके दोनों उरू को सम्यक प्रकार से अग्रभाग में स्तब्ध करके इस प्रकार स्थित होना चाहिये कि उस शिर

---

(1) वायु पु0, 11/13, गरूड़ पु0, 1/238/11, कूर्म पु0 2/11/83,

(2) विष्णु पु0 6/7/39.

(3) शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य । भागवत् पु0, 3/28/18,
तथा गीता - 6/11/

(4) तस्मिन् स्वस्ति समासीत् ऋजुकाय: समभ्यसेत् ॥ भागवतपु3/28/8

कुछ ऊपर उठा हो व दाँत से दाँतों का स्पर्श न हो केवल मात्र नासिका के अग्रभाग में दृष्टि रखे अन्य किसी ओर न देखे।[1] प्रस्तुत पुराणोक्त आसन की विधि का यह वर्णन भगवद्गीता के वर्णन से काफी साम्य रखता है जिसमें भी नासिका के अग्रभाग को ही देखने, अन्य दिशाओं की ओर दृष्टि न डालने, काया, सिर व ग्रीवा को समान व अचल धारण करने का निर्देश है।[2] गीता इसके अतिरिक्त आसनस्थ व्यक्ति को मन को एकाग्र करने तथा चित्त व इन्द्रियों की क्रियाओं को वश में करने का भी निर्देश देती है।[3] योग सूत्र योगी को आसन में अपने शरीर की स्वाभाविक गतियों को शिथिल करने की बात करता है।

---

[1] समः समासनो भूत्वा संहृत्य चरणावुभौ
संवृतास्यस्तथैवोरू सम्यग्विष्टभ्य चाग्रतः ।।
किंचिदुन्नामितशिरा दन्तैर्दन्तान्न संस्पृशेत्
संपश्यन्नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन् ।। मार्क० पुराण, 36/29-31

[2] समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः
संप्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन् ।। गीता, 6/13

[3] गीता, 6/12.

प्रत्याहार- प्रस्तुत पुराण प्राणायाम और आसन के पश्चात प्रत्याहार का उल्लेख करता है कि सम आसन में स्थित होकर योगवित पुरूष अपने इन्द्रियों को तत्विषयों से असम्प्रक्त कर कच्छप के आदर्श का अनुकरण करें । (1) इन्द्रियों को उनके विषयों से असम्प्रक्त करना ही प्रत्याहार है। प्रत्याहार की स्पष्ट परिभाषा प्रस्तुत करते हुये पुराणकार की यह उक्ति है कि योगी जिस अवस्था में इन्द्रियों को शब्दादि स्व-स्व विषयों से हटा लेते हैं उसे प्रत्याहार कहते हैं ।(2) प्रत्याहार की यही परिभाषा योगसूत्र, विष्णु पुराण, कूर्म पुराण, स्कन्द पुराण में कुछ अन्तर के साथ उपलब्ध होती है। प्रत्याहार का अर्थ ही है--प्रति+ आ + हृ अर्थात हटाना, पीछे लौटा लाना। योग सूत्र में वर्णन है कि जब इन्द्रियों का अपने विषयों से सम्पर्क नहीं होता और इस प्रकार वे स्वयं चित्त के अनुरूप हो जाती है तब प्रत्याहार होता है । (3) इस प्रकार जब योगी रूप, रस, गन्ध, शब्द, स्पर्श आदि पर नियन्त्रण कर इन्द्रियों को वश में कर लेता है तो योगारूढ़ अवस्था सम्पन्न माना जाता है। योगी का चित एकाग्र होकर ब्राह्य पदार्थों के ज्ञान से अनभिज्ञ होकर साधना योग्य हो जाता है। कूर्म पुराण प्रत्याहार की

---

(1) मार्क. पुराण 36/33

(2) शब्दादिभ्य: प्रवृत्तानि यदक्षाणि यतात्मभि:
प्रत्याह्रियन्ते योगेन प्रत्याहारस्तत: स्मृत: ।। वही, 36/42

(3) स्वविषय संप्रयोगे चित्तस्य स्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहार: ।
-योग -सूत्र, 2/54

परिभाषा के रूप में इन्द्रिय विषयों की ओर आकृष्ट इन्द्रियों के निग्रह की बात ही दोहराता है ।[1] इसी प्रकार स्कन्द पुराण[2] और विष्णु-पुराण[3] भी इन्द्रियों को उनके विषयों से असम्प्रक्त करने को ही प्रत्याहार की संज्ञा देते हैं इस प्रकार स्पष्ट है कि सभी पुराणकार एवं ग्रन्थ प्रत्याहार की परिभाषा इन्द्रियों के विषयों से प्रत्याहार के रूप में करते हैं और जिसकी पुष्टि मार्क० पुराण से भी होती है। मार्क० पुराण में यह स्पष्ट कहा गया है कि योगी जन बाह्य और आभ्यन्तर शुद्धि पूर्वक इन्द्रियों को उनके विषय से प्रत्याहरित करें। [4] इससे व्याधि आदि उसके शरीर को आक्रमित नहीं कर सकते हैं । [5] गीता भी इन्द्रियों के निग्रह पर जोर देती है [6] और मन को एकाग्र करके इन्द्रियों की क्रियाओं को वश में करके योग का अभ्यास करने का उपदेश देती है [7] उसके अनुसार असंयत चित्त वाला व्यक्ति योग साधना में सफल नहीं हो सकता ।

---

[1] इन्द्रियाणां विचरतां विषयेषु स्वभावतः ।
निग्रहः प्रोच्यते सद्भिः प्रत्याहारस्तु सत्तम ।।
-कूर्म पुराण, 2/11/38

[2] स्कन्द पुराण, 41/101, काशी खण्ड

[3] विष्णु पुराण, 6/7/ 43-44

[4] इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यः प्राणादीन्मन एवच ।
निग्रहय समवायेन प्रत्याहार-मुपक्रमेत्।मार्क॰पुराण, 36/32

[5] मार्क० पुराण, 36/43-

[6] गीता, 2/60 -61

धारणा, ध्यान एंव समाधि - मन को एक वस्तु में टिकाने का नाम है- धारणा । योगी को प्राणायाम, आसन, प्रत्याहार पूर्वक मन में धारणा स्थापित करनी चाहिये। धारणा, ध्यान और समाधि ये तीनों ही योग की अन्तरंग क्रियायें है । "देशबन्ध श्चित्तस्य धारणा" के अनुसार [1] चित को किसी एक स्थल, बिन्दु या वस्तु पर संलग्न करना ही धारणा है । मार्क० पुराण के अनुसार [2] जिसके द्वारा मन को धारण किया जाये वहीं धारणा है । लिंग पुराण भी योग सूत्र की अनुकृति में चित की एक वस्तु पर संलग्नता को धारणा की संज्ञा देता है । [3] देवल के अनुसार शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि, एंव आत्मा का निरोध करना ही धारणा है । [4] गीता में भी धारणा का उल्लेख प्राप्त होता है [5], जो हृदय में मन की धारणा को प्रस्तुत करती है । मार्कण्डेय पुराण में अलग-अलग स्थानों पर क्रमशः दो, दस और सात प्रकार की धारणा का उल्लेख है । एक स्थान पर पुराणकार यह वर्णन करता है कि योगाभ्यास में दो ही प्रकार की धारणा का निर्देश है। [6] अन्य स्थल पर दश प्रकार की धारणा [7] का उल्लेख करते हुये नाभि, हृदय, उर

---

[1] योग सूत्र, 3/1-2

[2] धारणेत्युच्यते चेयं धार्यते यन्मनो यया । -मार्क॰पुराण, 36/4।

[3] चितस्य धारणा प्रोक्त स्थानबन्धः ....। लिंग पुराण, 1/8/42

[4] काणे, पी.वी., वहीं, पृष्ठ 286, से उद्धृत

[5] सर्वद्वाराणि संयम्य मनों हृदि निरूध्य च ।
मूध्न्यार्धायात्मनः प्राणमस्थितो योग धारणम् ॥ गीता, 8/12

[6] द्वे धारणें स्मृते योगे योगिभिस्तत्व दृष्टिभिः । -मार्क॰पुराण, 36/36

[7] वहीं, 36/44-45

कंठ, मुख, नासिकाग्र, नेत्र, भ्रू, ऊर्ध्व प्रदेश तथा पर ब्रह्म में धारणा का वर्णन है । ऐसा प्रतीत होता है कि नाभि आदि विविध अंगों की धारण व परब्रह्म की धारणा इन दो रूपों में ही दस प्रकार की धारणाओं को समाविष्ट करके दो प्रकार की धारणा योग में निर्देशित की गई जिनमें अंगों में धारणा से व्याधि आदि समस्त दोष प्रशमित होने तथा परब्रह्म में धारणा से ब्रह्म सारूप्य प्राप्त होने का वर्णन प्रस्तुत पुराणकार ने किया है ।

यहाँ पर यह द्रष्टव्य है कि भाष्य ने भी (योगसूत्र 3/1-2 पर) धारणा की व्याख्या नाभि, हृदय कमल, सिर, ज्योति, नासिकाग्र, जिह्वाग्र आदि शरीर के विविध अंगों तथा बाह्य वस्तुओं पर लगाने की बात कही है[1] यहाँ पर काणे ने बाह्य वस्तुओं पर धारणा से तात्पर्य चित्त को देवों की विभिन्न आकृतियों, प्रतीकों पर धारणा से माना है ।[2] सम्भवतः व्यास भाष्य की इसी धारणा के अनुकरण पर प्रस्तुत पुराण में यह वर्णित है कि योगी को नाभिमुख, नेत्र, हृदय जिहवाग्र आदि तथा परम तत्त्व में धारणा करनी चाहिये । योग सूत्र के 'धारणासु च योग्यता मनः' [3] से भी कई प्रकार की धारणाओं की प्रतीत होती है जिसका विस्तृत विवेचन प्रस्तुत पुराण में मिलता है ।

---

(1) व्यास भाष्य (योगसूत्र 3/1-2 पर)
नाभिचक्रे हृदय पुण्डरीके, मूर्ध्नि ज्योतिषि नासिकाग्रे, जिहवाग्र इत्येवमादिषु देशेषु बाह्ये वा विषये चित्तस्य वृत्तिमात्रेण बन्ध इति धारणा ॥

(2) योग सूत्र, 2/53

(3) द्रष्टव्य काणे, पी.वी.,- धर्म शास्त्र का इतिहास, पंचम, पृष्ट 288

पुनश्च प्रस्तुत पुराण में सप्तविध धारणा का उल्लेख प्राप्त होता है । पुराण में यह वर्णन है कि योगी को भूरादि सात प्रकार की सूक्ष्म धारणा मस्तक में धारण करनी चाहिये, जल में सूक्ष्म रस की, पृथिवी की, तेज में रूप की, वायु में स्पर्श की, आकाश में सूक्ष्म प्रवृत्ति की धारणा करे । तत्पश्चात् मानसी धारणा करने से सूक्ष्म मन उत्पन्न होता है ।[1] ये सात प्रकार की धारणा - भू आदि लोकों की, जल, पृथ्वी, गगन, वायु, अग्नि तथा मन की धारणा से योगी परमपदलाभ करता है तथा मुक्ति पद का भागी होता है । इन धारणाओं को प्रस्तुत पुराण में बार - बार करने के लिये निर्देशित स्थल द्रष्टव्य है ।[2] कालिदास ने भी रघुवंश में[3] धारणा का उल्लेख किया है ।

---

1. मार्क. पुराण, 37/17 से 20
2. मार्क. पुराण, 37-23
3. रघुवंश, 8/18

ध्यान -

मार्कण्डेयपुराण में यह वर्णित है कि योगी को धारणा द्वारा उपसर्गों को जीतते हुये मन में एक मात्र परम ब्रह्म की ही चिन्तना करनी चाहिये ।[1] यही योग का "ध्यान" नामक अंग है ध्यान के महत्त्व को पुराणकार ने जप, यज्ञ और ज्ञान मार्ग से भी श्रेष्ठ वर्णित किया है क्योंकि परब्रह्म का राग विहीन, संग विहीन भूत्वा "ध्यान" शाश्वत ब्रह्म की उपलब्धि कराने में समर्थ है ।[2] योग सूत्र भी "तत्र प्रत्ययैक तानता ध्यानम्" [3] कह कर ध्यान की चर्चा करता है । अन्य स्थल पर पुराणकार की यह उक्ति है कि 'योगी को बुद्धियोग द्वारा चित्त को ध्यान में लगाना चाहिये' यहाँ पर यह विवेच्य है कि उपनिषद काल से ही ध्यान को महत्ता व बल प्रदान किया जा रहा था । माण्डूक्योपनिषद में ओम् के रूप में आत्मा के ध्यान का वर्णन है ।[4] बृहदारण्यक उपनिषद में[5] आत्मा को द्रष्टव्य, श्रोतव्य,

---

1. चिन्तयेत् परमं ब्रह्म कृत्वा तत्प्रवणं मनः ।
   - मार्क. पुराण, 37/16

2. वेदाच्छ्रेष्ठाः सर्वयज्ञक्रियाश्च यज्ञाज्जाप्यं ज्ञानमार्गश्च जप्यात् ।
   ज्ञानाद्ध्यानं संगराग व्यपेतं तस्मिन्प्राप्ते शाश्वतस्योपलब्धिः ।।
   - वही, 38/25

3. योगसूत्र, 3/2

4. ओमित्येवं ध्यायथ आत्मनम् ।
   - माण्डूक्यउपनिषद, 2/2/6

5. बृहदा. उप. 2/4/5

मन्तव्य तथा निदिध्यासितव्य बताया गया है । अपरार्क ने विष्णुधर्म सूत्र के 97 वें अध्याय से उद्धरण दिया है कि [1] योगी को उस सर्वज्ञ विभु सर्वशक्तिमान प्रभु का ध्यान करना चाहिये जो तीनों गुणों से रहित, 24 तत्वों से ऊपर तथा इन्द्रियों से परे है । रूपहीन ईश्वर का ध्यान लगाने में असमर्थ होने पर योगी को वासुदेव का ध्यान करना चाहिये जिसके ऊपर वनमाला है जो शंख चक्र गदा धारी है ।" भागवत पुराण भी क्रमशः मूर्त्त से अमूर्त रूप के ध्यान का निर्देश प्रस्तुत करता है । योग के सम्बन्ध में प्रस्तुत पुराण में योगी को ओंकार संज्ञक, अक्षर, परम् ब्रह्म् का ध्यान करने का वर्णन है। वर्णनक्रम में आख्यात है कि जो योगी ओंकार स्वरूप परब्रह्म् का ध्यान करते हैं, वे उस परमात्मा परब्रह्म् में विलीन हो जाते हैं[2]। प्रस्तुत पुराणकार योगी के लिये "ॐ एकाक्षर का जप" ईश्वर प्राप्ति के लिये आवश्यक बताता है ।[3] उसके अनुसार ओम् का

---

[1] द्रष्टव्य-काणे, पी.वी., धर्मशास्त्र का इतिहास पंचम, पृष्ठ 289

[2] यत्येतदक्षर ब्रह्म् परमोंकार संज्ञितम् ।
यस्तु वेद नरः सम्यक्तथा ध्यायति वा पुनः ।
संसार चक्रमुत्सृज्य त्यक्त त्रिविध बन्धनः ।। मार्क० पुराण 39/14-15

[3] दृष्ट्वा च परमात्मानं प्रत्यक्ष विश्वरूपिणम्
विश्वपाद शिरोग्रीवं विश्वेशं विश्वभावनं
तत्प्राप्तये महत्पुण्यमो मित्येकाक्षरं जपेत् ।। वहीं, 39/2-3

का जप ही श्रेष्ठ अध्ययन है, ओम् का स्वरूप श्रवण ही उसका साधन है[1]
ॐ के उच्चारण मात्र से समस्त सत् असत् का ज्ञान होता है ।[2]

यहाँ पर यह विचारणीय है कि ओम् की महत्ता का प्रतिपादन उपनिषद काल से ही हो चुका था । उपनिषद काल में ओम् ब्रह्म की उपासना का सर्वाधिक प्रचलित प्रतीक था। मुण्डकोपनिषद ओम् को ब्रह्म प्राप्ति का साधन वर्णित करता है ।[3] इसी प्रकार तैत्तरीय उपनिषद [4] में "ओमिति ब्रह्म" कहकर ओम् व ब्रह्म में एकरूपता स्थापित है । छान्दोग्योपनिषद में भी ओम् की उपासना का उल्लेख है [5] भागवत् गीता भी ओम् की महत्ता का प्रतिपादक है। इसमें वीतराग तथा योगी द्वारा अक्षर ओम् का ध्यान तथा उसमें समाविष्ट होने का वर्णन है ।[6] गीता में कृष्ण के अनुसार ब्रह्म रूप ओम् अक्षर का जप, उच्चारण आदि करने वाला मुझमें भी समाविष्ट है ।[7]

---

(1) दृष्ट्वा च परमात्मानं प्रत्यक्षं विश्वरूपिणम्
विश्वपाद शिरोग्रीवं विश्वेशं विश्वभावनं
तत्प्राप्तये महत्पुण्यमोमित्येकाक्षरं जपेत् ।।- वही, 39/2-3

(2) वही, 39/13

(3) रानाडे, आर०डी, उपनिषदों का रचनात्मक सर्वेक्षण- पृष्ठ 216 से 218
तथा प्रणवो धनुः, शरो ह्यात्मा, ब्रह्म तल्लक्ष्य- मुच्यते ।
- मुण्डकोपनिषद,2/2/4

(4) तैतरीय उपनिषद,1/8

(5) ओमित्येदक्षरमुदगीथमुपासीत् । छान्दोग्यउपनिषद,1/1/1

(6) यदक्षरं वेदविदो वदन्ति
विशन्ति यद्यतयो वीत रागाः ।। गीताः,8/11

(7) ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन् ।- वही, 8/13

योगसूत्र भी योगियों के लिये ओम् अक्षर के जप का विधान निर्णीत करता है । [1] स्पष्ट है कि प्रस्तुत पुराणोक्त योग साधनों में ओम का जप, अध्ययन, श्रवण, मनन व चिन्तन की महत्ता का मूल उपनिषदों से गृहीत है जहाँ पर ओम् रूपी ब्रह्म को श्रोतव्य, मन्तव्य, निदिध्यासनितव्य कहा गया है। इससे स्पष्ट होता है कि उपनिषद कालीन आध्यात्मिक शक्ति सम्पन्न "ओम" योग में ध्यान का विषय बनाया गया जिसकी प्रेरणा योगशास्त्र, प्रणेताओं, पुराणकारों आदि ने उपनिषदों से ली । ओम प्रतीक है- इन्द्रियातीत ब्रह्म का । प्रस्तुत पुराणकार ने इस सन्दर्भ में माण्डूक्योपनिषद के उस श्लोक को उद्धृत कर दिया है जिसमें प्रणव को धनु, आत्मा को बाण तथा ब्रह्म को लक्ष्य की संज्ञा प्रदान की गयी है। अन्तर केवल इतना है कि उपनिषद में प्रणव को धनुष को तथा पुराण में प्राण को धनुष की उपमा दी गयी है [2] प्रस्तुत पुराण योगयुक्त व्यक्ति को अक्षर अक्षर में ओंकारमय मानता है ।[3] उसके अनुसार 'ओंकार संज्ञक परब्रह्म का ध्यान करने से योगी संसार चक्र में बंधन को छोड़कर परब्रह्म में विलीन हो जाते हैं' ।[4] गीता भी "अक्षरं ब्रह्म परम्" कहकर कृष्ण को ॐकार रूप ब्रह्म का स्वरूप कहती है और उनके इस स्वरूप का ध्यान करने वालों को ब्रह्म में तल्लीन अभिहित करती है।[5]

---

§1§ स्वाध्याय प्रणवादिपवित्राणां जपो... योगसूत्र, 2/1

§2§ मिलाइये- प्राणो धनुः शरोह्यात्मा ब्रह्म वेध्यम नुत्तमम्
अप्रमत्तेन वेद्धव्यं शरवत्तन्मयो भवेत् ।। - मार्क० पुराण, 39/7-8
प्रणवो धनुः शरोह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते ।
अप्रमत्तेन वेद्धव्यं शरवत्तन्मयो भवेत् ।। - माण्डूक्योपनिषद, 2/2/4

§3§ तथोकांर मयो योगी त्वक्षर त्वक्षरो भवेत् ।। - मार्क पुराण 39/7

§4§ वही, 39/14-15

ऊँकार का स्वरूप - मार्क॰पुराण केवल ओम् के जप का निर्देश ही नहीं देता है वरन् ओंकार के सूक्ष्म स्वरूप पर भी विचार प्रस्तुत करता है। वस्तुतः ईश्वर जैसे परम् विशिष्ट तत्त्व का प्रतीक ओंकार तीन मात्रा सम्पन्न है। अकार, उकार, मकार् में तीन अक्षर ही उसके स्वरूप है जो सत्व, रज व तम के प्रतीक हैं।[1] इस प्रकार ओंकार संज्ञित परमब्रह्म् में तीनों गुणों का समावेश है। लेकिन ओंकार की एक अर्ध मात्रा तीनों गुणों से परे है जो निर्गुण है, जो प्लुतस्वरूप है, जो ऊर्ध्व में स्थित रहती है, जिसे योगीजन प्राप्त करते हैं, जो गान्धारी नाम से विख्यात है।[2] अ, उ व म ये तीन मात्रायें क्रमशः भूः, भुव, स्वर्लोक की प्रतीक है। ये क्रमशः व्यक्ता, अव्यक्ता तथा चित्शक्ति रूपा है, लेकिन चौथी अर्धमात्रा परम् पद स्वरूपा है जिसके स्वरूप का वर्णन करना दुष्कर है।[3] यही ओंकार रूप ब्रह्म् का स्वरूप है इस रूप में ब्रहम चराचर जगत का स्वामी है, कालातीत है, इन्द्रियातीत है, सर्वज्ञाता है, विश्व का ईश्वर तथा विश्व भावन है, वह ओम् साक्षात विश्वस्वरूप है, विश्व ही जिसके चरण, शिर, ग्रीवा और मस्तक है।[4] यही ओम वाचक ब्रह्म् का स्वरूप पुराण में

---

[1] मार्क० पुराण, 39/4

[2] - वहीं, 39/5

[3] वहीं, 39/11 से 14

[4] दृष्टवा च परमात्मानं प्रत्यक्षं विश्वरूपिणं
विश्वपाद शिरोग्रीव विश्वेशं विश्वभावनं
तत्प्राप्तये महत्पुण्यमोमित्येकाक्षरं जपेत् ॥
- वहीं, 39/2

वर्णित है । यदि श्री-मद्भगवत गीता के वर्णनों का अध्ययन किया जाये तो स्पष्ट होगा कि कृष्ण द्वारा अर्जुन को प्रदर्शित विश्वरूप उपरोक्त पुराण वर्णित ओम् रूप ब्रहम के स्वरूप का ही कथित वर्णन रूप है । अर्जुन को अपने विश्वरूप का दर्शन कराने पर अर्जुन उन्हें अक्षर, परम्, विश्वरूप, अव्यय की संज्ञा देते हैं । [1] गीता में अनेकधा उनके विराट स्वरूप को विश्व रूप की संज्ञा दी गयी है । [2] यहीं ब्रहम् का परम् रूप है, 'यही स्वरूप योगियों के लिये चिन्तनीय' माना गया जिसके ध्यान से 'योगीजन ब्रहम् सायुज्यता प्राप्त कर कैवल्य की प्राप्ति करते हैं'।

उपरोक्त विवरणों से स्पष्ट है कि योग में ईश्वर की भक्ति को महत्ता प्राप्त थी । ईश्वर की सत्ता को योगशास्त्रकारों ने स्वीकार किया और उसकी भक्ति से लक्ष्य तक पहुँचने का मार्ग निरूपित किया वहीं प्रस्तुत पुराण योगियों के लिये नित्य स्वाध्याय का नियम वर्णित करता है [3] योग सूत्र में भी स्वाध्याय योगियों के द्वारा व्यवहरत किये जाने वाले नित्य नियम कहे गये हैं । [4] व्यास भाष्य स्वाध्याय की व्याख्या, प्रणव जप या मोक्षशास्त्र के अध्ययन के रूप में करते हैं । [5]

---

(1) त्वमक्षरं परमं वेदितव्यं
त्वमस्य विश्वस्य परं निधानं । गीता 11/18

(2) वेत्तासि वेद्यं च परं च धाम
त्वया ततं विश्वमनन्तरूपम् । -वहीं 11/38
सहस्त्रबाहो भव विश्वमूर्ते । -वहीं, 11/46

(3) -वहीं, 38/17

(4) योग सूत्र, 2/32

(5) व्यासभाष्य - स्वाध्याय मोक्षशास्त्राणामध्ययनं प्रणव जपो वा ।

प्रस्तुत पुराण भी इसी के अनुरूप प्रणव जप को स्वाध्याय की संज्ञा देता है । योग सूत्र में इससे भी आगे बढ़कर ईश्वर को सर्वार्पण की भावना से भक्ति का उपदेश योगियों को दिया गया है (1) जो 'ईश्वर प्रणिधान' शब्द से व्यक्त हुआ है । गीता भी सब कुछ ब्रह्म को अर्पण कर उसमें तल्लीन होने का उपदेश देती है ।(2) ईश्वर का वाचक शब्द ओम् है योगी याज्ञवल्क्य में भी ईश्वर का नाम ओंकार व्यक्त है ।(3) इसी ओंकार संज्ञक ईश्वर की भक्ति योगियों के कैवल्य का साधन है । दूसरी ओर सांख्यकारों ने ईश्वर भक्ति या ईश्वर की सत्ता के स्थान पर प्रकृति व महत्तत्व को ही प्रधानता दी । प्रस्तुत पुराण का योग साधना में ओंकार वाचक ब्रह्म का स्वरूप, उसकी महत्ता, ध्यान, चिन्तन आदि का वर्णन पौराणिक मत पर औपनिषदिक दर्शन और अध्यात्म के प्रभाव का सूचक माना जा सकता है जिसकी परिणति गीता में प्रदर्शित है साथ ही साथ योग साधना में विरक्ति के साथ ध्यान, धारणा व समाधि (ब्रह्म से सायुज्यता) की महत्ता पुराण वर्णित योग साधना को एक धार्मिक साधना के रूप में अधिक प्रदर्शित करती है ।

---

(1) योग सूत्र, 2/32

(2) गीता, 12/6

(3) योगी याज्ञवल्क्य - अदृष्टविग्रहो-देवो भावग्राह्यो मनोमयः
तस्योंकार स्मृतो नाम भावगृह्यो मनोमयः ॥
योगसूत्र के योगवार्तिक में उद्धृत ॥

समाधि - योग सूत्र योग का अन्तिम लक्ष्य - समाधि कहता है, यही मुक्ति या कैवल्य की अवस्था है जिसमें योगी पर ब्रह्म से सायुज्यता प्राप्त कर लेता है । प्रस्तुत पुराण में यह वर्णन है कि योग से मोक्ष की प्राप्ति होती है ।[1] तथा ज्ञान लाभ के द्वारा अज्ञान से योगियों का जो वियोग होता है वही मुक्ति या मोक्ष या निर्वाण या कैवल्य है।[2] ज्ञान का उदय सत्संग, वैराग्य तथा अनासक्ति से उत्पन्न होता है, वैराग्य उत्पन्न होने से प्राणायाम, आसन, प्रत्याहार, धारणा पूर्वक परब्रह्म का ध्यान करने से निर्वाण लाभ प्राप्त होता है व योगी की आत्मा परमात्मा में मिलित होकर साम्यता को प्राप्त होती है [3] यही समाधि की अवस्था है जिसमें ध्येय और ध्यानकर्ता एक हो जाते हैं । प्रस्तुत पुराण में 'समाधि' शब्द का उल्लेख नहीं मिलता है तथापि, मुक्ति, मोक्ष, निर्वाण, तथा ब्रह्म से सायुज्जयता का उल्लेख अवश्य है और इसी रूप में पुराणकार योग सूत्रोक्त समाधि की व्याख्या प्रस्तुत करता है । प्रस्तुत पुराण सिद्धि लाभ के पश्चात् योगी को परमात्मा से सायुज्यता के कई रूपक प्रस्तुत करता है । उसके अनुसार एक स्वर्णखण्ड, को निर्दोष करने पर दूसरे

---

[1] मुक्तियोगात्......। -मार्क० पुराण 36/2

[2] ज्ञानपूर्वो वियोगो यो अज्ञानेन सहयोगिनः ।
सा मुक्ति.....॥ वहीं, 36/1
तथात्मा साम्यमभ्येति योगिनः परमात्मनि ।
- वहीं, 38/42

स्वर्णखण्ड से उसका पे भिन्न नहीं होता[1] जिस प्रकार अग्नि डालने से दोनों तुल्य रहती है[2] जैसे जल मे जल समान रूप हो जाता है वैसे ही योगीजन की आत्मा दोषों के दग्ध होने पर परमात्मा से संयुक्त होने पर साम्यता को प्राप्त होती है उसमें कुछ भेद नहीं रहता ।[3] गोरक्षशतक में भी यह वर्णन प्राप्त होता है कि दुग्ध, घृत, अग्नि के समान योगीजन परम् पद में अद्वैतता प्राप्त करते हैं । [4] प्रस्तुत पुराण में अद्वैत वाद के पोषक तत्त्व रूप में यह वर्णन है योगी ब्रह्म के संग संयुक्त होने पर पुनः पृथक नहीं होता[5] लगभग यही भाव विष्णु पुराण में भी उपलब्ध होता है कि मन ध्यान के फलस्वरूप परमात्मा के वास्तविक स्वरूप को धारण कर लेता है और उस अवस्था में ध्यानकर्ता व ध्येय के बीच पृथकता समाप्त हो जाती है । [6] हठयोग प्रदीपिका

---

[1] मार्क0पुराण, 38/38

[2] -वहीं, 38/40

[3] वहीं, 38/41-42

[4] गोरक्ष शतक 97 से 100
दुग्धे क्षीरं घृते सर्पिरग्नौ वह्निरिवार्पितः
अद्वयत्वं व्रजेन्नित्यं योगवित्परमे पदे ।
काणे, पी.वी., पूर्वोक्त से उद्धृत ।

[5] परेण ब्रह्मणा तद्वत्प्राप्यैक्यं दग्धकिल्बिषः ।
योगी याति पृथग्भावं न कदाचिन्महीपते ।
मार्क0 पुराण, 38/41

[6] तस्यैव कल्पनाहीनं स्वरूप ग्रहणं हियत् ।
मनसा ध्यान निष्पाद्य समाधिः सोऽभिधीयते ॥
विष्णु पु0, 6/7/92

में वर्णन है कि जीवात्मा व परमात्मा के बीच एक्य स्थापन ही समाधि है।[1] वास्तव में यही अवस्था योग की चरम परिणति है । यही योग का लक्ष्य है, यही निर्वाण, कैवल्य, मुक्ति की अवस्था है जिसे पाकर और कुछ पाना शेष नहीं रह जाता है इस प्रकार अन्तिम लक्ष्य की प्राप्ति से योग अद्वैत वेदान्त के अति निकट है । लेकिन अद्वैत वेदान्त में माया को महत्त्व मिला, योगशास्त्र माया को नहीं मानते उनके अनुसार एक मात्र चित्शक्ति ही व्याप्त है । संसार पंच भौतिक है ।

इससे स्पष्ट है कि ध्यान, समाधि, ईश्वर प्रणिधान के रूप में योग में धार्मिक प्रक्रियाओं यथा-जप ध्यान, एकाग्रता, तथा ईश्वर में भक्ति आदि को महत्त्व देकर पौराणिकों ने योग की प्रतिष्ठा एक धार्मिक विधि के रूप में अधिक की और इस विचार प्रक्रिया में औपनिषदिक ज्ञान, उपासना और जप का प्रभाव ही अधिक बलवती प्रतीत होता है । लेकिन इस प्रकिया के सम्पादन के लिये जिन विधियों के पालन द्वारा पूर्वपीठिका तैय्यार करने की आवश्यकता प्रतीत हुई वे योग की दार्शनिक व्याख्या के अन्तर्गत प्रतिपादित प्रक्रियाओं जैसे-प्राणायाम, प्रत्याहार, आसन के अन्तर्गत समाहित थी फलत: योग के इन अंगो का विवेचन भी सन्दर्भित प्रसंग में हुआ ।

---

[1] तत्समं च द्वयोरैक्यं जीवात्म परमात्मनो:
प्रनष्ट सर्व संकल्प: समाधि सोऽभिधीयते
हठयोग प्रदीपिका, 4.7
काणे, पी.वी, पूर्वोक्त, से उद्धृत

भागवतों ने एक ओर जप, स्वाध्याय, ईश्वर के प्रति भक्ति के प्रतिपादन के आलोक में योग को धार्मिक परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत किया तो दूसरी ओर योगी के लिये यमों, नियमों तथा विहित आचरणों की श्रृंखला प्रतिपादित कर उन्हें सामाजिक नैतिक अभ्युत्थान की सारस्वत उपलब्धि से भी संयुक्त रखने का प्रयास किया क्योंकि योग की सार्थकता भी धर्म की रक्षा में है । मनु, आदि धर्मशास्त्रकारों ने दशलक्षणात्मक धर्म में जिन यमों-नियमों को स्थान दिया उन्हें ही भागवतों और योगविदों ने योग के अंग के रूप में प्रतिष्ठापित करके योग के धार्मिक पक्ष को सुसंवलित किया ।

योगी के लिये प्रतिपादित आचार धर्म -

अपमान सहन - प्रस्तुत पुराण विस्तार से योगनिरत व्यक्ति के आचरण चरित्र या चर्या का वर्णन भी प्रस्तुत करता है । सबसे महत्त्वपूर्ण रूप से योगी को मान-अपमान दोनों में समभाव रहने के लिये कहा गया है तथा अपमान को योगी के लिये अधिक लाभयुक्त बताया गया है । प्रस्तुत पुराण के अनुसार योगी अपमान को मान तथा मान को अपमान समझे तो यह उसके हित में होता है । मान और अपमान यहीं दो विष व अमृत है जिनमें योगी को अपमान को अमृत व मान को विष सदृश समझना चाहिये ।[1]

1-

मानापमानौ यावेतौ प्रत्युद्वेगकरौ नृणाम्
तावेव विपरीतार्थौ योगिनः सिद्धिकारकौ ॥
मानापमानौ यावेतौ तावेवाहुर्विषामृते ।

यह भी पुराणकार ने व्याख्यापित किया कि योगी को उसी समय भिक्षा के लिये गृहस्थ के घर जाना चाहिये जब वह भोजन करके निश्चिन्त हो चुका हो ताकि गृहस्थ उसे तिरस्कृत या अपमानित कर सके ।[1] जिस समय गृहस्थ के घर में अग्नि भी प्रज्वलित न हो उसी समय योगी भिक्षा के लिये जाये ।

लगभग इसी तरह के विचार विष्णु पुराण में भी वर्णित है जिसके अनुसार योगी के लिये सबसे अधिक हानिकारक सम्मान ही है । जो योगी अन्य मनुष्यों से अपमानित होता है वह शीघ्र ही सिद्धि लाभ कर लेता हैं।[2]अत: योगी को धर्म को अदूषित करते हुये ऐसा आचरण करना चाहिये कि लोग उसका अपमान करें ।[3] भागवत पु0 मे महायोगीश्वर दत्तात्रेय मान अपमान की चिन्ता से परे दिखाई देते है । [4]

---

(1) मार्क0 पुराण, 38/6-7

(2) सम्मानना परां हानि योगर्द्धेः कुरुते यतः ।
जनेनावतमतो योगी योगसिद्धिं च विन्दति ।।
—विष्णु पु0, 2/13/42

(3) तस्माच्चरेत् वैयोगी सतां धर्ममदूषयन्
जना यथावमन्येरन्गच्छेयुर्नैव सैंगतिम् ।।
- वहीं, 2/13/43

(4) नमे मानावमानौ स्तो न चिन्ता । भागवत पु0, 11/9/3

योगचर्या में अपमान को इतना अधिक महत्व देने का कारण यह था कि अपमान योगी के हृदय में वैराग्य का संचार कर सके और ममत्व की भावना से वह रहित हो जाये क्योंकि ममता ही दुःख का कारण है। ममत्व ही आसक्ति है, ममत्व ही दुःख का मूल है[1] विषयासक्ति (जो ममत्व के कारण है) छोड़ते ही अहम् का भाव दूर हो जाता है[2] और ममत्व हीनता हो वैराग्य उत्पन्न करती है, वैराग्य ही योगारूढ़ होने का प्रथम लक्षण है। गीता भी दुःख रूप संसार के वियोग से रहित होने को योग कहती है।[3] अतएव योगी के लिये वैराग्य उत्पन्न होने के लिये निर्ममत्व मूलक अपमान सिद्धिदायक कहे गये हैं।

अपमान को सिद्धिदायक मानने के अतिरिक्त योगियों के लिये जो आचार प्रस्तुत पुराण में व्यक्त किये गये है उनमें कुछ निषेधात्मक और कुछ स्वीकारात्मक स्वरूप वाले हैं। कुछ यमों व नियमों का प्रावधान भी योग निरत व्यक्तियों के लिये प्राप्त होता है जिन्हें उक्त पुराण में

---

(1) ममेति मूलं दुःखस्य च ममेति च निवृतिः। मार्क पुराण 34/7

(2) संगाभावे ममेत्यस्याः ख्यातेर्हानिः प्रजायते। वहीं, 36/3

(3) गीता 6/23, तं विद्यनाद् दुःख संयोग वियोग योग संज्ञितम्।

क्रमशः व्रत एंव नियम की संज्ञा दी गई है जिनका विवरण इस प्रकार है -

<u>पंचव्रतों तथा पंच नियमों का पालन</u> - मार्कण्डेय पुराण योगाभ्यासी योगनिरत व्यक्ति के लिये यमों व नियमों के पालन को आचार शास्त्र के अन्तर्गत मानता है जिनका पालन भिक्षु, सन्यासी व योगी के लिये आवश्यक है। प्रस्तुत पुराण में यमों को को "व्रत" की संज्ञा दी गई है ये व्रत व नियम संख्या में पाँच है -

यम : अस्तेय ब्रह्मचर्य, त्याग, अलोभ, अहिंसा।[1]

नियम : अक्रोध, गुरू सेवा, शौच, आहार की लघुता तथा नित्यस्वाध्याय

यम, नियम का उल्लेख विष्णु पु0, भागवत पु0, योग सूत्र तथा स्मृतियों में भी प्राप्त होता है जिनमें कहीं - कहीं किंचित भेद भी दृष्टव्य है जो इस प्रकार है -

---

[1] अस्तेयं ब्रह्मचर्यं च त्यागोऽलोभस्तथैव च ।
व्रतानि पंच भिक्षुणामहिंसा परमाणि वै ॥ मार्क0 पुराण, 38/16

[2] अक्रोधो गुरू शुश्रूषा शौचमाहारलाघवम्
नित्यस्वाध्याय इत्येते नियमाः परिकीर्तिताः।
—वहीं, 38/17

मार्क०पुराण[1]	विष्णु पुराण[2]	भागवत पु०[3]	पातंजल योग[4]	याज्ञवल्क्य
1. अस्तेय	1. अस्तेय	1. अस्तेय	1. अस्तेय	1. ब्रह्मचर्य
2. ब्रह्मचर्य	2. ब्रह्मचर्य	2. ब्रह्मचर्य	2. ब्रह्मचर्य	2. दया
3. त्याग	3. सत्य	3. सत्य	3. सत्य	3. शांति
4. अलोभ	4. अपरिग्रह	4. क्षमा	4. अंहिसा	4. दान
5. अहिंसा	5. अहिंसा	5. अहिंसा	5. अपरिग्रह	5. सत्य
		6. असंग		6. अकल्कता
		7. लज्जा (ह्री)		7. अहिंसा
		8. असंचय		8. अस्तेय
		9. आस्तिकता		9. माधुर्य
		10. मौन		10. दम
		11. स्थिरता		
		12. अभय		

(1) मार्क०पुराण, 38/16

(2) विष्णु पु० 6/7/36-37

(3) भागवत पु० 11/19/33

(4) अंहिसासत्यास्तेय ब्रह्मचर्यापरिग्रहा: यमा: । योग सूत्र, 2/30

(5) ब्रह्मचर्यं दया शांतिर्दानं सत्यमकल्कता ।
अंहिसा स्तेयमाधुर्ये दमश्चेति यमा:स्मृता: ॥ याज्ञवल्क्य स्मृति, 3/312-

महाभारत युग और उसके बाद भी अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह योगी के लिये परमव्रत निर्णीत थे। समय-समय पर इनकी संख्या में अन्तर के साथ विभिन्न ग्रन्थों में इन व्रतों का उल्लेख हुआ। भिक्षा से प्राप्त भोजन ही वृत्ति का साधन होने के कारण योगी भिक्षु भी था। योग साधन में निरत होने के कारण योगी उसकी उपाधि थी, विरक्ति के कारण सन्यासी भी वह था उसके लिये इन व्रतों का पालन स्मृतियुग से जरूरी माना जाने लगा था और ये व्रत संख्या में प्रारम्भ में पाँच ही थे। आगे चलकर इनकी संख्या में वृद्धि हुई, जैसा कि भागवत पुराण इनकी संख्या 12 बताता है लेकिन मूलभूत आधार पूर्ववत ही रहा। इन यमों का पालन योगी के लिये "व्रत" था किन्तु उनका कठोर पालन "महाव्रत" कहलाता था। यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि इन पाँच व्रतों के पालनका विधान जैन धर्म के प्रवर्तक महावीर स्वामी ने भी किया था। इनका मूल उपनिषदों में भी प्राप्त होता है।

छान्दोग्य उपनिषद में(1) तप, अहिंसा, सत्यभाषण, दान एवं आर्जवता को यजमान द्वारा प्राप्त किये जाने वाला शीलगुण कहा गया है बृहदारण्यक उपनिषद(2) में सभी के लिये दम, दान, दया, का पालन करने के प्रति आग्रह दिखायी देता है।

---

(1) छान्दोग्य उपनिषद, 3/17/4

(2) बृहदा०उप०, 5/2/3

योगी के द्वारा आचरित यमों के अतिरिक्त कुछ नियम भी निश्चित थे जिनका पालन योगी, यति, सन्यासी, भिक्षु के लिये आवश्यक था और जो एक प्रकार से उनकी आचार संहिता का प्रमुख अंग थे इन नियमों की संख्या में विभिन्न पुराणों व ग्रन्थों में अन्तर पाया जाता है जो इस तालिका से स्पष्ट है -

नियम मार्क०पु०(1)	भागवत पु.(2)	विष्णु पु.(3)	पातंजल सूत्र(4)	स्मृतियाँ(5) (याज्ञवल्क्य)
1. अक्रोध	1. शौच	1. स्वाध्याय	1. शौच	1. स्नान
2. गुरूशुश्रुसा	2. जप	2. शौच	2. सन्तोष	2. मौन
3. शौच	3. तप	3. सन्तोष	3. तप	3. उपवास
4. आहारलघुता	4. होम	4. तप	4. स्वाध्याय	4. इज्या
5. नित्यस्वाध्याय	5. श्रद्धा	5. ब्रहम् में ध्यान	5. ईश्वर प्राणिधान	5. स्वाध्याय
	6. आतिथ्य			6. इन्द्रिय
	7. अर्चन			7. गुरू शुश्रुषा
	8. तीर्थयात्रा			8. शौच
	9. परोपकार			9. अक्रोध
	10. सन्तोष			10. अप्रमाद
	11. आचार्य सेवा			

(1) अक्रोधो गुरूशुश्रुषा शौचमाहारलाघवम्
नित्य स्वाध्याय इत्येते नियमाः परिकीर्तिता: ।। मार्क०पुराण, 38/17

(2) भागवत पु०, 11/19/34

(3) स्वाध्याय शौच सन्तोषतपांसि नियतात्मवान् ।
कुर्वीत ब्रहमणि तथा परस्मिन्प्रवणं मन: ।। विष्णु पु०, 6/7/37

(4) शौच सन्तोष तप: स्वाध्यायेश्वर प्राणिधानानि नियमा: । योगसूत्र, 2/32

(5) याज्ञवल्क्य स्मृति, 3/312-313

इस प्रकार विभिन्न ग्रन्थों में नियमों की संख्या व नामों में अन्तर है ।

यहाँ यह भी ध्यातव्य है कि योग याज्ञवल्क्य जो 8वीं या 9वीं शदी के लगभग की रचना मानी जाती है[1] में यमों व नियमों की संख्या दस ही दी गयी है लेकिन योग याज्ञवल्क्य में जहाँ शौच को यम के अन्तर्गत परिगणित किया गया है वहीं "शौच" अन्य ग्रन्थों में "नियम" है ।

वस्तुत: यम नित्य कर्म है ।[2] जो शरीर द्वारा किये जाने वाले है । किन्तु नियम ऐसे है जो अनित्य है और वे शरीर के बाहर के साधनों पर आश्रित है । यमों व नियमों की व्यवस्था उपनिषद व स्मृति काल से ही चली आ रही थी । भागवत् पुराण व याज्ञवल्क्य स्मृति में 10-12 यमों, नियमों का उल्लेख है । जब कि पातंजल सूत्र, विष्णु पुराण तथा मार्क० पु० केवल पाँच यम नियमों का उल्लेख करता है ।

---

[1] द्रष्टव्य - काणे, पी.वी., धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग 5, पृष्ठ 26(

[2] शरीरसाधनापेक्षं नित्य यत्कर्म तद् यम: ।
नियमस्तु स यत्कर्मा नित्यमागन्तु साधनं ॥
अमरकोश, ब्रह्म वर्ग, 48-49

निषेधात्मक आचार - प्रस्तुत पुराणकार की दृष्टि में योगी को जिन आचारों से बचना चाहिये वे निम्नलिखित थे -

1- योगी पुरूष आतिथ्य, श्राद्ध, यज्ञ, यात्रा और महोत्सव में कभी नहीं जाये । (1)

2- महाजनों के निकट भी कभी न जाये । (2)

3- यतिगण विवर्ण पुरूषों के यहां से भिक्षा न ग्रहण करें । (3)

4- ममत्व व अंहकार से बचना चाहिये ।

5- अत्यन्त क्षुधा, थकावट, चित्त की चंचलता, अतिशीत और अति ग्रीष्म काल तथा अतिवायुवहन काल में ध्यानतत्पर होकर योगाभ्यास न करें (4)

6- सशब्द स्थान में, अग्नि व जल के निकट, पुरानी गोशाला में, चौराहे में, सूखें पत्ते युक्त स्थान में, नदी तट में, श्मशान में सर्पादि युक्त स्थान में, कूपतीरे, चैत्यवृक्षे वल्मीकसमूहे, योग का अभ्यास न करें (5)

---

(1) आतिथ्य श्राद्धयज्ञेषु देवयात्रोत्सवेषु च । -मार्क०पुराण, 38/5

(2) महाजनेषु सिद्ध्यर्थं न गच्छेद्योगवित्क्वचित् ॥ -वहीं, 38/3

(3) भैक्ष्यचर्या विवर्णेषु जघन्या वृत्तिरिष्यते ॥ -वहीं, 38/10

(4) नातिशीते न चोष्णे वैन द्वन्द्वे नानिलात्मके ।
कालेष्वेतेषु युञ्जीत न योगं ध्यानतत्परः ।
वहीं, 36/47-48

(5) वहीं, 36/48-49

(7) ऐसे देश व काल का भी परित्याग करे जिसमें सात्विक भाव पैदा न हो ।[1]

(8) योग में असद् बातों को न देखे ।[2]

स्वीकारात्मक आचार- योगी द्वारा विहित स्वीकारात्मक आचारों की एक लम्बी सूची प्रस्तुत पुराण व्याख्यापित करता है। योगियों का प्रधान धर्म भिक्षा से प्राप्त वृत्ति को स्वीकार करते हुए जीवन यापन करना ही निरूपित किया गया और इस सम्बन्ध में निम्न नियम वर्णित किये गये-

(1) यति ऐसे गृही के घर से भिक्षा माँगे जो लज्जावान्, चतुर श्रोत्रिय, और महात्मा हो, जो दूषित व पतित नहीं हो ।[3]

(2) भिक्षा जिन भक्ष्य पदार्थों को माँगे, उनकी सूची भी उक्त पुराण प्रस्तुत करता है, जिनमें यवागु, दुग्ध, फल, मूल, सत्तु आदि प्रमुख हैं[4]

(3) आहार की लघुता योगी के लिये उचित है ।[5]

---

(1) वही, 36/50

(2) नासतो दर्शनं योगे तस्मात्परिवर्जयेत् । वही, 36/51

(3) अथ नित्यं गृहस्थेषु शालीनेषु चरेद्यतिः
श्रद्धधानेषु दान्तेषु श्रोत्रियेषु महात्मसु ।। - वही, 38/9

(4) वही, 38/11

(5) ....लघ्वाहारो .... ।। वही, 38/20

4- भोजन के पूर्व योगी को मौन धारण कर जलपान करके आहूति प्रदान पूर्वक भोजन करना चाहिए और इस प्रकार 5 आहुति प्रदान करनी चाहिये ये पाँच आहूतियाँ है-

प्रणाय स्वाहा [1]

अपानाय स्वाहा

समानाय स्वाहा

उदानाय स्वाहा

व्यानाय स्वाहा [2]

5- पाँच यम व पाँच नियमों का पालन [3] करना चाहिये

6- संगपरित्याग पूर्वक जितेन्द्रिय होकर बुद्धियोग द्वारा विधान करके चित्त को ध्यान में निमग्न करें । [4]

7- वाक कर्म और मन को अपने वश में करें । [5]

---

[1] वहीं, 38/13

[2] वहीं, 38/14

[3] वहीं, 38/16 तथा 17

[4] वहीं 38/20

[5] वहीं, 38/22

8- कार्य सिद्धि मूलक सारज्ञान को ग्रहण करें क्योंकि अत्यधिक ज्ञान योग विघ्नकारी होती है [1]

9- जिस स्थान में वास किया जाय वहीं योगी का गृह, जिसके द्वारा प्राण धारण हो - वहीं भोज्य, जिसके द्वारा अर्थ निष्पन्न हो वही सुख कहा गया है [2]

10- जिस प्रकार कारण द्वारा चिन्तित कार्य स्वंय साधित होता है उसी प्रकार योगी पारलौकिक बुद्धि से ब्राह्म की साधना करें [3]

11- अरिष्ट देखने पर योगी मन को स्थिर करने वाले स्थान में निवास करके तीनों गुणों को जीतकर, ऐकान्तिक चित से परमात्मा में अभिनिविष्ट होकर आत्मा को तन्मय करके चित्तवृत्ति को भी त्याग दे ।[4]

12- सदासत्य से पवित्र हुये वचन कहे ।

13- वस्त्र से छानकर जलपान करें ।

14- बुद्धिपूर्वक भलीभाँति चिन्ता करें ।[5]

---

[1] सार भूतमुपासीत ज्ञानं यत्कार्यसाधकं ॥
ज्ञानानां बहुता येयं योगविघ्नकारी हिवा ।* वहीं, 38/18-19

[2] तद् गृहं यत्र वसति तद्भोज्यं येनजीवति ।
येन सम्पद्यते चार्थस्तत्सुखं ममतात्र का । - वहीं, 40/57

[3] वहीं., 40/58

[4] वहीं. 40/44-45

[5] वहीं 38/4

इस सन्दर्भ में विवेचनीय है कि धर्मशास्त्रों, पुराणों आदि में सन्यासियों की जिन वृत्तियों का उल्लेख है उनमें से अधिकांश उपर्युक्त योगीचर्या से मेल खाते है यथा जितेन्द्रिय रहना, अल्पाहार, भिक्षा से भोजनग्रहण करना, ध्यान व समाधि में लिप्त रहना, आत्मा को शुद्ध रखना आदि ।

सन्यासी को भिक्षा से ही भोजन ग्रहण करने की चर्चा भागवत् पु० में है तथा भिक्षा सन्यासी के लिये आवश्यक बताई गई है क्योंकि भिक्षा से प्राणों की रक्षा होती है, प्राणों से तत्त्व का विचार सम्भव है । विचार से ज्ञान व ज्ञान से मुक्ति मिलती है ।[1] इसी भावना की पुष्टि प्रस्तुत पुराण में भी है । जिसके अनुसार योगी को सर्वान्त: करण से शरीर की रक्षाविधान करना उचित है [2] क्योंकि शरीर ही धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष इन चतुर्वर्गों के साधन का मूल है[3] और इसी लिये धर्मशास्त्रकारों व पुराणकारों ने सन्यासियों व योगियों को शरीर रक्षा विधान हेतु ही भिक्षा का विधान निर्देश किया । भिक्षा द्वारा प्राप्त भोजन प्राप्ति के सन्दर्भ में योगी व सन्यासी दोनों के धर्मों के बीच विभेद द्रष्टव्य है । मार्कण्डेय पुराण योगियों को केवल गृहस्थों व यायावरगृही के घर से भिक्षा

---

(1) आहारार्थं समीहेत युक्तं तद् प्राणधारणम् ।
तत्त्वं विमृश्यते तेन तद् विज्ञाय विमुच्यते ॥ भागवत पु०, 11/8/34

(2) एवं सर्वात्मनो रक्षा कार्या योगविदा नृप । मार्क० पुराण, 36/61

(3) धर्मार्थ काममोक्षाणां शरीरं साधन यत: ॥ वही, 36/62

प्राप्त करने की बात कहता है उनमें भी गृहस्थों के गृह से भिक्षा श्रेष्ठ मानी गई है।[1] तो सन्यासियों को मुख्यत: वानप्रस्थियों के आश्रम से ग्रहण करने पर जोर दिया गया है क्योंकि कटे हुये खेतों के दानों से बनी भिक्षा शीघ्र चित को शुद्ध कर देती है।[2] प्रस्तुत पुराण में योगी के लिये कन्द, मूल, फल यवागू, सत्तू, दुग्ध आदि वस्तुओं की भिक्षा उचित बताई गई है[3] भिक्षा से प्राप्त भोजन को मन्त्रों से शुद्ध करके तदुपरान्त स्वयं भोजन करने का सन्यासियों व योगियों को दिया गया।

सन्यासियों के लिये सत्य वचन व अहिंसा जैसे अनिवार्य नियमों की व्यवस्था धर्मशास्त्र कारों ने की। त्यक्तासक्तो, जितेन्द्रिय, अल्पाहार, मोक्षाभिलाषी सन्यासियों के भी धर्म माने गये। इन्द्रिय निरोध को मनुस्मृति में सन्यासियों के लिये अमृतत्व का साधन बताया गया[4] तो पुराणों ने योग धर्म निरूपण में योगियों के इन्द्रिय निग्रह के लिये प्रत्याहार की कल्पना प्रस्तुत को। इस प्रकार सन्यासी व योगी के आचार में अनेक समान तत्व मिलते है यहाँ तक कि दोनों के लिये 'यति' शब्द का प्रयोग भी समान रूप से मिलता है।

---

(1) भैक्ष्यं चरेद्गृहस्थेषु यायावर गृहेषु च।
श्रेष्ठा तु प्रथमा चेति वृत्तिरस्योपदिश्यते॥ -वहीं 38/8

(2) भागवत पु0, 11/18/25

(3) मार्क0 पुराण, 38/11

(4) इन्द्रियाणां निरोधेन —— अमृतत्वाय कल्पते। -मनुस्मृति, 6/60

वास्तव में "यति" शब्द का प्रयोग धर्मशास्त्रों के युग से ही सन्यासियों के लिये प्रयुक्त होता था अतः पुराणकार ने यति धर्म निरूपण में धर्मशास्त्रीय सन्यास आचरण को ही प्रमुखता दी है ।

बौधायनधर्मसूत्र[1] की भाँति पुराणकार ने भी शालीन व यायावर प्रकार के गृहस्थों के गृह से भिक्षा लेने की बात निरूपित की । मनु[2], याज्ञवल्क्य[3] वसिष्ठ, एवं शंख, स्मृतियों[4] से प्रेरित होकर ही पुराणकार यतियों को उस समय भिक्षा के लिये गमन का निर्देश देता है जब रसोईघर का धूम निकलना बन्द हो चुका हो, अग्नि बुझ चुकी हो, बरतन आदि अलग रख दिये गये हैं ।

मार्क०पु० को योगियों के लिये यह व्यवस्था कि पानी छान कर पीये, सत्य वचन बाले व विचार पूर्वक चिन्तना करें, मनुस्मृति[5] में सन्यासियों के लिये विहित कर्म है ।

---

(1) बौधायन धर्मसूत्र 2/10/57-58- काणे, पी.वी., वहीं से उद्धृत

(2) मनुस्मृति, 6156

(3) याज्ञ. स्मृति - 3/59

(4) काणे, धर्मशास्त्र का इतिहास, से उद्धृत

(5) मनुस्मृति, 6/46

प्रस्तुत पुराण में योगविद् त्रिदण्डी वर्णित है [1] और त्रिदण्डी की व्याख्या वाक्, कर्म व मन पर नियन्त्रण स्थापना के रूप में है । [2] इस सन्दर्भ में भी मार्क0 पुराण का रचनाकार धर्मशास्त्रों की सन्यास धर्म-विधि का ही आचरण प्रस्तुत करता प्रतीत होता है । याज्ञवल्क्य स्मृति के अनुसार सन्यासी के लिये त्रिदण्डी होना अनिवार्य है| मनु उसे केवल "दण्डी" कहते हैं । [3] बौधायनधर्म सूत्र के अनुसार सन्यासी एक दण्डी या त्रिदण्डी हो सकता है । यहाँ दण्ड से तात्पर्य डण्डे से नहीं प्रत्युत "नियन्त्रण" अर्थ में हैं । वाक दण्ड का नियन्त्रण अर्थात मौन धारणा, कर्म नियन्त्रण अर्थात किसी जीव को हानि न पहुँचाना तथा मन नियन्त्रण अर्थात प्राणायाम व अन्य यौगिक अभ्यास है । [4]

भोजन की मात्रा के सम्बन्ध में भी योगी व सन्यासी के आचरण धर्म में समानतायें है । प्रस्तुत पुराण योगविद को स्वल्पाहार व नियताहार रहने का निर्देश देता है, वहीं भगवद्गीता में विवेच्य है कि जो अधिक भोजन करता है या पूर्ण उपवास करता है वह योग में सफल नहीं हो सकता । युक्ताहार विहार सम्पन्न व्यक्ति ही योग में सफलता प्राप्त करता है । [5]

---

(1) यस्यैते नियता दण्डा: स त्रिदण्डी महायति: । मार्क0पुराण, 38/22

(2) वाग्दण्ड: कर्मदण्डश्च मनोदण्डश्च ते त्रय: ॥ वहीं, 38/22

(3) मनुस्मृति, 6/52

(4) काणे, वहीं, प्रथम भाग – पृष्ठ 494

(5) नात्यश्नतस्तु योगीऽस्ति न चैकान्तमनश्नत:
न चाति स्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन ॥

– गीता 6/16-17

गोरक्षशतक में व्यवस्था है कि योगी को केवल दुग्ध भोजन पर रहना चाहिये, कटु अम्ल लवण का त्याग करना चाहिये[1] स्मृतियाँ भी सन्यासी को उतना ही भोजन पर्याप्त बताती है जितने से शरीर व आत्मा को वह एक साथ रख सके ।[2] योगी के भक्ष्याभक्ष्य पदार्थों का उल्लेख शांतिपर्व[3] में भी है कि योगी को चावल के छोटे-छोटे कण खाने चाहिये ।

अतः स्पष्ट है कि स्मृति युग में जो आचरण धर्म सन्यासीयों के लिये विहित था उसी के अनुरूप ही पुराणकार ने योगी की चर्या का निरूपण किया और इस प्रकार धर्म शास्त्रों का पुराणों पर स्पष्ट प्रभाव परिलक्षित होता है । मनुस्मृति, याज्ञवल्क्य स्मृति, विष्णु धर्म सूत्र आदि का समय प्रथम व चतुर्थ सदी के बीच का[4] का माना जाता है, अतः उक्त पुराण के यति धर्म सम्बन्धी अंश का रचनाकाल भी इसी के आस-पास मान सकते हैं जबकि स्मृतियों की वाणी समाज में मुखरित हो रही थी जनमानस उन्हीं सिद्धान्तों व नियमों को प्रधानता प्रदान कर रहा था अतः पुराणकार भी तत्युगीन

---

(1) काणे, पी.वी., गीता, 6/16-17

(2) मनुस्मृति, 6/57, याज्ञ. स्मृति, 3/59,

(3) शांतिपर्व, 289/43-45, 300/43-45

(4) काणे, पी.वी. धर्मशास्त्र का इतिहास, पंचम भाग, पृष्ठ 13

नियमों, विधियों, आचारों की संहिता से अप्रभावित न रहा । यही कारण है कि उक्त पुराण योगी की आचार विधि का सन्यासी के रूप में वर्णन प्रस्तुत करते हुये भी समाज में मान्यता प्राप्त सन्यासी धर्म या यति-धर्म नियमों से प्रभावित ही रहा । उपरोक्त विवेचन से यह भी स्पष्ट होता है कि भागवतों ने योग धर्म के निरूपण में ईश्वर के प्रति भक्ति के साथ नैतिक आचारों की श्रृंखलाओं तथा यति धर्म की आवश्यकताओं को एक सूत्र में पिरोकर निवृत्ति मूलक धर्म का जो स्तम्भ खड़ा किया था वह उपनिषदों स्मृतियों आदि की प्राचीन परम्परा से अनुस्यूत धर्म था ।

अध्याय-6

गौण देवता

1- रूद्र-शिव-

(क) रूद्र की उत्पत्ति सम्बन्धी विवरण

(ख) रूद्र और शिव की आठ मूर्तियाँ

(ग) महादेव, देवदेव, महेश्वर, ईश्वर के रूप में शिव की महत्ता

(घ) वृषध्वज और शिव

(ङ) शिव और उनकी पत्नी

(च) शिव का आवास- कैलास शिखर

(छ) रूद्र शिव के अस्त्र शस्त्र

2- मित्र देव

3- पितर

4- अग्नि

(क) अग्नि का कौटुम्बिक जीवन से सम्बन्ध

(ख) सप्तजिह्वाये और अग्नि

(ग) अग्निदेव का स्वरूप तथा उनका त्रयी से सम्बन्ध

(घ) अग्नि- स्तोताओं के उपकारक के रूप में

(ङ) अग्नि का हव्यवाहक और कव्यवाहक रूप

(च) अग्नि - उज्ज्वलता

5- कुलदेवता और लोकदेवियाँ

(क) जातहारिणी

(ख) चन्द्रमा

(ग) गणसंज्ञित देव

गौण देवता

रूद्र-शिव-

मार्कण्डेय पुराण में यद्यपि शिव की सत्ता बहुत महत्वशाली नहीं है। निर्गुण ब्रह्म ही रजोगुणावलम्बन पूर्वक ब्रहमा रूप से सृष्टि, सत्वगुणयुक्त रूप से विष्णु मूर्ति धारण कर पालन तथा तमोगुणाश्रय करके रूद्र रूप से संहार करते हैं ।(1) इस प्रकार शिव साक्षात तमोगुणावलम्बी हैं ।(2) पुराणों का यही उद्घोष है कि एक ईश्वरी शक्ति तीन गुणों के रूप में प्रकट होती है । शैव धर्म में शिव का विकास रूद्र से माना जाता है। रूद्र ऋग्वेद के देवमण्डली के एक देव हैं जिनकी स्थिति प्रस्तुत पुराण में अन्य देवों की तुलना में गौण है । मार्कण्डेय पु0 में रूद्र-शिव से सम्बन्धित स्थल बहुत कम मात्रा में है तथापि उनमें (जो विवरण उपलब्ध है) रूद्र की उत्पत्ति, परिवार, पत्नी, स्थान तथा आठ रूपों की चर्चा हुई है व रूद्र को ब्रहमा से उत्पन्न माना गया है ।(3)

रूद्र की उत्पत्ति सम्बन्धी विवरण-

प्रस्तुत पुराण में ब्रहमा की रूद्र सृष्टि के अन्तर्गत नील लोहित रूद्र का वर्णन है । रूद्र नाम पड़ने के कारण बताते हुये यह वर्णित है कि ब्रहमा के शरीर से उत्पन्न नीललोहित वर्ण वाला कुमार सुस्वर से प्रभु की गोद में ही रूदन करने लगा,(4) ब्रहमा जी के यह पूछने पर कि 'किं रोदिषि ?' कहा मुझे नाम दो, तब ब्रहमा ने रोने के कारण "रूद्र" यह नाम उसे प्रदान

---

(1) मार्क0 पुराण, 43/17

(2) वही, 43/18

(3) वही. 47/6-

किया ।[1] प्राचीन वैदिक ग्रन्थों मे सर्वत्र रूद्र की उत्पत्ति रूद् (रोना) धातु से बतायी गयी है। शतपथ ब्राहमण [2] में भी रूद्र की उत्पत्ति की कथा यही दी गयी है । वृहदारण्यक (3।9।4)[3] में दशों इन्द्रियों व मन को एकादश रूद्र के रूप में ग्रहण किया है। डा० श्रादेर [4] के विचार में मृतात्माओं के प्रधान व्यक्ति को देवत्व का रूप प्रदान कर रूद्र मान लिया गया है क्योंकि यह वर्णन कई स्थानों पर मिलता है कि मृतकों की आत्मायें आँधी के साथ उड़कर ऊपर जाती है। डा० ओल्डेन वर्ग [5] ने रूद्र का सम्बन्ध पर्वत से माना है क्योंकि उनकी पत्नी पार्वती या उमा 'हैमवती' कही जाती है।

वैदिक काल में श्वेता-श्वेतर उपनिषद रूद्र की एकता का ही प्रतिपादन करता है [6] तथापि पुराणों में रूद्र के अन्य सात नामों की चर्चा है । फलत: 'एको विप्रो बहुधा वदन्ति' के अनुसार रूद्र के विविध रूपों की कल्पना साधार ही थी ।

---

(1) मार्क० पुराण, 49/ 4-5

(2) यदरोदीत् तस्मात् रूद्रः । - शतपथ ब्राहमण, 6/1/3/8

(3) उपाध्याय, बलदेव- पुराणविमर्श, पृष्ठ 472 से उद्धृत

(4) वही, पृष्ठ 473 से उद्धृत

(5) वही, पृष्ठ 473 ,, ,,

(6) एको रूद्रो न द्वितीयाय तस्थुः (

- श्वेताश्वेतर उपनिषद, 3/2।

रूद्र और शिव की आठ मूर्तियाँ-

आलोचित पुराण में रूद्र व उसके सात अन्य नामों का उल्लेख है कि रूद्र द्वारा-पुनः सात बार रोने पर ब्रहमा ने क्रमानुसार उसे सात नाम और प्रदान किये [1] इस प्रकार शिव की आठ मूर्ति- रूप स्थापित हुई । ये आठ नाम इस प्रकार है- रूद्र, ईशान, पशुपति, भीम, भव, शर्व, उग्र, महादेव, [2] ब्रहमा ने इन आठों मूर्तियों को आठ स्थान, पत्नी व पुत्र प्रदान किये [3] जो इस प्रकार है:-

	रूद्र मूर्ति	भार्या	पुत्र	स्थान
§1§	रूद्र	सुवर्चला	शनैश्चर	सूर्य
§2§	भव	उमा	शुक्र	जल
§3§	शर्व	विकेशी	लोहितांग	पृथ्वी
§4§	ईशान	स्वधा	मनोजव	अग्नि
§5§	पशुपति	स्वाहा	स्कन्द	वायु
§6§	भीम	दिक्	सर्ग	आकाश
§7§	उग्र	दीक्षा	सन्तान	दीक्षित ब्राहमण
§8§	महादेव	रोहिणी	बुध	सोम

इस प्रकार मार्कण्डेय पुराण में शिव की आठ मूर्तियों के साथ सम्बद्ध

---

§1§ "ततो अन्यानि ददौ तस्मै सप्त नामानि वै प्रभुः।
- मार्क० पुराण, 49/6

§2§ भवं शर्व तथेशानं तथा पशुपतिं प्रभु : ।
भीममुग्रं महादेवमुवाच स पितामह: ।।
- वही, 49/7

एक-एक भार्या, पुत्र व उन मूर्तियों से सम्बद्ध स्थानों का निर्देश है इस प्रकार का विवरण लिंग पुराण[1] व वायु पुराण[2] में भी मिलता है।

शिव के ये आठ नाम वेदों से लिये गये प्रतीत होते हैं लेकिन उन आठों के साथ पत्नी, पुत्र स्थान सम्बद्ध करने की परम्परा वेदोत्तरकालीन है ।

शुक्ल यजुर्वेद [3] में अग्नि, अशनि, पशुपति, भव, शर्व, ईशान, महादेव, उग्र - ये सब एक ही देवता के पृथक -2 नाम कहे गये हैं । शतपथ ब्राह्मण में रूद्र की आठों मूर्तियों को भौतिक पदार्थों का प्रतिनिधि बताया गया है जिसमें रूद्र साक्षात् अग्नि के प्रतिनिधि है [4] रूद्र को प्राच्य लोग 'शर्व" नाम से तथा वाहीक लोग "भव" नाम से पुकारते थे लेकिन ये सब वस्तुतः अग्नि के ही नाम है । ऋग्वेद में रूद्र को अग्नि का प्रतिनिधि माना गया है ।[5] अर्थव वेद में भी रूद्र का एक नाम अग्नि दिया गया है [6] विष्णु पु0 में वर्णित है कि जनार्दन विष्णु ने रूद्र रूप से समस्त जगत को दग्ध किया [7] इससे रूद्र का अग्निमय रूप सिद्ध होता है शतपथ ब्राह्मण भी

---

[1] लिंग पुराण, 53/51 से 56

[2] वायु पुराण, 27 वां अध्याय

[3] शुक्ल यजुर्वेद, 39/8

[4] अग्निर्वै सदेव तस्यैतानि नामानि शर्व इति यथा प्राच्या आचक्षते ।
भव इति यथा वाहीका।पशुनां पती रूद्रोऽग्निरिति तान्यस्य
अशान्तान्येवेतराणि नामानि । अग्निरित्येव शान्ततमम् ।।
— शतपथ ब्राह्मण, 1/7/3/8

[5] त्वमग्ने असुरो महो दिवः । ऋग्वेद, 2/1/6/

[6] तस्मै रूद्राय नमो अस्त्वग्नये । अथर्ववेद, 7/83

रूद्र को अग्नि कहता है ।[1] अग्नि ही जब रूद्र रूप में प्रकट हुआ तो रूदन करने लगा परन्तु अन्य रूप "सोम" पाकर अग्नि शिव बन गया । सोम के बिना अग्नि रूद्र है सोम के साथ वह शिव है। ज्ञान, कर्म, व पंचभूतात्मा इन सात तत्वों के लिये ही रूद्र ने सात बार रूदन किया था [2] शुक्ल यजुर्वेद में रूद्र के आठ नामों में एक नाम अग्नि भी है जब मार्कण्डेय पुराण में रूद्र के आठ नामों में अग्नि के स्थान पर भीम नाम उल्लखित है सम्भवतः अग्नि की घोररूपा प्रकृति की मान्यता के कारण " भीम" यानि उग्र रूपधारी नाम उल्लखित किया गया है।

कालिदास ने अभिज्ञान शाकुन्तल में इन्हें ही शिव के आठ,"प्रत्यक्ष तनु" कहा है ।[3] शिव के उपरोक्त आठ नामों में भीम" व "उग्र" नाम रूद्र के उग्र स्वरूप को प्रकट करते हैं । कालिदास के अनुसार जल, पावक, होता क्षिति, गगन, समीर, सूर्य और चन्द्र के संयुक्तता से शिव की आठ मूर्ति बनती हैं ।

शिव के विविध नाम-

शिव के उपरोक्त आठ मूर्तियों के अतिरिक्त शिव के अन्य नाम भी उपलब्ध होते हैं । शिव बहुरूप व महारूप वाले हैं । अश्वतर तथा कम्बल नामक नाग राजाओं द्वारा वाक् देवी सरस्वती की आराधना से वक्तृता क्षमता, प्राप्त करने पर तन्त्रीलय संगीत सप्तस्वर गान आदि से तीनों काल में महेश्वर की आराधना

---

(1) यो वै रूद्रः सोऽग्नि । -शतपथ ब्राह्मण, 5/2/4/13

(2) प्रस्तुत्य, अग्रवाल, वा.श., मार्कण्डेयपुराण एक सांस्कृतिक अध्ययन, पृष्ठ 132-133

(3) या सृष्टिः स्रष्टुराद्या वहति विधिहुतं या हविर्या च होत्री
ये द्वे कालं विधत्तः श्रुतिविषयगुणा या स्थिता व्याप्य विश्वम् ।
यामाहुः सर्वबीजप्रकृतिरिति यया प्राणिनः प्राणवन्तः
प्रत्यक्षाभिः प्रपन्नस्तनुभिरवतु वस्ताभिरष्टाभिरीशः ।। अभि.शाकु. 1/1

का उल्लेख आलोचित पुराण में है [1] और इस सन्दर्भ में शिव के जिन नामों की चर्चा हुई है वे इस प्रकार है:-
महादेव[2], देवदेव [3], अनंगांगहर [4], हर [5], शितिकंठ [6] त्रिलोचन, [7] भगवन् [8], कैलास शैलेन्द्र शिखर स्थितमीश्वर [9], महेश्वर[10], वृषध्वज [11], आदि।

इनमें कई नामों यथा महादेव, शितिकंठ, आदि की परम्परा वैदिक कालीन है। रूद्र के आठ नामों में रूद्र, शर्व, उग्र, अशनि ये चार नाम विध्वंसकारी या भीम रूपधारी थे। शेष चार नाम भव, पशुपति, महादेव, व ईशान कल्याणकारी थे। सूत्रकाल में उनको बारह नामों से स्तुति की जाती थी जिनमें

---

[1] मार्क० पुराण, 21/ 61-62
[2] मार्क, पुराण, 21/64
[3] वही, 21/65
[4] वही, 21/61
[5] वही, 21/61
[6] वही, 21/64
[7] वही, 21/65
[8] वही, 21/65
[9] वही, 21/60
[10] वही, 21/72
[11] वही, 21/63

हर, मृड, भीम, शिव तथा शंकर ये पाँच नाम नये जोड़े गये व अशनि नाम लुप्त हो गया। इनके साथ इन्द्राणी, रूद्राणी, शर्वाणि भवानी, चार पत्नियों के नाम जोड़ दिये गये । (1) इसी परम्परा के विकास क्रम में हमें पुराणों में शिव की आठ मूर्तियों के साथ, प्रत्येक को पत्नी, पुत्र, स्थान की कल्पना विकसित हुयी जो पुराणकार की ही व्यवस्था थी ।

महादेव, देवदेव, महेश्वर, ईश्वर के रूप में शिव की महत्ता-

शिव के महादेव, देवदेव, महेश्वर आदि नाम उन्हें सर्वोच्च देवता की कोटि में रखते हैं । ऋग्वेद में उन्हें उग्र रूप में ही व्यक्त किया गया है लेकिन उपनिषदों में रूद्र देवताओं के विश्व के अधिपति है , देवताओं के उत्पादक व महर्षि है ।(2) शिव सभी देवों से महान है अतएव महादेव उनका नाम है।(3) वायु, ब्रह्माण्ड, मार्कण्डेय आदि पुराणों मे शिव के आठ नामों में महादेव आठवाँ नाम बताया गया है (4) विष्णु पुराण में भी शिव का एक नाम महादेव वर्णित है । मत्स्य पु0 भी शिव को महादेव

---

(1) द्रष्टव्य, मिश्र, जयशंकर, प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास, पृष्ठ 695

(2) यो देवानां प्रभवश्चोद्भवश्च
विश्वाधिपो रूद्रो महर्षिः ।
हिरण्यगर्भं जनयामास पूर्वं
स नो बुद्धया शुभ्या संयुनक्तु ।। श्वेता0 उप0, 3/4

(3) देवेषु महान देवो महादेवस्ततः- ।वायु पु0, 5/41

(4) महादेवस्त्वं नाम्नासि इत्युक्तो विरराम ह । वायु पु0, 27/16
त्वं महादेवनामासि इत्युक्तो विरराम ह । ब्रह्माण्ड पु0, 2X10/17
भीममुग्रं महादेवमुवाच स पितामहः । मार्क0 पुराण,49/7।

(5) भीममुग्रं महादेवमुवाच स पितामहः । विष्णु पु0, /8/7

कहता है । [1] देवताओं के भी देव शिव की महत्ता का सूचक महादेव नाम अनेकशः वायु, ब्रहमाण्ड, मत्स्य आदि पुराणों मे मिलता है। विष्णु पुराण में चन्द्रमा को ग्रहण करने वाले शिव को महेश्वर भी कहा गया है।[2]

त्रिलोचन, नीललोहित, शिति_कंठ-

नीललोहित रूद्र को आलो पु. में ब्रहमा से उत्पन्न माना गया है [3] नीललोहित रूद्र की परम्परा अत्यन्त प्राचीन है । ऋग्वेद में भी रूद्र को 'नीलग्रीवा' कहा गया है। यजुर्वेद के रूद्राध्याय में रूद्र का नाम 'नीलग्रीव' दिया है । [4] लेकिन 'शितिकंठ' भी उनका नाम है क्योंकि उनकी ग्रीवा श्वेत है। शिव को वायु, विष्णु, ब्रहमाण्ड पुराणों मे नीलकण्ठ की संज्ञा दी गयी है [5] और इसका कारण समुद्र से उत्पन्न विष के पान को माना गया है। । 'शितिकण्ठ' विशेषण भी इन्हीं पुराणों मे प्रस्तुत हुआ है। [6]

---

[1] ततो देवो महादेवा विलोक्य विषमं विषम् । मत्स्य पु., 250/55

[2] ततः शीतांशुरभवज्जगृहे तं महेश्वरः। विष्णु पु०, 1/9/97

[3] प्रादुरासीदथांकेऽस्य कुमारो नीललोहितः । मार्क· पुराण, 49/3/

[4] नमो नीलग्रीवाय च शितिकण्ठाय च /शुक्ल यजुर्वेद, 16/28/

[5] नीलग्रीवान्...|वायु पु० , 10/50 , ब्रहमाण्ड पु०, 2/9·/68

[6] शितिकण्ठोग्रमन्यवः / वायु पु०, 10/47

वेदों में शितिकण्ठ रूप के साथ साथ शिव के नील व लोहित रंग का भी उल्लेख है । अथर्व वेद में एक स्थान पर रूद्र को 'नीलोदर' व रक्तपृष्ठ वाला कहा गया है ।[1]

नीललोहित शितिकण्ठ शिव त्रिलोचन धारी भी है । रूद्र के तीन नेत्रों का उल्लेख ऋग्वेद में भी हुआ है जहाँ उन्हें 'त्रयम्बक' कहा गया है [2] लेकिन अथर्व वेद व शतपथ ब्राहमण शिव को 'सहस्त्राक्ष' अर्थात सहस्त्रों नेत्र वाला भी कहते हैं ।[3] मत्स्य पुराण, वायु, ब्रहमाण्ड आदि पुराण भी शिव के सहस्त्राक्ष रूप की चर्चा करते हैं ।[4] लेकिन सामान्य रूप से शिव का त्रिलोचन रूप ही प्रसिद्ध था । इस प्रकार नीललोहित, शितिकण्ठ, त्रिलोचन ये रूद्र के नाम वैदिक परम्परा से ही गृहीत है ।

वृषध्वज और शिव -

मार्कण्डेय पुराण में शिव को 'वृषध्वज' भी कहा गया है । ऋग्वेद में भी रूद्र का तादात्म्यं वृषभ से स्थापित है [5] यहाँ पर वैदिक प्रभाव दृष्टव्य है अन्य पुराणों में भी शिव को वृषध्वज, वृषभेन्द्र ध्वज आदि की संज्ञा दी गयी है[6]

---

[1] नीलमस्योदरं लोहितं पृष्ठं.......। अथर्व वेद, 15/1/7

[2] त्रम्बकं यजामहे,........। ऋग्वेद, - 7/53/14,

[3] अस्त्रा नीलशिखण्डेन सहस्त्राक्षेण वाजिना ...।
- अथर्ववेद, 1/2/7

रूद्रः सहस्त्राक्षः शतेषुधिरधिज्यधन्वा । शतपथ ब्राहमण, 9/1/1/6

[4] मत्स्य पु0, 47/145, वायु, पु0, 10/-0, ब्रहमाण्ड पु0, 2/9/77.

[5] नु मा वृषभ चक्षमीया: । ऋग्वेद, 2/33/7

[6] राय, एस0एन0, पौराणिक धर्मव समाज, पृष्ठ 35

शिव और उनकी पत्नी सती, पार्वती आदि

मार्क॰ पुराण में वर्णित है कि ब्रह्मा से उत्पन्न नीललोहित रूद्र, जो अष्ट मूर्ति युक्त है, ही आगे चलकर सती को भार्या रूप से प्राप्त हुये थे ।[1] फिर दक्ष के कोप से सती हिमवान की पुत्री हुयी, भगवान भव ने पुन: पार्वती से विवाह किया [2] जिसका भाई समुद्र का सखा मैनाक था ।[3] शिव की पत्नी पार्वती का उल्लेख तैत्तरीय आरण्यक में तथा उमा हैमवती का केनोपनिषद में उल्लेख है ।[4] हैमवती का सम्बन्ध हिमवान की पुत्री से है। अन्य पुराणों में भी शिव पत्नी के रूप में हिमवान दुहिता पार्वती का ही वर्णन है। वामन पुराण सती- पार्वती -प्रसंग को विस्तार से वर्णित करता है। आलोचित पुराण में केवल प्रसंग का उल्लेख मात्र ही किया गया है। इससे स्पष्ट है कि मार्कण्डेय पुराण में रूद्र- शिव का विस्तार से वर्णन अभीष्ट न था अत: इसे शिव प्रधान पुराण नहीं माना जा सकता जैसा कि कहीं - कहीं इसे शिव विषयक पुराण की कोटि में परिगणित किया गया है ।

विष्णु पुराण में भी शिव का तप: शील पार्वती से विवाह का वर्णन है। पार्वती ही वैदिक कालीन उमा है जिनका सम्बन्ध रूद्र-शिव से जोड़ा गया । महाभारत में विष्णु व लक्ष्मी की भाँति शिव व पार्वती का सम्बन्ध वर्णित है।[5] कालिदास भी रघुवंश में शिव पार्वती को शब्द व अर्थ की भाँति संयुक्त मानते हैं ।[6]

---

(1) एवं प्रकारो रूद्रोऽसौ सतीं भार्यामविन्दत ।
दक्षकोपाच्च तत्याज सा सती स्वं कलेवरम् ।। - मार्क॰ पुराण, 47/12

(2) हिमद्दुहिता साभून्मेनायां द्विजात्तम: : । वही, 47/13

(3) तस्या भ्राता तु मैनाक: सखाम्भोधेरनुत्तम: । वही, 47/17

(4) द्रष्टव्य, उपाध्याय बलदेव, पुराण विमर्श, पृष्ठ 470

(5) महेश्वरम् पर्वत राजपुत्री····। महाभारत , आदि पर्व, 183/30

(6) रघुवंश, 1/1

शिव का आवास- कैलास शिखर-

रूद्र-शिव कैलास पर्वत के शिखर पर स्थित महेश्वर है ।[1] इस सम्बन्ध में यह ध्यातव्य है कि वाजसनेयी संहिता में रूद्र का आवास पर्वत ही माना गया है और उन्हें 'गिरीश' की संज्ञा प्रदान की गयी है।[2] गिरि पर शयन के कारण ही रूद्र का एक नाम 'गिरीश' भी है । अन्य पुराण भी शिव को गिरि पर वास करने वाला कहते हैं ।[3] उनकी पत्नी हैमवती कही जाती हैं । डा. औल्डेन वर्ग ने रूद्र का सम्बन्ध पर्वत से ही माना है ।[4]

---

[1] कैलास शैलेन्द्र शिखर स्थित मीश्वरम् । मार्क, पुराण 21/60

[2] वाजसनेयी संहिता, 16/1 तथा
गिरौ शेते गिरिशः । सायण टीका

[3] वायु. पु. , 69/283, ब्रहमाण्डपु0, 3/7/411

[4] द्रष्टव्य, उपाध्याय, बलदेव, पुराण विमर्श, पृष्ठ 473

रूद्र शिव के अस्त्र-शस्त्र

मार्कण्डेय पुराण के अनुसार 'देवाधिदेव महादेव' के एक बाण से परास्त होकर असुरगण यज्ञ में बाधा नहीं पहुँचा सकते ।[1]

यहां पर यह ध्यातव्य है कि बाण के रूप में उनके अस्त्र का उल्लेख वैदिक साहित्य से ही मिलने लगता है। यजुर्वेद के तैत्तरीय संहिता के रूद्राध्याय में पिनाक नामक धनुष व बाण के लिए तरकस धारण करने का उल्लेख है। [2] वे धनुष बाण से वैरियों का वध करते हैं, इसी लिए 'शूलपाणि पिनाकी' भी उनके नाम है। इनके अस्त्र शस्त्र भयानक है जिनसे बचने के लिए ऋषि सदा प्रार्थना करते हैं [3] वे शूरों के अधिपति है, उन्हें न मानने वाले मनुष्यों को वे अपने बाणों से छिन्न भिन्न कर देते हैं । ऋग्वेद के विवरण के अनुसार उनके द्वारा फेंके गये बाण तीव्र रूप से स्वर्ण व पृथ्वी पर गिरते हैं ।[4]

इस प्रकार मार्क॰ पु॰ में रूद्र-शिव के बहुत ही संक्षिप्त विवरण में उनके आठ रूपों पत्नी सती व पार्वती, उनके कल्याणकारी व उग्ररूप को प्रसंगवश उल्लखित किया गया है।

---

(1) मार्क॰ पुराण, 4/4।

(2) यजुर्वेद, 16/5।

(3) द्रष्टव्य, पुराण विमर्श, पृष्ठ -469.

(4) ऋग्वेद, 7/46/3/

जहां तक शिव की महत्ता की प्राचीनता का प्रश्न है , प्रागैतिहासिक काल से ही शिव की महत्ता द्योतित है। शिव उत्तरवैदिक कालीन नाम है। विष्णु, शक्ति आदि की तरह उनके न तो अवतारों की कल्पना मिलती है न उनका विकास अवतारवाद के आधार पर हुआ बल्कि उनका विकास रूद्र से दृश्यमान है। सैन्धव युगीन मुहरों पर अंकित पशुपति शिव का अंकन शिव की प्राचीनता का द्योतक है ऋग्वेद में शिव के लिये 'रूद्र' नाम मिलता है जो अपनी रूद्रता के लिये विख्यात था। उनकी रूद्रा शक्ति से त्राण पाने के लिए ही वैदिक आर्यों ने रूद्र की स्तुति की। वैदिक काल में रूद्र पशुपति रूप में मान्य थे ।

उत्तरवैदिक काल में वे गिरिश, गिरित्र, पशूनां पति, दिशाओं के पति कपर्दिन, भी कहलाये ।[1] उग्र रूप में वे अग्नि से भी समीकृत हुये । सम्भवतः प्रारम्भ में रूद्र-शिव अनार्य जातियों के उपास्य थे ।

सूत्रकाल में रूद्र की विशिष्टता बढ़ी। आठ रूपों के साथ- साथ इन्द्राणी, रूद्राणी, शर्वाणि, भवानी आदि पत्नियों के प्रसंग उनके साथ जुड गये। महाभारत काल में शिव एक श्रेष्ठ देव के रूप में प्रतिष्ठित हुये अवान्तर युग में शिव - सती प्रसंग महत्वशाली हुआ। पुराणों में शिव की महत्ता निरूपित की गयी लेकिन मार्क० पुराण में शिव गौण देव प्रतीत होते हैं ।

---

[1] मिश्र, जयशंकर -प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास पृष्ठ 694 से उद्घृत

मित्र देव

मार्क॰ पुराण के वर्णनों में यत्रतत्र मित्र नामक देव की स्तुति और यज्ञ करने का उल्लेख मिलता है। मित्र एक वैदिक देवता था। वैदिक काल में अधिकांशत: मित्र व वरूण का एक साथ प्रयोग मिलता है।[1] मार्क० पुराण में भी एक स्थल पर मित्रावरूण की स्तुति का सन्दर्भ प्राप्य है, तदनुसार मनु ना राजा ने विशिष्टतर पुत्र की कामना से मित्रावरूण का यज्ञ किया था, लेकिन यज्ञ के अपहुत हो जाने पर कन्या की उत्पत्तिहुई। अत: मनु ने पुत्र प्राप्ति की इच्छा से मित्रावरूण की स्तुति की और उनसे उस यज्ञोत्पन्ना पुत्री को गुणवान पुत्र में परिवर्तित करने की प्रार्थना की। फलत: दोनों देवताओं के तथास्तु कहने पर मनु को पुत्र की प्राप्ति हुई।[2]

उपरोक्त वर्णन से यह ज्ञात होता है कि मित्रावरूण की स्तुति का व यज्ञ का प्रचलन तत्कालीन समाज में पुत्र प्राप्ति हेतु प्रचलित था। इसी प्रकार एक अन्य स्थल पर ब्राहमण द्वारा राजा उत्तम और उनकी पत्नी की प्रीति के लिये मित्रविन्दा नामक यज्ञ करने का प्रसंग वर्णित है।[3] प्रस्तुत प्रसंग में मित्रविन्दा यज्ञ को स्त्रीपुरूषों की प्रीतिकारी व प्रीति उत्पादक शक्ति प्रदाता

---

[1] द्रष्टव्य, वैदिक पुराकथा शास्त्र, पृष्ठ 53

[2] विशिष्टतरमन्विच्छन्मनु: पुत्रं तथा पुन: ।।
मित्रावरूणयोरिष्टिं चकार कृतिनां वर: ।।
— मार्क० पुराण, 108 / 6 से $6\frac{1}{2}$

[3] मार्क॰ पुराण, 69/8

कहा गया है ।[1] अन्यत्र वर्णन है कि नर नारियों में द्वेष उत्पन्न होने पर मधु, दुग्ध, घृत, संयुक्त तिल की आहुति देकर मित्र विन्दा नामक यज्ञ करना चाहिये ।[2] वर्णन क्रम में यह भी वर्णन है कि गृह में कलह होने पर मित्र की स्तुति करनी चाहिये ।[3]

इस प्रकार स्पष्ट है कि पौराणिक काल में पुत्र प्राप्ति, परस्पर प्रीति उत्पन्न करने, गृहकलह की शान्ति आदि के लिये मित्र विन्दा यज्ञ और मित्र की स्तुति का प्रचलन था। अन्य पुराणों में भी इनके साक्ष्य विद्यमान है तथा विष्णु पुराण में भी मनु कोमित्रावरूण के प्रसाद से पुत्र लाभ का वर्णन है।[4] मत्स्य पुराण में वशिष्ठ के अनुज अगस्त्य की उत्पत्ति मित्रावरूण के तेज से निरूपित है।[5] मित्रावरूण वैदिक देवता के रूपमेंऋग्वेद में वर्णित हैं। वैदिक ग्रन्थों में भी मित्रावरूण की स्तुति का वही फल वर्णित है जो पौराणिक स्थलों में व्यक्त है। यथा वैदिक ग्रन्थों के अनुसार 'अपनी वाणी के उच्चारण मात्र से यह मनुष्यों को एक सा ला देते हैं'।[6] अतः मनुष्यों में एकता स्थापित करना मित्र की एक विशेषता है और इस रूप में वे शान्ति के देवता थे ।

---

(1) अप्रीतयोः प्रीतिकारी सा हि संजननी परम् ।।
भार्यापत्योर्मनुष्येन्द्र तां तवेष्टिं करोम्यहम् ।।
— मार्क॰ पुराण, 69/9

(2) वही, 48/48-49

(3) वही , 48/54

(4) विष्णु पु0, 4/1/10

(5) मत्स्यपु0, 61/19

(6) द्रष्टव्य, वैदिक पुराकथा शास्त्र, पृष्ठ 54- 55

गौण देवता

पितर-

मार्क॰ पुराण में रूचि आख्यान में अभीष्ट पत्नी और पुत्र प्राप्ति के लिये पितरों की पूजा का वर्णन है जिसके अनुसार विप्रर्षि रूचि ने ब्रहमा की आज्ञा से अभीष्ट प्रजासृष्टि व सन्तान के लिये पितरों का तर्पण किया था और आदर सहित, एकाग्रचित्त, तथा भक्ति से पितरों का स्तवन किया था॥1॥ जिसके प्रसाद से विप्रर्षि रूचि को मनोहर पत्नी और श्रेष्ठ मनु पुत्र प्राप्त हुआ था। प्रस्तुत पुराण के अनुसार पितरों की स्तुति और पितरों के गण का श्रवण करने से सम्पूर्ण कामना सिद्ध होती है।॥2॥ स्वयं ब्रहमा के अनुसार पितरगण सन्तुष्ट होने पर क्या नहीं देते ?॥3॥ रूचि कृत पितर-स्तवन से स्पष्ट होता है कि पौराणिक युग में लोक में गृहस्थ धर्म के अनुयायी पुत्र, पशु अर्थ, बल, गृह आदि लौकिक भोगों की प्राप्ति के लिये पितरों को सन्तुष्ट करते थे॥4॥ उस युग में पितरों की सन्तुष्टि के दो उपाय थे ॥1॥- पितृ श्राद्ध की क्रिया,॥ ॥2॥-पितृो का स्तुति-स्तोत्रों द्वारा स्तवन। लेकिन श्राद्ध क्रिया से भी ज्यादा पुष्टिकारक व तृप्तिकारक साधन था- पितरों की स्तुति।

॥1॥ मार्क॰ पुराण, 93/12.

॥2॥ पितृस्तवं तथा श्रुत्वा पितृणां च तथागणान् ।
सर्वान्कामानवाप्नोति तप्रसादान्महामुने- मार्क॰ पुराण, 95/10

॥3॥ .... किंन दद्युः पितामहाः ॥
मार्क॰ पुराण, 93/10

॥4॥ ....वा सुतान्पशून्स्वानि बलं गृहाणि ।
- मार्क॰ पुराण 93/30 तथा,

शरीरारोग्यमर्थं च पुत्र पौत्रादिकं तथा ।

इस लिये विप्रर्षि रूचि ने अभीष्ट लौकिक भोगों की प्राप्ति के लिये पितर-स्तवन किया था । स्वयं प्रस्तुत पुराण वर्णित पितर आख्यान के अनुसार स्तोत्र द्वारा स्तवन किये जाने पर पितर आरोग्यता, धन व पुत्र पौत्रादिक अभीष्ट प्रदान करते हैं । पितरों की यह स्तुति और पूजाभक्ति के साथ पुष्प, गन्ध, अन्न, भोज्य पदार्थों आदि द्वारा की जाती थी ।[1]

मार्क. पुराण में रूचि आख्यान में पितरों की श्रेणियों का भी उल्लेख प्राप्य है । ये श्रेणियां है-अग्निष्वात्ता, बर्हिषद, आज्यपा और सोमपा।[2] इनमें अग्निष्वात्ता पितर पूर्व दिशा के, बर्हिषद पितर दक्षिण दिशा के, आज्यपा पितर पश्चिमी दिशा के तथा सोमपा पितर उत्तर दिशा के रक्षक वर्णित है ।[3] पितरों की ये श्रेणियाँ किंचित अन्तर के साथ वैदिक ग्रन्थों व अन्य पुराणों में भी मिलती हैं । अग्निष्वात्ता और बर्हिषद पितर के नाम ऋग्वेद व तैतीरियसंहिता में भीउपलब्ध होते हैं ।[4] शतपथ ब्राहमण में भी उपरोक्त चार प्रकार के पितरों का उल्लेख हैं जिसके अनुसार जिन्होनें एक सोमयज्ञ किया, वे पितर सोमपा कहे गये । जिन्होने पक्व

---

[1] तेषां तु सान्निध्यमिहास्तु पुष्पगन्धान्न भोज्येषु मया कृतेषु ।।
— मार्क॰ पुराण, 93/34

[2] मार्क. पुराण 93/ 40 से 42

[3] उपरोक्त सन्दर्भ में ही,

[4] काणे पी.वी., धर्मशास्त्र का इतिहास, पृष्ठ 1201. से उद्धृत

आहूतियाँ दी और एक लोक प्राप्त किया, वे पितर बर्हिषद कहलाये। जिन्होंने इन दोनों में से कोई कृत्य सम्पादित नहीं किया और जिन्हें जलाते समय अग्नि ने समाप्त कर दिया वें अग्निष्वात्ता पितर कहलाये। मनु ने भी पितरों की श्रेणियाँ वर्णित की है।[1] मत्स्य पुराण में भी सौम्य, बर्हिषद, काव्य और अग्निष्वात्त ये चार पितरों की श्रेणियाँ वर्णित है।[2] पितरों की विभिन्न श्रेणियों के अलावा मार्क. पुराण में पितरों के गणों का भी उल्लेख है। जिनके नाम व संख्या इस प्रकार है:-

§1§ विश्व, विश्वभुक, आराध्य, धर्म, धन्य, शुभानन, भूतिद, भूतिकृत और भूति।

§2§ कल्याण कल्यताकर्ता, कल्प, कल्यत-राश्रय, कल्यता हेतु, और अनघ।

§3§ वर, वरेण्य, वरद, पुष्टिद, तुष्टिद, विश्वपाता, और धाता।

§4§ महान, महात्मा, महित, महिमावान, और महाबल। जो पितरों के पाप नाशक गण है।

§5§ इसी प्रकार सुखद, धनद, धर्मद तथा भूतिदातागण है।

मार्क पुराण में इस प्रकार कुल 31 प्रकार के पितृगण वर्णित है [3]

---

§1§ द्रष्टव्य, काणे पी0वी0, , पृष्ठ 1201 से उद्धृत

§2§ सौम्या वर्हिषद: काव्या अग्निष्वात्तास्थैवचा।
- मत्स्य पु0, 141/4

§3§ एक त्रिंशत्पितृगणा यैव्याप्तमखिलं जगत्।। - मार्क. पुराण, 93/48

रूचिकृत पितर स्तवन में उन्हें ब्राहमण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र चारों जातियों के द्वारा पूज्य बताया गया है ।[1] जिसके अनुसार ब्राहमण शुक्ल वर्ण की प्रभा वाले पितरों की, क्षत्रिय रक्तवर्णयुक्त पितरों की, वैश्य कनकोत कान्ति वाले पितरों की तथा शूद्र नीलिमाभा पितरों की पूजा करते हैं । मार्क० पुराण के वर्णनों से ब्राहमण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र के द्वारा पितरों को सन्तुष्ट करने के लिये अपनाये जाने वाले उपायो पर भी प्रकाश पड़ता है यथा ब्राहमण समाधि द्वारा ,[2] क्षत्रिय कव्य द्वारा [3], वैश्य पुष्प, धूप, अन्न व जल द्वारा[4] तथा शूद्र भक्ति से श्राद्ध द्वारा [5] पितरों को सन्तुष्ट करते हैं ।

मार्क० पुराणानुसार पितरों का वासस्थल देवलोक और अन्तरिक्ष है[6] तैत्तरीय ब्राहमण के वर्णन के आधार पर काणे महोदय ने भूलोक और अन्तरिक्ष बाद पितृलोक की अवस्थिति मानी है । [7] ऋग्वेद में यम, जो पितरों के

---

[1] मार्क० पुराण 93/36 से 37

[2] ये सयंतात्मभिर्नित्यं संतर्प्यन्ते समाधिभिः ।।
— मार्क०पुराण, 93/20

[3] ... राजन्यास्तर्पयन्ति यान् । कव्यैश्शेषैः .....।।
— मार्क० पुराण, 93/21

[4] ... वैश्यैरर्च्यन्ते भुवि ये सदा ।।
स्वकर्माभिरतैर्नित्यं पुष्पधूपान्नवारिभिः ।।" मार्क० पुराण, 93/22

[5] ... पितृन्श्राद्धैर्ये शूद्रैरपि भक्तितः ....।।" मार्क० पुराण, 93/23

[6] पितृनमस्ये निवसन्ति साक्षाद्ये देवलोके च तथान्तरिक्षे ।।
— मार्क० पुराण, 93/27

[7] काणे पी०वी०, पूर्वोक्त, पृष्ठ 120।

राजा है, को स्वर्ग में निवास करने वाला बताया है ।[1]

पितर न केवल मनुष्यों द्वारा अपितु देवों द्वारा भी पूजित होते हैं । मार्क॰ पुराण में वर्णित रूचि स्तुति में अनेक स्थलों पर उन्हें देवताओं द्वारा पूजित कहा गया है।[2] जो अमरेश इन्द्र के भी पूज्य है [3] वे देवताओं के भी आदि पुरूष है ।[4] देवता भी श्राद्ध में स्वधा उच्चारण के द्वारा पितरों को सन्तुष्ट करते हैं । [5] इस प्रकार स्पष्ट है कि प्रस्तुत पुराण में पितर पूजा के सन्दर्भ में स्तुति गान में पितरों को देवों से भी उच्च और देवों का आदि पुरूष कहा गया जिसे केवल पितरों की प्रशस्ति मान सकते हैं । इसी क्रम में उन्हें जगत का पिता भी कहा गया । [6] पितरों को प्रस्तुत पुराण में ध्यानरत, दीप्त-तेज, अर्जित और मूर्तिमान कहा गया है ।[7]

---

[1] ऋग्वेद, 10/64/3

[2] महीतले ये च सुरादि पूज्यास्ते - ।।- मार्क॰पुराण,93/27

[3] -अमरेशपूज्या: -- ।। मार्क॰ पुराण, 93/39

[4] आधा: सुराणाम् -- ।। मार्क॰पुराण,93/39

[5] देवैरपि हि तर्पयन्ते ये च श्राद्धे स्वधोत्तरै : । मार्क॰पुराण,93/13

[6] मार्क॰पुराण, 94/10

[7] मार्क॰ पुराण, 94/3.

पितरों का सोम से भी सम्बन्ध है इसी लिये उन्हें सोम पितर, सोमधार कहा गया है ।[1]

उपरोक्त विवरण से स्पष्ट होता है कि प्राचीन काल में पितर पूजा का भी प्रचलन था। श्राद्ध क्रिया के साथ- साथ स्तुति, नमस्कार गन्धपुष्पद्रव्य आदि से पूजन पद्धति भी प्रयोग में लाई जाती थी । पितर सन्तुष्ट होने पर प्रार्थी को लौकिक सुख सम्पत्ति, स्त्री , पुत्र पौत्रादिक तथा शरीर को अरोग्यता प्रदान करते थे । न केवल गृहस्थ मानवों द्वारा अपितु अरण्य वासी, सन्यासी, संयतात्मा ब्रह्मचारी, योगी, असुर तथा नागकुल के लोग भी उनको सन्तुष्ट करने का प्रयास करते थे । काणे महोदय के अनुसार [2] आदिम अवस्था के लोगों में पितरों की कल्पित कल्याण कारी और हानि प्रद शक्ति पर ही पितर पूजा या पूर्वज पूजा की प्रथा महत्त्वशाली हुई होगी । इस प्रकार पितर पूजा पूर्वज पूजा के रूप में प्राचीन प्रथा थी ।

<u>गौण देवता अग्नि-</u> जिन वैदिक देवों की प्रतिष्ठा पौराणिक युग में भी स्थापित थी उनमें अग्नि का नाम भी प्रमुख है। पौराणिक आख्यानों में अग्नि की प्रतिष्ठा तो दिग्दर्शित है परन्तु वे विष्णु, शिव, शक्ति , सूर्य आदि की अपेक्षा गौण स्थान रखते हैं । प्रस्तुत पुराण में शान्ति कृत

---

[1] मार्क० पुराण , 94/10

[2] काणे, धo शाo, पूर्वोक्त, पृष्ठ 1199

अनलस्तुति में जो विवरण प्राप्त होता है वह वैदिक परम्परा के ही अनुकूल है। अग्नि की सर्वप्रथम विशेषता यह है कि वे ही सभी देवों के प्राण है ।[1] वे ही समस्त देवों को वृत्ति प्रदान करते हैं । [2] वे ही यज्ञ के आधारस्वरूप है। अतः देवों के मुख भी कहे गये [3] इसी के अनुरूप वैदिक ग्रन्थों में भी अग्नि को देव मुख कहा गया है। जिससे देवगण हविष्य को खाते हैं ।[4] ये हवियों को देवों तक पहुँचा देते हैं और देवगण इनके बिना आनन्दित नहीं होते ।[5] वैदिक ग्रन्थों में इन्हें देवों का दूत भी कहा गया क्योंकि ये देवों को यज्ञ तक लाते हैं, इस प्रकार अग्नि देवों और मनुष्यों के मध्य मध्यस्थता कराते हैं ।

अग्नि की एक अन्य विशेषता जीवों को तृप्त व पुष्ट करना है । अग्नि में हवि हुत होकर जल रूप में परिणत होती है, जल से समस्त औषधियां उत्पन्न होती है और औषधियां से जीव तृप्त होते हैं [6] उन औषधियां से किये गये यज्ञ से देवता, दैत्य, राक्षस सभी आप्यायित होते है [7] अग्नि से उत्पन्न जल से पाचित होकर सभी प्राणी पुष्ट होते हैं ।[8]

---

[1] त्वत्प्राणाः सर्वदेवताः ।। मार्क०पुराण, 96/29

[2] ---नमः समस्त देवानां वृत्तिदाय सुवर्चसे|वही, 96/28

[3] ---त्वं मुखं सर्वदेवानां;---।। वही, 96/29

[4] वैदिक पुराकथाशास्त्र, पृष्ठ 170

[5] वही, पृष्ठ 182

[6] मार्क पुराण 96/ 30-31

[7] वही, 96/32-33

[8] वही, 96/36

इस रूप में अग्नि भूतपति भी है क्योंकि उनसे उत्पन्न औषधियों से प्राणी पुष्ट होते हैं ।

अग्नि का कौटुम्बिक जीवन से सम्बन्ध :

अग्नि से स्तुति करते हुये उनसे उसी प्रकार रक्षा की कामना की गई है जिस प्रकार पिता पुत्र की रक्षा करता है । [1] ऋग्वेद के अग्नि सूक्त में भी यह प्रार्थना की गई है कि जिस प्रकार पिता अपने पुत्र के लिये सुगम होता है उसी प्रकार अग्निदेव हमारे लिये सुगम व कल्याणकार बने ।[2] अधिकांशतः वैदिक ग्रन्थों में अग्नि को अपने स्तोताओं का पिता कहा गया है कभी-कभी उन्हें अपने आराधक का भ्राता भी कहा गया है ।[3] मैकडोनेल का विचार है कि इस प्रकार के वर्णन अग्नि के उस स्थिति के बोधक है जिनमें अग्नि का कौटुम्बिक जीवन से अधिक घनिष्ठ सम्बन्ध था। यज्ञ से अग्नि का सम्बन्ध अपेक्षाकृत कम था। वस्तुतः यज्ञ एक ऐसा माध्यम था जिससे अग्नि का मानुष्य-दैनिक जीवन से निकट रूप से सम्बन्ध स्थापित हुआ। गृह में निरन्तर अग्नि की उपस्थिती ने इन्हें किसी अन्य देवता की अपेक्षा अतीत से अधिक घनिष्ठ सम्बन्ध किया ।[4]

---

[1] तैः पाहि न स्तुतो देव पिता पुत्रमिवात्मजं ।
— मार्क० पुराण, 97/7

[2] ऋग्वेद,सं०, 10/7/3

[3] वैदिक पुराकथाशास्त्र, पृष्ठ 181

[4] वही, पृष्ठ 182

<u>सप्तजिहवायें और अग्नि:</u> प्रस्तुत पुराण में अग्नि की सात जिह्वाओं का उल्लेख है -§1§

1.	काली	-	जो कालनिष्ठाकरी है।
2.	कराली	-	
3.	मनोजवा	-	जो लघिमागुण युक्त है ।
4.	सुलोहिता	-	जो प्राणियों की कामनापूर्ति में सहायक है ।
5.	सुधूम्रवर्णा	-	जो प्राणियों का रोगदग्ध करती है ।
6.	स्फूलिंगनी	-	जिससे पुदगल यानि आत्मा और शरीर उत्पन्न होता है ।
7.	विश्वा	-	जो प्राणियों का मंगल करती है।

इस प्रकार उपरोक्त सात जिहवाओं के कारण अग्नि का 'सप्तहेति,' 'सप्तार्चि:' §2§ 'सप्तजिहव,' भी अभिधान है । ऋग्वेद में भी अग्नि को 'सप्तजिह्व' कहा गया है । वस्तुत: अग्नि की सात जिहवायें ही उनकी सप्त ज्वालाऐं हैं ।

<u>अग्नि देव का स्वरूप:</u> प्रस्तुत पुराण में यद्यपि अग्नि के स्वरूप की चर्चा नहीं है तथापि शान्ति कृत अग्नि स्तुति के विवेचन से अग्नि के स्वरूप पर प्रकाश पड़ता है जिसके अनुसार "अग्निदेव" के नेत्र पिंगलवर्ण के,

---

§1§ मार्क० पुराण, 96/ 52 से 58

§2§ मार्क॰ पुराण, 96/60

ग्रीवा लोहितवर्ण की तथा स्वयं अग्नि कृष्ण वर्ण के है (1) उनका रूप अचिन्त्य है मूर्ति मान होने पर जगत का नाश करने में समर्थ है। (2)

अग्नि पुराण में अग्नि को बकरे पर आसीन वर्णित किया गया है जो सात जिह्वाओं से लिपटे रहते हैं (3) जो हाथ में अक्षमाला व कमण्डलु धारण करते हैं।

अग्नि का त्रयी से सम्बन्ध : प्रस्तुत पुराण में अग्नि स्तवन में आख्यात है कि अग्नि को कविगण एक कहकर निर्देश करते हैं किन्तु वहीं फिर उन्हें त्रिविध कहते हैं। (4) वस्तुत: इस पौराणिक उक्ति में उस वैदिक धारणा का सन्निवेश माना जा सकता है जिसके अनुसार अग्नि की प्रकृति त्रिगुणात्मक मानी गयी। वैदिक साहित्य में अग्नि को अनेक अर्थों में तीन की संख्या से स्पष्टत: व्यक्त करते हुये कहा गया (5) कि यह "त्रिगुणात्मक प्रकाश है, "देवों ने इन्हें त्रिगुणात्मक रूप में बनाया। अन्यत्र अग्नि के तीन सिर, तीन जिह्वा, तीन शरीर, तीन स्थान का उल्लेख है (6) अन्यत्र उनके आवास का क्रम आकाश, पृथ्वी व जल बताते

---

(1) पिंगाक्ष लोहितग्रीव कृष्णवर्त्म हुताशन ।।
— मार्क. पुराण, 96/59

(2) मार्क. पुराण, 96. 62

(3) अग्नि पु०, 69/27

(4) त्वामेकमाहु: कवयस्त्वामाहुस्त्रिविध: पुन: ।।
— मार्क० पुराण, 96/40

(5) वैदिक पुराकथाशास्त्र, पृष्ठ 176

(6) वही, पृष्ठ 177-178

हुये तीन रूपों का उल्लेख है । मैकडोनेल के विचार में ऋग्वेद में स्वीकृत अग्नि की इस त्रिगुणात्मक प्रकृति का उत्तरकालीन रूप सूर्य, वायु, अग्नि की त्रयी की कल्पना थी [1] और आगे चलकर हिन्दू साहित्य में अग्नि के तीन रूपों के प्रतिनिधि के रूप में तीन अग्नियां थी-गार्हपत्य, आहवनीय और दक्षिणाग्नि [2] ।

अग्नि-स्तोताओं के उपकारक के रूप में :- अग्नि स्तोताओं के उपकारक भी है । स्तोत्र द्वारा उनकी स्तुति करने पर अग्नि स्तोता की समस्त कामना को पूर्ण कर देते हैं [3] और पुण्यसंचय कराते हैं । यज्ञ में, तीर्थ यज्ञ में, होम कार्य में स्तोत्रपाठ करने पर सन्तुष्ट होकर वे स्तोता के समस्त पापों को नष्ट कर देते है । [4] होमकाल के बीत जाने पर या अनधिकारी मनुष्य के होमादि करने पर जो दोष होता है वह भी अग्नि की स्तुति से प्रशमित हो जाता है ।[5] प्रसन्न होने पर अग्नि अपने स्तोता की ऐहिक महाभय और पापों से रक्षा करते हैं ।

---

(1) वैदिक पुराकथाशास्त्र, पृष्ठ 177-178

(2) मार्क० पुराण, 58/65

(3) मार्क० पुराण, 97/14

(4) मार्क० पुराण, 97/16

(5) मार्क० पुराण, 97/18

वैदिक ग्रन्थों में भी अग्नि प्रमुख देवताओं में परिगणित होने के कारण उपकारी देव के रूप में वर्णित है। वैदिक काल में भी यह धारणा प्रचलित थी कि अग्नि देव अपने स्तोताओं की रक्षा करते हैं, दुष्टों पर प्रहार करते हैं, ये समृद्धि प्रदान करते हैं। कौटुम्बिक कल्याण, सन्तान और सम्पत्ति प्रदान करने के लिये उनकी स्तुति की जाती थी । [1]

अग्नि का हव्यवाहक और कव्यावाहक रूप- यज्ञ में दी गई आहूतियों को अग्नि देवताओं तक पहुचाते हैं इस लिये हव्यवाह भी अग्नि की उपाधि है। वेदों मे प्राय: वर्णन है कि अग्नि हवि को देवों के पास पहुँचाते हैं, देवों को यज्ञ तक लाते हैं । तैत्तरीय संहिता में तीन प्रकार की अग्नियां वर्णित है -

1. देवों की अग्नि, जो हविवाहक है अर्थात हव्यवाहन
2. पितरों की अग्नि जो अन्त्येष्टि हवि वहन करती है अर्थात कव्यवाहन ।
3- असुरों की अग्नि, जो राक्षसों से सम्बद्ध है अर्थात सहरक्षस् [2]

अग्नि के इन्हीं हव्यवाहक और कव्यवाहक रूप को प्रस्तुत करने के लिये प्रस्तुत पुराण में अग्नि को देवताओं का प्राण, देवों का मुख, देवताओं को वृत्ति देने वाले, देवों व राक्षसों को भी तृप्त करने वाले देव

---

[1] वैदिक पुराकथाशास्त्र, पृष्ठ 185

[2] वैदिक पुराकथाशास्त्र, पृष्ठ 184

के रूप में प्रतिष्ठित किया गया है । ब्राह्मणों के द्वारा यज्ञ में स्वाहा व स्वधा उच्चारण से दी गई हव्य कव्य आहूतियां अग्नि के माध्यम से देवों व पितरों तक पहुचती हैं इसी लिये अग्नि को 'हव्यवाहक' तथा 'कव्यवाहक' भी कहते हैं ।

अग्नि के लिये प्रस्तुत पुराण में आख्यात है कि अग्नि ही देवों सिद्धों, नागों, मानवों, वृक्षों, जलों मे अवस्थित रहते हैं पर इन भिन्न-भिन्न वस्तुओं और प्राणियों में उनका रूप अलग अलग होता है ।[1] जैसे

देवों में अग्नि तेज रूप से विद्यमान है ।

सिद्धों में	अग्नि	कान्ति रूप से
नागों में	,,	विष रूप से
पक्षियों में	,,	वायु रूप से
मनुष्यों मे	,,	क्रोध रूप से
पक्षियों में	,,	मोहरूप से
वृक्षों में	,,	स्थिति रूप से
प्रथ्वी में	,,	काठिन्यरूप से
जल में	अग्नि	द्रवत्व रूप से
वायु में	,,	वेग रूप से
आकाश में	,,	व्याप्ति रूप से स्थित रहते हैं ।

---

[1] मार्क पुराण, 96/37 - 39

वस्तुत: उपरोक्त वर्णन शैली गीता की उस वर्णन शैली के समानान्तर मानी जा सकती है जिसमें [1] श्री कृष्ण अपने को आदित्यों में विष्णु, नक्षत्रों में राशि, वस्तुओं में अग्नि सेनापतियों में स्कन्द, वृक्षों में अश्वत्थ आदि व्यक्त करते हैं ।

अग्नि उज्जवलता :- प्रस्तुत पुराण में अग्नि ज्योतिस्वरूप आदित्य, सूर्य [2] तथा हिरण्य के समान कान्ति युक्त [3] कहे गये हैं जो अग्नि की उज्जवलता का द्योतक है। वैदिक ग्रन्थों में भी उन्हें अद्भुत प्रकाश वाला, प्रदीप्त ज्वालावाला, उज्जवल ज्वालायुक्त वर्णित किया गया है [4]

अग्नि की उज्जवलता कभी-2 भयंकर होने के कारण अग्नि रौद्र देव भी माने गये । वे ज्वालामाला संयुक्त है, इनकी काली और कराली नामक जिह्वा भी उनके भीम रूप की द्योतक है। उनका रूप अत्यन्त तीव्र है और अपने भीम रूप से अशेष लोक का नाश करने में भी समर्थ है । [5] उनकी अग्निशिखा समस्त भूतो को दग्धकर देती है । [6] इस प्रकार अग्नि भयंकर देव भी है लेकिन मूर्ति- मान होने पर उनका सौम्य रूप भी प्रकट होता है और उस रूप में वे समृद्धि सम्पन्न, आश्रय और अचिन्त्य अक्षय, अव्यय रूप से अवस्थित रहते हैं । सम्पूर्ण वस्तुओं

---

[1] गीता, दशम अध्याय

[2] त्वंज्योति: सर्व भूतेषु त्वमादित्यों विभावसु:)- मार्क पुराण, 96/48

[3] त्वंज्योति: हिरण्य सद्दशप्रभ: । मार्क० पुराण, 96/49

[4] वैदिक पुराकथा शास्त्र, पृष्ठ 170

[5] .... दुष्प्रसहोऽति तीव्र: ।
तवाव्ययं भीममशेषलोक संवर्धकं हन्त्यथवातिवीर्यम् ।। मार्क· पुराण, 96/62

को स्पर्श मात्र से पवित्र करने के कारण 'शुचि' भी उनका अभिधान है ।

इस प्रकार स्पष्ट है कि पौराणिक आख्यानों में अग्नि देव रूप में तो प्रतिष्ठित थे और उनके वर्णन वैदिक परम्पराओं के अनुरूप ही है लेकिन प्रस्तुत पुराण ने अग्नि को बहुत अधिक महत्ता प्रदान नहीं की प्रत्युत वे केवल यज्ञ के आह्वनीय देव के रूप में स्तुत्य माने गये ।

कुल देवता और लोकदेवियाँ प्राचीन काल से ही लोक में प्रचलित धर्म, विश्वास, परम्परायें संस्कृति की सर्वांहिका बनी रही इसी परिप्रेक्ष्य में प्राचीन भारतीय पौराणिक धर्म के आलोक में लोकदेवियों व कुल देवों की मान्यताओं से साहित्य भी अछूता नहीं रहा । मार्क० पुराण में ही अनेक स्थानों पर प्रचलित लोकदेवियों, देवों, उनसे सम्बन्धित विश्वासों-मान्यताओं आदि की झलक मिल जाती है जिससे यह प्रतिपादित होता है कि भारतीय लोक-संस्कृति की अजस्त्र धारा में जातहारिणी , बीजापहारिणी, लक्ष्मी, कलहा, दुःसह आदि लोक देव देवियों की मान्यता प्रचलित थी जिनमें मार्क॰पुराण के विवरण के आधार पर इनके जो विवरण उपलब्ध होते हैं वह इस प्रकार हैं:-

§1§ जातहारिणी- यह बालपहारिणी थी जो 'पिशिताशना' कही गई है [1] यह अत्यन्त घोरस्वरूपा है जो सूतिकागृह से बालकों का हरण कर तत्कालोत्पन्न अन्य बालकों को उस स्थान पर रख देती है ।[2] इस लिये सूतिकागृह में इसकी पुष्टि हेतु सदैव अग्नि, जल, धूप, दीप, शस्त्र, मुसल, भस्म और सरसों होना चाहिये ।

यहां पर वासुदेवशरण अग्रवाल का मन्तव्य उल्लेखनीय है । उनके अनुसार जातहारिणी की समानता बौद्धों की देवी हारीति से की जा सकती है। हारीति बौद्धों की देवी थी । न केवल बौद्धों ने अपितु ब्राहमणों ने उसे अपना लिया। अग्रवाल महोदय के अनुसार राजगृह के चारो ओर पहले आदिम निवासियों की बस्ती थी उन्हीं के बीच में माँस और शोणित का भोजन करने वाली कोई

---

§1§ सा जातहारिणी नाम सुघोरा पिशिताशना ।। मार्क० पुराण,48/9
§2§ मार्क० पुराण, 48/8

गृह देवी पूजी जाती थी उसी को जरा राक्षसी कहा गया। वे ही बौद्धों में हारीति देवी के नाम से लब्ध प्रतिष्ठित थी उन्हें ही जातहारिणी कहा गया । यह गर्भस्थ शिशु या नवजात शिशु की भक्षक थी लेकिन बाद में वह बच्चों की अधिष्ठात्री रक्षिका देवी बन गई जिनकी पूजा सर्वत्र प्रचलित थी ।

चन्द्रमा प्रस्तुत पुराण में यह आख्यात है कि क्षुद्रक सस्य हन्ता का पुत्र था । यह छिद्र पाते ही सस्य वृद्धि की हानि करता है । यह अंमगल का आरंभ करके मंगल को वर्ज देता है। इसके लिये यह उपाय वर्णित है कि अच्छे पवित्र दिन में चन्द्रमा की पूजा करके कृषिकार्य और बीजवपन करना चाहिये।[1]

कूष्माण्ड, यातुधान आदिगण, इनकी पूजा शान्ति के लिये करनी चाहिये[2]

कलहा- यह मनुष्यों को घर में सदैव कलह कराती है । इसे कुटुम्ब के नाश का कारण कहा गया है ।[3] इसकी शान्ति के लिये दूब के अंकुर, मधु, दुग्ध और बलि पूर्वक हवन करने का वर्णन प्राप्त होता है [4]

गणसंशित मार्क॰ पुराण के लोक मान्यताओं व विश्वासों के गणसंशितदेव प्रसंग में वर्णन है कि समस्त पुण्य कार्यों में, गुरू व देवता की पूजा में, जप यज्ञादि

---

[1] तस्मात्कल्पः सुप्रशस्ते दिनेऽभ्यर्च्य निशाकरम् ।
कुर्यादारम्भमुप्तिं च हृष्टस्तुष्टः सहायवान् ।। मार्क॰पुराण,48/84-85

[2] वही, 48/56

[3] कुटुम्ब नाश हेतुः .... । वही, 48/53

[4] वही, 48/53-54

कर्तव्य अनुष्ठान में, चौदह यात्रा में, शारीरिक आरोग्यता में, सुख, दान, धन आदि के सम्बन्ध में विघ्नों के कारणों, दुष्कृतों, महापातकों को नष्ट करने के लिये कूष्माण्ड, यातुधान तथा गण संज्ञा वाले देव की पूजा करनी चाहिये [1]

यहां पर गण संज्ञा से तात्पर्य गणेश से प्रतिपादित किया जा सकता है जिसकी पूजा आज सर्वत्र विवाहादि समस्त शुभ कार्यों में होती है । इस प्रकार मार्कण्डेयपुराण के सन्दर्भित स्थल गणेश पूजा के संकेतक माने जा सकते हैं । यद्यपि उन्हें देव पद प्रदान करने का कोई संकेत नहीं है ।

वर्णन क्रम में ही प्रस्तुत पुराण में यह आख्यात है कि ग्रह शान्ति के लिये किये गये हवन में यह स्तुति करना चाहिये कि विद्या, तप, संयम, यश, कृषि, व्यापार लाभ में वे रक्षा प्रदान करें [2] तथा महेश्वर व महादेव के अनुग्रह से समस्त मनुष्यों के प्रति शीघ्र सन्तुष्ट हों [3] तथा विघ्नों के कारणों का विनाश करें ।[4]

इस प्रकार उपरोक्त वर्णन से यह संकेतित होता है कि सम्भवतः तत्कालीन लोक में विघ्न विनाशक, शान्ति स्थापक, सन्तुष्टि प्रदायक लोक-देव की पूजा प्रचलित थी उसी का परवर्ती कालीन रूप "गणेश" नाम से प्रसिद्ध हुआ ।

---

[1] ...... ये चान्ये गणसंज्ञिताः ।। .....।। मार्क पुराण 48/56 तथा वही, 48/ .55 से 62

[2] विद्यानां तपसां चैव संयमस्य यमस्यच ।
कृष्यां वाणिज्यलाभे च शांतिं कुर्वन्तु मे सदा ।। वही, 48/55

[3] महादेव प्रसादेन महेश्वरमतेन च ।
.... वही, 48/57

[4] .... महापातकजं सर्वं यच्चान्यद्विघ्नकारणम् ।। वही, 48/58

स्वयंहारिणी- जो घर के अन्न, गऊ, घृत, तथा अन्य द्रव्यादि की हानि करके ऋद्धि और सिद्धि को हरण करती है । ﴾1﴿ ये ही फूलों का राग तथा कपास का सूत्र भी हरण करती है ।﴾2﴿ इस लिये इसका नाम स्वयंहारिका है। इसकी शान्ति के लिये प्रस्तुत पुराणानुसार गृह में एक स्त्री और दो मोरों के चित्र लिखने चाहिये वह चित्र सदैव चमकने चाहिये ।﴾3﴿ साथ ही साथ देवताओं के लिये धूपार्पित करने, व हवन करने की युक्ति भी वर्णित है ।

उपरोक्त सन्दर्भ में दो मोरों व एक स्त्री के चित्रों को गृह के द्वार पर अंकित करने की परम्परा का सम्बन्ध आधुनिक अहोई देवी की पूजा से जोड़ा जा सकता है आज भी कार्तिक महीने में कृष्णपक्ष की सप्तमी तिथि को अहोई देवी का चित्र लिख कर उनकी पूजा की जाती है । सम्भवतः प्रारम्भ में छोटी-2 अनेक लोक देवियां थी जो प्रारम्भ में घोररूपा थी लेकिन उनका समाहार आगे चलकर एक देवी में हो गया वे ही षष्ठी देवी या जातहारिणी या हारीति के रूप में लोक में पूजित हुई ।

﴾1﴿ मार्क० पुराण 48/31-34

﴾2﴿ वही, 48/36

﴾3﴿ कुर्याच्छिखण्डिनोर्द्वन्द्वं रक्षार्थं कृत्रिमां स्त्रियम् ।
रक्षाश्चैव गृहे लेख्या वर्ण्या चोहिछष्टता तथा ।।
वही, 48/37

अध्याय-7

नैतिक धर्म-

§क§ हरिश्चन्द्र उपाख्यान और सत्य धर्म की प्रतिष्ठा

§ख§ गृहस्थ धर्म का महत्त्व

§ग§ निष्काम कर्म का धर्म

§घ§ नारी धर्म

§ड़• §अतिथि सत्कार

§च§ सदाचार का महत्त्व

§छ§ गुरू के प्रति कर्त्तव्य

§ज§ अन्य सद्धर्म आचरण

§झ§ सदाचरण का निषेधात्मक पक्ष

अध्याय-7

नैतिक धर्म -

धर्म अपने व्यापक अर्थ में किसी भी समाज, राष्ट्र या युग का इतिहास और वहां के जीवन की भूमिका को प्रस्तुत करने में समर्थ होता है। धर्म शब्द से प्रायः अभिप्राय सम्प्रदायात्मक धर्म से समझा जाता है जिसके अन्तर्गत विविध देव-पूजा को मान्यता प्राप्त होती है, जैसे हिन्दु धर्म - उसके भी अन्तर्गत वैष्णव धर्म, शैव धर्म, शाक्त धर्म, सौर धर्म, ब्राह्म धर्म आदि । मार्क॰पुराण में शाक्त, ब्राहम, सौर धर्म के साथ-2 विष्णु के अवतारों, पाञ्चरात्र धर्म, धार्मिक पूजा- विधियों, परम्पराओं का विवरण प्राप्त होता है, जिसका विशद विवेचन पूर्व के अध्यायों में किया गया है।

लेकिन धर्म शब्द का एक व्यापक अर्थ भी है जिसके अनुसार धर्म जीवन का मूलाधार है। संयम, आचार, शिष्टाचार, नैतिकता, कर्म और कर्त्तव्य उस धर्म के अंग है, जिनके पालन से कोई भी समाज संस्कार-मय बन सकता है। म. म. श्री काणे ने धर्म का अर्थ (1) वर्ण धर्म (2) आश्रम धर्म (3) वर्णाश्रम धर्म (4) नैमित्तिक धर्म और (5) गुण धर्म से माना है । (1) जिसे मनुस्मृति के व्याख्याता मेधातिथि ने भी स्वीकारा है। मनु ने सत्य, संयम, अक्रोध आदि गुणों को धर्म के लक्षण माना तो उनके सामने धर्म से तात्पर्य जीवन के नैतिक नियमों से ही था ।

---

(1) काणे, पी0वी0, धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग-1 पृष्ठ 4

बाल्मीकि के लिये चरित्र और धर्म पर्यायवाची है ।[1] किसी भी समाज की प्रगति, उत्थान और अभ्युदय के लिये धर्म की इसी अर्थ में भूमिका निर्णायक मानी जाती है। अत: धर्म के इस व्यापक अर्थ की उपेक्षा रिलिजस डाटा प्रस्तुत करते समय नहीं की जा सकती । मार्क० पुराण यद्यपि कोई नीतिग्रन्थ नहीं तथापि उनमें वर्णित आख्यानों के आचार सम्बन्धी विवरण एक आदर्श समाज की कल्पना और एक उदात्त धर्म के प्रस्तुतीकरण में सक्षम है जिनमें से कतिपय विवरण इस प्रकार है:-

हरिश्चन्द्र उपाख्यान और सत्य धर्म की प्रतिष्ठा- मार्क० पुराण के 8वें अध्याय के 270 श्लोकों में निबद्ध हरिश्चन्द्र उपाख्यान भारतीय साहित्य की अद्भुत कृति है "जिसकी कथा का धरातल अत्यन्त उदात्त है और इसके द्वारा मानव के मन की दृढ़ शक्ति का नया परिचय दिया गया है"।[2] यद्यपि हरिश्चन्द्र की कथा ऐतरेय ब्राहमण, महाभारत[3] देवी भागवत,[4] स्कन्द पुराण[5]

---

[1] दृष्टव्य, -अग्रवाल , वा.श., धर्म का वास्तविक अर्थ "नामक लेख पृष्ठ -4

[2] दृष्टव्य -अग्रवाल, वा.श., मार्क पुराण, एक सांस्कृतिक अध्ययन, पृष्ठ 53- 54

[3] महाभारत, - सभापर्व, 11/48-61 से उद्धृत

[4] देवी-भागवत पु, 7/ 14-27

[5] स्कन्द पु० , नागर खण्ड

आदि में भी उपलब्ध होती है लेकिन वैदिक कालीन मिथ्यावादी हरिश्चन्द्र [1] मार्क० पुराण के सत्यवादी हरिश्चन्द्र बन गये जो यज्ञ की अपेक्षा सत्य को महद् धर्म मानते थे। पुराणकार के शब्दों में "अपने सत्य का पालन करने में जैसा धर्म होता है वैसा अन्य किसी में नहीं होता, जिसका वचन असत्य होता है उसके यज्ञ, वेदादि का पढ़ना और दानादि सभी कार्य विफल होते हैं। [2] पुराणकार राजा कृति का उदाहरण देता है जो सात अश्वमेध यज्ञ व एक राजसूय यज्ञ करके भी एक बार असत्य भाषण करने से स्वर्ग से भ्रष्ट हुये थे। कर्मविपाक के सन्दर्भ में भी पुराण में असत्यभाषी को नरकगामी बताया गया है। [3]

---

(1) शुनः शेप कथा के हरिश्चन्द्र जिनके लिये द्रष्टव्य मार्क. पुराण एक सांस्कृतिक अध्ययन,

(2) नातः परतरं धर्मं वदन्ति पुरुषस्यतु ।।
यादृशं पुरुष व्याघ्र स्व सत्यं परिपालनम् ।। 18
अग्निहोत्रमधीतं वा दानाद्याश्चाखिलाः क्रियाः ।।
भजन्ते तस्य वैफल्यं यस्य वाक्यमकारणम् ।। 19 ।।
— मार्क० पुराण, 8/18-19

(3) मार्क० पुराण, 10/81

हरिश्चन्द्र आख्यान में आख्यात है कि सूर्य केवल सत्य की ही सहायता से ही ताप देते हैं ।[1] वर्णन क्रम में ही सत्य धर्म को सहस्त्रों अश्वमेघ यज्ञों के फल की अपेक्षा अधिक फलदायी कहा गया है ।[2] तथा विश्वामित्र स्वर्ग को एक मात्र सत्य में ही प्रतिष्ठित कहते हैं ।[3] इस प्रकार सत्य ही एक मात्र धर्म है ।[4]

सत्य धर्म की महिमा अत्यन्त प्राचीन काल से स्वीकृत है । मनुस्मृति, योग सूत्र, महाभारत, पुराण सभी ग्रन्थों में सत्य की ही प्रतिष्ठा दिग्दर्शित है यहाँ तक कि योग में भी यमनियम के अन्तर्गत सत्य के पालन पर बल दिया गया । भागवत पुराण में सत्य का आचरण सभी वर्णों द्वारा अपेक्षित होने के कारण इसे सार्ववर्णिक धर्म कहा गया ।[5] वामनपुराण में भी धर्म के दस अंगो में सत्य की गणना की गई ।[6] कूर्म पुराण में भी एतद्विषयक समान परम्परा का निर्वाह हुआ है ।[7]

---

[1] सत्येनार्कः प्रतपति सत्ये तिष्ठति मेदिनी ॥ - मार्क०पुराण, 8/41

[2] अश्वमेघसहस्त्रं च सत्यं च तुलया धृतम् ॥
अश्वमेघसहस्त्राद्धि सत्यमेव विशिष्यते ॥ -वहीं, 8/42,

[3] ---स्वर्गः सत्ये प्रतिष्ठितः ॥ - वहीं, 8/41

[4] सत्यं चोक्तं परो धर्मः --- ॥ - वहीं, 8/41

[5] भागवत पु०, 11/17/2

[6] वामन पु० 14/1-2

[7] कूर्म पु०, 2/13-15

गृहस्थ धर्म का महत्त्व: समाज में जब बौद्ध और जैन धर्म के प्रभाव से भिक्षु, मुनि, श्रमण विचारों के अनुपालकों आदि की संख्या बढ़ने लगी और वे गृही के कर्तव्यों से विमुख होकर निर्वाण और मुक्ति के नाम पर क्रियाविहीन, आश्रमविहीन, मुनिव्रतधारी जीवन व्यतीत करने लगे, मिथ्या त्याग और प्रव्ज्या के पाखण्ड ने समाज में विघटनकारी तत्वों को प्रश्रय दिया, तब पुराणकार ने गृहस्थ धर्म की श्रेष्ठता प्रतिपादित कर चारित्रिक पतन रोकने का प्रयास किया, जिसका स्पष्ट प्रमाण पुराण वर्णित "रूचि आख्यान" है [1] जिसमें ममता रहित, अहंकार रहित अनिकेती, विमुक्त संगी मुनि रूप में विचरण करने वाले रूचि को पितरों ने गृहस्थ आश्रम के महत्व को बताया। प्रस्तुत आख्यान के पितामह रूचि बौद्ध श्रमणों की विचाराधारा के अनुपालक प्रतीत होते हैं जो अग्नि- हीन मुनिवृतचारी, गृहहीन विचरण करते थे [2] जिनका यह अभिमत था विवाह अत्यन्त दु:खद है और पाप का कारण स्वरूप है, विवाह कभी भी मुक्ति का कारण नहीं हो सकता। [3] यही विचार बौद्धों के भी थे। वे भी गृहत्याग, मुनिवृतचारी, अनिकेती, विमुक्तसंगी व्यक्ति

[1] मार्क० पुराण, अध्याय 92

[2] अनग्निमनिकेतं तमेकाहारमनाश्रमम् ।।
विमुक्त-संगं तं दृष्ट्वा प्रोचुस्तत्पितरो मुनिम् ।। वही, 12/2

[3] परिग्रहोऽतिदु:खाय पापायाधोगतेस्तथा ।।
भवत्यतो मया पूर्वं न कृतो दारसंग्रह: ।।
आत्मन: संयमो योऽयं क्रियते ऽक्षानित्यन्त्रणात् ।।
स मुक्तिहेतुर्न भवत्यसावपि परिग्रहात् ।। वही, 12/ 9- 10

को निर्वाण का अधिकारी मानते थे । लेकिन पुराण कार ने मुक्ति व भुक्ति दोनों की श्रेष्ठता प्रतिपादित की और पितरों द्वारा रूचि को उपादिष्ट धर्म के माध्यम से प्रवज्या के पाखण्ड को अनर्थकारी सिद्ध किया। रूचि के प्रति पितरों का कहना था "विवाह ही स्वर्ग और मुक्ति का कारण है ------ । बिना पुत्र तथा पितरों का तर्पण किये बिना कोई भी व्यक्ति सद्गति नहीं प्राप्त कर सकता । जो समस्त कार्य कर्तव्य किये बिना ही मुक्ति के लिये संयम करते हैं वे अन्तकाल में अधोगति प्राप्त करते हैं"(1) वस्तुतः यह तथ्य बौद्धों के निर्वाण की एवं प्रवज्या की भावना पर सीधा प्रहार था जिसके माध्यम से हिन्दू व्यवस्थाकारों ने मोक्ष या निर्वाण प्राप्ति के साधनों में संशोधन करते हुये उसे कर्म और कर्तव्य धर्म से जोड़ने का प्रयास किया तथा समाज और परिवार के प्रति कर्तव्य शील व्यक्ति को सबसे सुखी व सफल व्यक्ति माना। पुराणकार की यह स्पष्ट उक्ति है कि " यह सत्य है कि वेदों में कर्म मार्ग को अविधा ? कहा गया है लेकिन कर्म विद्या प्राप्ति का हेतु भी है।(2)यह पुराणों का समाज के अभ्युदय के लिये कर्तव्य धर्म के पालन का आहवान का उद्घोष था।

---

(1) स्वर्गापवर्ग हेतु स्वाद ---- मार्क० पुराण, 92/3,
अनुत्पाद्य सुतान्देवानसन्तर्प्य पितृंस्तथा ।।
भूतादींश्च कथं मौढ्यात्सुगतिं गन्तुमिच्छसि ।। वही, 92/1
विहिताकरणात्युभिरस दिभः क्रियतें तु यः ।।
संयमों मुक्तये नासौ प्रत्युताऽधोगति प्रदः ।। - वही, 92/20

(2) अविद्या सत्यमेतत्कर्म नैतन्मृषाक्य: ।।
किन्तु विद्या परिप्राप्तौ हेतु कर्म न संशय: ।। वही, 12/19

निष्काम कर्म का धर्म -   पुराण कार ने कर्म और कर्तव्य की भावना के अनुपालन में गीता के निष्काम कर्म को भी स्वीकार किया है [1] गीता का "निष्काम कर्म" प्रस्तुत पुराण में "करूणात्मक कर्म" इस नये शब्द से व्याख्यापित हुआ है। पुराण में यह कहा गया है कि "करूणा से प्रेरित कर्म" जिसमें अभिसंधान अर्थात कपट का लेश न हो, बंधन के लिये नहीं होता वह तो उदात्त कर्म है [2] स्पष्ट है कि कर्म का उद्देश्य निजी स्वार्थ पूर्ति न होकर निष्काम हो, तभी मोक्ष का मार्ग साधित होता है। निष्काम कर्म बन्धन का कारण नहीं होता है।

नारी धर्म :   गृहस्थ धर्म के प्रतिपादन के साथ-साथ प्रस्तुत पुराण में नारी के महत्त्व को भी स्पष्ट करते हुये उसको धार्मिक क्रियाओं के सम्पादन में सहभागिता आवश्यक बताकर नारी को समाज में महनीय स्थान दिलाने का प्रयास किया। [3] बौद्ध धर्म की यह धारणा थी कि

---

(1) काणे, पी0वी0, पूर्वोक्त, पृष्ठ 467

(2) एवं न बन्धो भवति कुर्वत: करूणात्मक : ।।
न च बन्धाय तत्कर्म भवत्यभिसन्धितै : ।।- मार्क०पुराण, 92/15
समान भाव वाले गीता के निम्न श्लोक इस प्रकार है-

न मांकर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा ।।
इतिमां योऽभिजानाति कर्मभिर्न स बध्यते ।। - गीता, 4/14

(3) मेरा "पौराणिक काल में स्त्रीदशा" नामक लेख, हिन्दुस्तानी पत्रिका, पृष्ठ 29

नारी मोक्ष प्राप्ति में एक बड़ी बाधा है इस लिये मोक्षाभिलाषी को विवाह त्याग जरूरी है स्वयं बुद्ध ने मोक्ष व ज्ञान की प्राप्ति हेतु सोती हुई पत्नी और पुत्र को छोड़कर गृहत्याग किया था। लेकिन पुराणकार ने बौद्धों की इन मान्यताओं को अस्वीकार करते हुये नारी को मोक्ष प्राप्ति में सहायिका माना, उनके अनुसार धर्म पूर्वक समिधा देकर वरण किये जाने के कारण नारी अत्याजनीय और प्रशंसनीय है।[1] पत्नी ही धर्म का कारण है, पत्नी के बिना कोई गृहस्थ धार्मिक क्रिया करके सुखी नहीं हो सकता [2] पत्नी के बिना व्यक्ति के नित्य धार्मिक क्रियाओं की हानि होती है जिससे वह कभी भी सद्गति प्राप्त नहीं कर सकता ।

पुराणकार ने सामान्य धर्म का उपदेश नारी को भी दिया उसकी दृष्टि में नारी का प्रधान धर्म पतिव्रताधर्म है जिसके प्रताप से वे अभिलषित पदार्थ प्राप्त कर सकती है। पुराणकार उनके लिये अलग से यज्ञ, श्राद्ध, उपवास आदि का विधान नहीं बताता ।[3] उनके अनुसार भर्ता ही नारी का एक मात्र देवता है और उसी के प्रसाद से स्त्रियां इस लोक व परलोक में सुख भोगती है ।[4] इस लिये पति शुश्रूषा ही उनका महत् धर्म है ।

---

(1) मार्क पुराण, 66/38-42

(2) वही, 68/9-10

(3) वही, 17/61.62

(4) वही, 16/68

<u>अतिथि सत्कार</u> – मार्क. पुराण में अतिथि सत्कार को गृहस्थ का पुनीत कर्तव्य माना गया। तदनुसार गृही को अतिथि के आने पर अपनी सामर्थ्यानुसार जल अन्नादि द्वारा उसकी पूजा करनी चाहिये [1]। अतिथि की परिभाषा प्रस्तुत करते हुए प्रस्तुत पुराण में वर्णन है कि "जिस पुरुष का कुल नाम ज्ञात न हो, जो तत्काल आया हो, जिसे वास्तविक आहार की अभिलाषा हो, जो थका हो, जिसके पास कुछ नहीं हो, ऐसे ब्राह्मण को अतिथि कहते हैं।[2] ऐसे ही अतिथि की सामर्थ्यानुसार पूजा करनी चाहिये। मनुस्मृति में अतिथि की परिभाषा" न विद्यते तिथिर्यस्य सः" के रूप में परिभाषित है.।[3]

अतिथि को तृप्त करने की परम्परा भारतीय संस्कृति की अजस्त्र धारा से जुड़ी है जिसका उल्लेख अनेकशः धर्मशास्त्रों, पुराणों आदि में आया है। मार्कण्डेय पुराण में यह वर्णन है कि जो व्यक्ति अतिथि को स्वयं भोजन दिये बिना भोजन करता है वह पाप का भागी होता है।[4] अतिथि जिसके घर से निराश होकर लौटता है, वह उसका पुण्य लेकर अपना पाप उसे दे जाता है।[5] मार्क. पुराण के इस प्रकार के

---

[1] [illegible] ।
सम्पूजयेत् यथाशक्ति गंधपुष्पादिभिस्तथा ।। मार्क. पुराण, 26/27
तथा–सायंप्रातश्च भोक्तव्यं कृत्वा चातिथि पूजनम् ।। वही, 31/50

[2] अज्ञात कुल नामानं तत्कालसमुपस्थितम् ।।
बुभुक्षुमागतं याचमानमकिंचन ।
ब्राह्मणं प्राहुरतिथिं स पूज्यः शक्तितो बुधैः । – वही, 26/28-29

[3] मनुस्मृति, 3/102

[4] तस्यादत्त्वा तु यो भुंक्ते स्वयं किल्विषभुङ् नरः ।
सः पापं केवलं भुंक्ते पुरीषं चान्य जन्मनि ।। मार्क. पुराण, 26/32

[5] अतिथिर्यस्य भग्नाशो गृहात्प्रति निवर्तते ।
स दत्त्वा दुष्कृतं तस्मै पुण्यमादाय गच्छति ।।–वही, 26/33

विवरण मनुस्मृति, उपनिषद आदि के विचारों के ही अनुकूल हैं । मनु ने भी घर पर आये हुये अतिथि के लिये आसन, पैर धोने के लिये जल, सामर्थ्यानुसार अन्न आदि से सत्कार करने की बात कही है ।(1) उनके ही अनुसार असन्तुष्ट अतिथि हव्य - कव्य सभी से प्राप्त पुण्यों को हर लेता है ।(2) कठोपनिषद में अतिथि सत्कार का एक आदर्श कथानक नाचिकेतोपाख्यान है जिसके अनुसार अतिथि वैश्वानर के समान घर में प्रवेश करता है जिसका आतिथ्य आवश्यक है क्योंकि अपूजित अतिथि उस व्यक्ति की समस्त इष्टापूर्त, आदि से उत्पन्न फल को तथा समस्त पुत्र और पशु को नष्ट कर देता है । (3) पंचमहायज्ञों में नृयज्ञ का सम्बन्ध अतिथि पूजन से ही था । अतिथि का सादर व सत्कार करने वाला व्यक्ति श्लाघनीय माना जाता था । मनु के अनुसार अतिथि का पूजन करने से व्यक्ति को धन, आयु, यश और स्वर्ग मिलता है (4) मार्कण्डेय पुराण में भी यह प्रोक्त है कि अतिथि की तृप्ति साधित होने पर गृही अतिथि यज्ञ के ऋण से मुक्ति पाता है (5) स्पष्ट है कि प्राचीन काल से ही निर्गत भारतीय संस्कृति की अतिथि-सेवा की उदात्त भावना से प्रस्तुत पुराण अछूता नहीं रह सका ।

---

(1) मनुस्मृति, 3/99

(2) वही, 3/100

(3) वैश्वानरः प्रविशत्यतिथि ब्राह्मणो गृहान् ।
तस्यैतांशान्ति कुर्वन्ति हर वैवस्वतोदकम् ।।
आशाप्रतीक्षे संगतां च इष्टापूर्ते पुत्रपशूंश्च सर्वान् ।
एतद्वृङ्क्ते पुरुषस्याल्पमेधसो यस्यानश्नन्वसति ब्राह्मणो गेहे ।।
कठो० उप०, प्रथम अध्याय, प्रथम वल्ली, 78वां श्लोक ।

(4) धन्यं यशस्यमायुष्यं स्वर्ग्यं वाऽतिथि पूजनम् ।। -मनुस्मृति 3/106

(5) तस्मिंस्तृप्ते नृयज्ञोत्थाद ऋणान्मुच्येद गृहाश्रमी ।। " मार्कपुराण 26/31

सदाचार का महत्व- मार्कण्डेय पुराण में अनेक स्थानों पर विशेषत: मदालसा द्वारा अलर्क को प्रदत्त ज्ञान-वर्णन-प्रसंग में सदाचार की महिमा प्रस्तुत है। जिसके अनुसार प्रत्येक गृहस्थ व्यक्ति को जीवन में सदाचार का पालन करना चाहिये, क्योंकि आचारहीन पुरूष को उभयलोक में सुख प्राप्त नहीं होता।[1] पुराणकार की दृष्टि में यज्ञ, तप, दान आदि का फल भी सदाचार के उल्लंघन से व्यर्थ हो जाता है।[2] धर्मशास्त्रों की ही वाणी के अनुरूप पुराणकार की उक्ति है कि दुराचारी व्यक्ति कभी दीर्घजीवी नहीं हो सकता[3] इस लिये सामाजिक, पारिवारिक व नैतिक उत्थान के लिये पुराणों मे एक स्वर से सदाचार के पालन पर जोर दिया गया। प्रस्तुत पुराण के अनुसार सदाचार समस्त दुर्गुणों को दूर करता है। सदाचार के अन्तर्गत प्रस्तुत पुराण में लगभग एक अध्याय में उन नियमों के पालन का वर्णन है जो आचार के अन्तर्गत आते हैं।

---

[1] गृहस्थेन सदा कार्यमाचारपरिपालनम्।
न ह्याचार विहीनस्य सुखमत्र परत्र वा ।।- मार्क॰पु 31/6

[2] यज्ञदानतपांसीह पुरूषस्य न भूतये।
भवन्ति य: सदाचारं समुल्लङ्घ्य प्रवर्त्तते।।- वही, 31/7

[3] दुराचारो हि पुरूषों नेहायुर्विंदते महत्।
कार्यो यत्न: सदाचारे आचारो हन्त्यलक्षणम्। - वही, 31/8
साम्यता के लिये द्रष्टव्य-
दुराचारो हि पुरूषो लोके भवति निन्दित:।
दु:खभागी च सततं व्याधितोऽल्पायुरेवच ।। मनुस्मृति, 4/157

तथा
आचाराल्लभते ह्यायुराचारा दीप्सिता: प्रजा:
आचारादधनमक्षय्यमाचारो हन्त्यलक्षणम् ।। वही, 4/156

जिनमें मुख्यत: -धनार्जन में धर्मसंचय का समावेश, निष्काम कर्म, धर्म कार्य, उपासना, अनुष्ठान आदि है , असत् वाक्य, अनृत वाक्य, कर्कश वाक्य का त्याग करने के साथ- साथ असत् शास्त्र, असत् वाद, तथा असत सेवा का भी परित्याग करने की पुराण वर्णित उक्ति [1] सदाचार और सत्य के पालन के लिये जनमानस को उद्वेलित करने का साहित्यिक प्रयास था।

<u>गुरू के प्रति कर्तव्य-</u> गुरू का आदर, सत्कार, सम्मान और अभिवादन भी नैतिक आचारों के अन्तर्गत महत्वपूर्ण कर्तव्य था। मार्कण्डेय पुराण के अनुसार अभ्युत्थान आदि से सत्कार सहित गुरू को आसन प्रदान करना , प्रणाम पूर्वक अनुकूल वार्ता करना तथा गमनकाल में उनका अनुगमन करना मनुष्य का कर्तव्य है ।[2] पुराणकार के अनुसार गुरू के प्रति प्रतिकूल वचन का प्रयोग वर्जित है। इसी प्रकार गुरू के दुष्कृतों को प्रकाशित नही करना चाहिये ।[3] और क्रुद्ध होने पर उनको प्रसन्न करना श्रेयस्कर है ।[4] अन्यत्र वर्णन है कि देवता की पूजा, अग्नि कार्य और गुरूजनों को प्रणाम करना सर्वथा उचित है ।[5] शान्ति नामक शिष्य की स्वगुरू के प्रति भक्ति और शुभाचार का आकाङ्क्ष्य उदाहरण-शान्ति कृत अग्नि स्तवन प्रसंग है जिसमें शान्ति अग्नि को प्रसन्न करके उनसे अपने गुरू के लिये वर माँगते हैं । [6]

---

[1] मार्क॰ पुराण, 31/20

[2] मार्क० पुराण, 31/33 -34

[3] वही, 31/39

[4] वही, 31/39

[5] वही 31/63

<u>अन्य सद्धर्म- आचरण-</u> प्रस्तुत पुराण में मदालसा- अलर्क संवाद में नैतिक सद्धर्म की स्पष्ट विवेचना है जिसमें सत्यता, साधुपरायणता, सदाचारी से मित्रता, मात्सर्यहीनता, न्यायमार्ग का अनुसरण आदि को सदाचारी व्यक्ति का धर्म कहा गया है । इसी प्रकार अन्यत्र वर्णित है कि आर्त्त व्यक्ति की रक्षा करनी चाहिये, चाहे शत्रु भी आतुर होकर शरण में आश्रय की माँग करे तो उस पर अनुग्रह करना सद्धर्म है ।(1) जो व्यक्ति दु:खी जनों की रक्षा नहीं करता उसका यज्ञ, तप आदि से प्राप्त फल भी निष्फल है, ।(2) पुराणकार बालक, वृद्धों पर भी दया-प्रदर्शन को मानवीय धर्म कहता है(3) सभी प्राणियों में दया, अच्छा सम्भाषण, परलोक के लिये क्रिया, सत्यता, गुरू, देव आदि की पूजा, साधु संगम, सत्कर्म का अभ्यास, मित्रता, आदि सद्धर्म के ही लक्षण कहे गये हैं ।(4) सर्वभूतों के प्रति मैत्री का भाव नैतिक धर्म की सुगन्धि का महानतम् सौरभ था जिसकी गुंजना प्रस्तुत पुराण में प्रदर्शित है ।

<u>सदाचार का निषेधात्मक पक्ष-</u> प्रस्तुत पुराण में नैतिक धर्म की व्याख्या पाप- पुण्य, स्वर्ग-नरक आदि के सिद्धान्त पर मुख्यत: आधृत है । निषिद्ध कर्म या आचार ही पाप है जिनको करने से नरक की प्राप्ति होती है

---

(1) मार्क० पुराण, 15/61
(2) वही, 15/62
(3) वही, 15/63
(4) वही, 15/43 से 44

इन्हीं निषिद्ध कर्मों को हम सदाचार का निषेधात्मक पक्ष कह सकते हैं प्रस्तुत पुराण के नरक -विपाक- विवरण के सन्दर्भ में ऐसे पापों से दूर रहने का संकल्प दिलाने का प्रयास किया गया है जिसके अनुसार सदाचारी व्यक्ति को सदैव इस सुखदुखात्मक जगत के प्रति राग से दूर रहना चाहिए। क्योंकि राग से क्रोध, क्रोध से लोभ, लोभ से मोह, मोह से स्मृतिनाश तथा स्मृतिनाश से बुद्धिनाश तथा तत्पश्चात सर्वस्व नाश हो जाता है [1] इसी प्रकार अन्यत्र वर्णित है कि परिनिन्दा, कृतघ्नता, निष्ठुरता निर्लज्जता परदारोपसेवन, अपवित्रता, देवनिन्दा, वंचना, कृपणता, नरवध- ये सब निषिद्ध कर्म है। [2] अन्यत्र वर्णित है कि तड़ाग, उपवन आदि को क्षति पहुँचाना दुराचार है। [3] इसी प्रकार गुरू वाक्य या शास्त्र- वचन को न सुनने वाला दुराचारी है। [4] मदालसा द्वारा अलर्क को प्रदत्त ज्ञान प्रसंग में वर्णित है कि गुरूजन, पतिव्रता, यज्ञशील तप: परायण। [5]

---

[1] प्रवर्तति दुरात्मानो मनुष्यस्मृति नाशका: ।।
रागात्क्रोध: प्रभवति, क्रोधाल्लोभोऽभिजायते ।।
लोभाद्भवति सम्मोह: सम्मोहात्स्मृति विभ्रम:।।
स्मृतिभ्रंशाद बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात् प्रणश्यति ।।- मार्क0पुराण, 3/71-72

[2] परिनिंदा कृतघ्नत्वं परमर्मोपघट्टनम् ।।
नैष्ठुर्यं निर्घृणत्वं च परदोराप सेवनम् ।।
परस्वहरणाशा च देवतानां च कुत्सनम् ।।
निकृत्या वंचना नृणां कार्पण्यं च नृणां वध: ।।- वही, 15/40-41

[3] मर्यादाभंगकरा ये च तड़ागारराम भेदका:
एतेऽन्ये च दुराचारा दह्यन्ते तत्र किंकरै :।। वही, 12/5-6

[4] एकाक्षरं गुरूं यस्तु दुराचारो न मन्यते।
न श्रणोति गुरोर्वाक्यं शास्त्र वाक्यं तथैव च ।। वही, 12/20-21
एते पापा दुराचारास्तत्र तैर्यम पुरूषै: ।।

[5] -वहीं, 31/86

व्यक्ति की असत्य निन्दा या हास्य करना उचित नहीं है इसी प्रसंग में बुद्धिमान पुरूष को दम्भ, अभिमान, तीक्ष्ण व्यवहार, चुगली, मर्मव्यथा आदि का त्याग करने का उल्लेख है ।[1] इसी प्रकार गुरू पत्न्यभिगामी, कन्यागामी, देवदारापहारी, ब्रह्मघ्न, धातक, मिथ्या साक्षी आदि की भी निन्दा की गयी है ।[2]

इस प्रकार पुराण के अनेक स्थलों पर नैतिक धर्म का प्रतिपादन किया गया है जो यह संकेत देते है कि साम्प्रदायिक धर्म का विशेष आग्रह होते हुए भी पुराणों का आग्रह नीति प्रधान जीवन तथा सदाचार पर था इसीलिये मदालसा द्वारा अपने पुत्र को राज धर्म, वर्ण धर्म आदि के साथ-साथ सदाचार का भी ज्ञान प्रदान करने का प्रसंग प्रस्तुत पुराण में आख्यात है । छः नरकों के वर्णन प्रसंग में काम, क्रोध, मद, लोभ, अहंकार व मोह इन छः मानस विकारों का ही प्रतिफल वर्णित है । नैतिक आचार का यह नियम- प्राचीन था जो स्मृतियों में भी वर्णित है जिसे पुराण कार ने समसामयिक परिस्थितियों में अपने ग्रन्थों में प्रस्तुत कर जनमानस को नैतिक सम्बल प्रदान करने का प्रयास किया ।

---

(1) मार्क पुराण 31/47

(2) मार्क० पुराण 10/81, 10/82

उपसंहार

पूर्वोक्त विवेचन से स्पष्ट है कि पुराणकार का उद्देश्य धार्मिक समन्वयवाद का आदर्श प्रस्तुत करते हुये विभिन्नों धर्मों के सम्प्रदायों के बीच एकता स्थापित करना था । देव विशेष की महत्ता को प्रतिपादित करने वाले आख्यानों की रचना करने के साथ - साथ उनमें, "एको बहुधा त्वमत्र", "एको सद्विप्रा बहुधा वदन्ति", "एकैवाहं द्वितीया का ममापरा", जैसे वाक्यों के आदर्श गुंजित करना भी प्रस्तुत पुराण की विशेषता है । कालिदास की यह उक्ति -

"बहुधाप्यागमैर्भिन्ना पन्थानः सिद्धि हेतवः।
त्वय्येव निपतन्त्योघा जाह्नवीयाइवार्णवे ।।"

मार्कण्डेय पुराण में भी भावाभिव्यंजना की दृष्टि से चरितार्थ हुई है । जिस प्रकार विभिन्न नदियों की धारायें समुद्राभिगामिनी होती हैं उसी प्रकार सभी साम्प्रदायिक भावनायें और आदर्श एक ही परम शक्तिमान तत्त्व की अभिव्यंजना प्रस्तुत करतें हैं । पुराणकार ने इस तथ्य को अत्यन्त सहज ढंग से इस प्रकार अभिव्यक्त किया है - "जैनों का कैवल्य, बौद्धों की बोधावगति, साख्यों का ज्ञान, योगियों का प्राकाम्य, योगाचार का विज्ञान, धर्मशास्त्रियों की स्मृति, वेदांतियों का संवित्, वैदिकों की पराविद्या, ब्रह्मवादियों की शाश्वत् ज्योति - ये सब एक ही ज्योतिष्मान् सूर्य के विभिन्न रूप है ।[1]

---

1. मार्क. पुराण, 101 / 18-19

पुराणकार ने किसी देव का निराकरण नहीं किया वरन् उनकी सम्मिलित शक्ति को प्रधानता और सर्वोच्चता प्रदान कर समाज में एकता का संदेश दिया । सर्वदेवशक्ति-समूह-मूर्त्या परमा देवी दुर्गा द्वारा महिषासुर का वध सम्बन्धी आख्यान एक ओर पुराणकार के धार्मिक समन्वयवाद के आदर्श का द्योतक है, वहीं दूसरी ओर इस आख्यान के माध्यम से पुराणकार का संदेश है – 'संघे शक्ति कलौ युगे'। एकता ही वह शक्ति है जो अन्याय, बुराइयों, अत्याचारों आदि के विरुद्ध जनमानस को विजय दिला सकती है ।

इसी प्रकार पुराणकार ने सूर्य आख्यान, ब्रह्मा विषयक आख्यान, अग्नि, शिव आदि सभी से सम्बद्ध प्रसंगों में परम शक्ति का ही द्योतन करके उन्हीं की इच्छा, प्रेरणा और रूप से ब्रह्मा – विष्णु – रूद्र द्वारा सृष्टि-प्रवृत्ति-संहार में प्रवृत होने का प्रतिपादन किया है । इस प्रकार प्रस्तुत पुराण में सर्वत्र एकेश्वरवाद की ही प्रतिष्ठा दृश्यमान है भले ही इस परम शक्ति का समीकरण अलग – अलग आख्यानों में अलग – अलग देव से स्थापित किया गया है ।

समन्वयवादी दृष्टिकोण के ही परिणामस्वरूप प्रस्तुत पुराण में पुरातन और नूतन दोनों प्रकार की धारणाओं के प्रति उदार दृष्टिकोण दिखाई देता है । इसी के अनुरूप शक्ति – महत्ता वानस्पतिक जगत की अधिष्ठात्री महीमाता, मातृदेवी आदि रूपों में वर्णित है तो वहीं इस संदर्भ में शाकम्भरी, दुर्गा, अन्नपूर्णा, रक्तदन्तिका आदि रूपों में

पौराणिकों की नवीन कल्पना का भी सामन्जस्य है । वैदिक सप्त स्वसार:, पौराणिकों की सप्तमातृकाओं के रूप में, गोलाकार पिण्ड स्वरूप सूर्य - मानवीय रूप में, रुद्र शिव की शक्ति काली के रूप में प्रस्तुत की गई । यही वेदार्थ का पौराणिक उपबृंहण था । इसी प्रकार उपासना पद्धति के सन्दर्भ में भी प्रस्तुत पुराण में जप, ध्यान, मन्त्र, स्तोत्र, प्रार्थना के साथ भक्ति का भी समन्वय प्रस्तुत किया गया । मधु-कैटभ युद्ध, महिषासुर-वध, सृष्टि-वर्णन सभी वेदार्थ का उपबृंहण करते हैं ।

प्राचीन युग से संवलित उपासना-पद्धतियों, आचार-विचारों, कल्पनाओं - मान्यताओं सबका एक विराट समन्वय प्रस्तुत पुराण में देखा जा सकता है । अनेकता से आवृत्त होते हुए भी ऐक्य की भावना प्रस्तुत पुराण की धार्मिक समृद्धता के विवर्द्धक है ।

पौराणिकों ने वेदार्थ को नाना स्वरूपों में पुराण साहित्य में संजोया । महाकवि माघ की यह उक्ति कि "जिस प्रकार मेघ समुद्र का जल लेकर आकाश में जाते है और पुन: नदियाँ उसे समुद्र में भर देती है उसी प्रकार आचार्यों ने वेदों से लेकर अर्थ स्मृतियों में भरा और स्मृतियाँ पुन: उसे वेद परायण अर्थों में प्रकट करती है "; पुराण साहित्य पर अक्षरश: सत्य प्रतिभाषित होती है । मार्कण्डेय पुराण वर्णित अग्निस्तोत्र, §अदितिकृत सूर्यस्तोत्र, ब्रह्माकृत सूर्यस्तुति, ब्रह्मा कृत योगनिद्रा की स्तुति

आदि वैदिक अभिप्रायों से सम्पृक्त है । स्थान - स्थान पर प्रसंगत: वैदिक त्रयी की भावना का समावेश हुआ है । पौराणिकों ने त्रिगुणात्मक परम ब्रह्म की कल्पना की । सूर्य के तीन विग्रहों - ‌{1} प्राकृतिक, {2} मानवीय, {3} सूक्ष्मातिसूक्ष्म ॐकार रूप - दत्तात्रेय के तीन रूपों - {1} योगीश्वर, {2} अंशावतारी, {3} अवधूत तथा ब्रह्मा आदि देवों द्वारा रूपत्रय से सृष्टि, पालन, संहार करने सम्बन्धी आख्यानों में वैदिक "त्रयी" की भावना ही परिलक्षित होती है । वेदों में भी त्रिगुणमयी सृष्टिविद्या की मूल प्रतिष्ठा क्षर - अक्षर-अव्ययात्मक ब्रह्म में प्रतिपादित है । वेदों के इस "त्रिक" का उपबृंहज पौराणिक सृष्टि विज्ञान का आधार है । इस प्रकार पौराणिक लेखकों ने एक ओर वैदिक आधार भूमि पर पुराणों का कलेवर संजोया तो दूसरी तरफ लोकमानस के धरातल पर अनेक नवीन तत्त्वों से उसे संवारा भी ।

नैतिकता, धर्म का ही एक अभिन्न अंग है । प्राचीन काल से नैतिकता युक्त आचरण, व्यक्ति और समाज दोनों के अभ्युत्थान का साधन माना गया । प्राय: सभी धर्मों - सम्प्रदायों ने मानव के शाश्वत सुखोपलब्धि के लिये नैतिक आचरणों के पालन पर जोर दिया । नैतिक आचरणों को अधिकाधिक व्यवहारशील बनाने के लिये स्वर्ग-नरक की कल्पना की गई और जनमानस में इस भावना का संचार किया गया कि कर्म-फलानुसार स्वर्ग - नरक की प्राप्ति होती है । स्वर्ग प्रतीक है - नैतिक आचरणों के पूर्णपालन का तथा नरक - गामी होने का अर्थ है -

निषिद्ध आचरणों का पालन । प्रस्तुत पुराण में इन सदाचरणों तथा निषिद्ध कर्तव्यों की व्याख्या सामान्यत: सभी प्रसंगों में, विशेषत: नरकप्रसंग, कर्मविपाक तथा मदालसा - अलर्क - संवाद में प्रतिपादित है । जिससे स्पष्ट है कि पुराणकार का आग्रह सम्प्रदाय - विशेष के देवों से सम्बद्ध आख्यानों के प्रस्तुतीकरण के साथ - साथ उन सदाचरण के विधानों को भी प्रतिपादित करना था, जो व्यक्ति और समाज में सामंजस्यपूर्ण सम्बन्धों के लिये उपयोगी तो है ही, साथ ही साथ व्यक्ति विशेष के चारित्रिक - धार्मिक उत्थान में प्रबल सहायक भी है और इस रूप में प्रस्तुत पुराण का चारित्रिक धरातल काफी उन्नत है जिसमें गृहस्थ धर्म का महत्व प्रतिपादित कर समाज में नारी को महत्वपूर्ण स्थान दिलाने का प्रयत्न है तो दूसरी ओर सामाजिक भ्रष्टाचार, व्यभिचार, अत्याचार, अन्याय के विरुद्ध जनशक्ति को एकत्रित करने का तुमुल घोष भी है जो महिषासुर वध में तेजोराशिसमूहभूता देवी के योगदान सम्बन्धी आख्यान द्वारा प्रतिपादित है । सत्य, अहिंसा, निष्काम कर्म, नारी धर्म, राज धर्म, सदाचरण आदि के प्रतिपादन से प्रस्तुत पुराण का धार्मिक महत्व और अधिक बढ़ जाता है । इस प्रकार प्रस्तुत पुराण धार्मिक संस्कृति के विभिन्न पक्षों की सुरभि से संवलित सौरभ है जिसकी गुंजना देव समूह तथा सदाचरण दोनो दृष्टि से प्रसरित थी ।

सन्दर्भिका

मूल ग्रन्थ -

1.	अथर्ववेद संहिता	सं० पं० श्रीपाद दामोदर सातवलेकर, स्वाध्याय मण्डल पारडी (गुजरात) चतुर्थ संस्करण
2.	अमर कोश	सं० श्री सत्यदेव मिश्र क्वालालम्पुर 1972 (यूनिवर्सिटी आव मलाया)
3.	अभिज्ञान शाकुन्तलम्	सतोशचन्द्र बसु द्वारा सम्पादित, बनारस 1897
4.	अग्नि पुराणम्	श्री बलदेव उपाध्याय द्वारा सम्पादित, चौखम्भा संस्कृत सीरीज, वाराणसी, 1966
5.	ऐतरेय ब्राह्मण	आनन्दाश्रम प्रेस, पूना, 1896
6.	ईशावास्योपनिषद	गीताप्रेस, गोरखपुर
7.	ऋग्वेद संहिता	पं० श्रीपाद दामोदर सातवलेकर द्वारा सम्पादित गुजरात, चतुर्थ संस्करण
8.	कठोपनिषद	गीताप्रेस, गोरखपुर
9.	कादम्बरी, बाणकृत	सं० रामचन्द्र काले, बम्बई ।
10.	कालिका पुराण	बम्बई, शक संवत 1929

11.	कुमार सम्भव	भरद्वाज गंगाधर शास्त्री द्वारा सम्पादित, बनारस ।
12.	कूर्म पुराण	पंचानन तर्करत्न द्वारा सम्पादित तथा बंगवासी प्रेस द्वारा प्रकाशित कलकत्ता, वि. सं0 1332
13.	कौटिल्य-अर्थशास्त्र	श्री भारतीय योगी द्वारा सम्पादित तथा संस्कृति संस्थान, बरेली (उ0प्र0) द्वारा प्रकाशित 1973.
14.	गरूड़ पुराण	क्षेमराज श्री कृष्ण दास द्वारा प्रकाशित बम्बई, 1906
15.	गौतम धर्म सूत्र	आनन्दाश्रम संस्कृति सीरिज, 1910
16.	छान्दोग्य उपनिषद	गीताप्रेस, गोरखपुर
17.	तैत्तरीय आरण्यक	सायण भाष्य सहित सं0 श्री हरि नारायण आप्टे आनन्दाश्रम प्रेस, पूना 1898
18.	तैत्तरीय उपनिषद	गीताप्रेस, गोरखपुर
19.	तैत्तरीय संहिता	कलकत्ता, 1854
20.	दुर्गा सप्तशती	गीता प्रेस, गोरखपुर ।
21	देवी भागवत पुराण	गीता प्रेस, गोरखपुर
22.	दशकुमार चरित्र (दण्डीकृत)	मोती लाल बनारसी दास वाराणसी 1974
23.	पद्म पुराण	श्री वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई
24.	प्रश्नोपनिषद	आनन्दाश्रम मुद्रणालय, 1932
25.	पातंजलयोग दर्शनम्	भारतीय विद्या प्रकाशन वाराणसी 1981

26. बृहदारण्यक उपनिषद — आनन्दाश्रम संस्कृत सीरीज, हरिनारायण आप्टे द्वारा प्रकाशित

27. बौधायन धर्म सूत्र — सं० चिन्नास्वामी शास्त्री, काशी संस्कृति सीरीज नं० 104, 1934

28. ब्रह्माण्ड पुराण — क्षेमराज श्रीकृष्णदास द्वारा प्रकाशित बम्बई 1906

29. भविष्य पुराण — वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई 1897

30. भागवत पुराण — गीता प्रेस, गोरखपुर

31. भगवद्गीता — गीताप्रेस, गोरखपुर

32. मत्स्य पुराण — कल्याणांक, गीता प्रेस, गोरखपुर

33. मनुस्मृति — कुल्लूकभट्ट-भाष्य सहित-चौखम्भा संस्कृत संस्थान, वाराणसी सम्वत् 2039

34. महाभारत — गीता प्रेस, गोरखपुर

35. मार्कण्डेय पुराण — श्री वेंकटेश्वर प्रेस बम्बई का पुनः मुद्रण नाग पब्लिशर्स, नई दिल्ली तथा बिब्लोथिका इण्डिका, कलकत्ता

36 मेघदूत — एस. के. डे- द्वारा सम्पादित, साहित्य अकादमी नई दिल्ली 1957

37. मुण्डकोपनिषद — गीता प्रेस, गोरखपुर

38. माण्डूक्य उपनिषद — अहिताग्नि यमुना प्रसाद त्रिपाठी द्वारा सम्पादित, लखनऊ 1966

39. यजुर्वेद — वाजसनेयी संहिता, काशी संस्कृत सीरिज, वाराणसी,

40. याज्ञवल्क्य स्मृति — वासुदेव लक्ष्मण शास्त्री द्वारा सम्पादित, बम्बई, 1926

41.	योगसूत्र	काशी संस्कृत सीरीज, वाराणसी, 1934
42.	रामायण, बाल्मीकी	गीता प्रेस, गोरखपुर
43.	रघुवंश	चौखम्बा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, 2039 वि0 सं0
44.	रत्नावली (हर्षदेव रचित)	पूना ओरियन्टेल बुक हाउस, पूना, 1954
45.	लिंग पुराण	जीवानंद विद्यासागर द्वारा सम्पादित कलकत्ता, 1885
46.	वराह पुराण	श्री आनन्द स्वरूप गुप्त द्वारा सम्पादित काशीराज न्यास, राम नगर दुर्ग, वाराणसी, 1983
47.	वामन पुराण	कल्याणांक, गीता प्रेस, गोरखपुर
48.	विष्णु पुराण	गीता प्रेस, गोरखपुर
49.	विष्णु धर्मोत्तर पुराण	वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई
50.	वायु पुराण	हरि नारायण आप्टे द्वारा प्रकाशित, पूना 1905
51.	वाजसनेयीसंहिता	काशी संस्कृति सीरीज, वाराणसी 1912-15
52.	शतपथ ब्राह्मण	पं0 राम नाथ दीक्षित द्वारा सम्पादित, चौखम्भा संस्कृत संस्थान वाराणसी, वि0 सं0 2040
53.	श्वेताश्वेतर उपनिषद	गीता प्रेस, गोरखपुर
54.	स्कन्द पुराण	वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई
55.	हरिवंश पुराण	गीता प्रेस, गोरखपुर

आधुनिक शोध ग्रन्थ (हिन्दी)

1. अग्रवाल, वासुदेव शरण

(1) प्राचीन भारतीय लोकधर्म
अहमदाबाद, 1964

(2) भारतीय कला
पृथ्वी प्रकाशन, वाराणसी 1977

(3) मार्कण्डेय पुराण: एक सांस्कृतिक अध्ययन
हिन्दुस्तानी एकेडमी, इलाहाबाद

(4) वामन पुराण: एक सांस्कृतिकअध्ययन
पृथ्वी प्रकाशन, वाराणसी, 1964

(5) भारतीय धर्म मीमांसा
सं0 पृथ्वी कुमार अग्रवाल
पृथ्वी प्रकाशन, वाराणसी

(6) हर्ष-चरित एक सांस्कृतिक अध्ययन
भारतीय राष्ट्रभाषा परिषद, 1953

(7) पाणिनी कालीन भारतवर्ष
मोतीलाल बनारसी दास, वाराणसी
सं0 2012

2. अल्टेकर, ए.एस

गुप्तकालीन मुद्रायें

3. उपाध्याय, वासुदेव

(1) स्तूप, गुहा और मन्दिर
पटना, 1972

(2) प्राचीन भारतीय अभिलेख
प्रज्ञा प्रकाशन, पटना

(3) प्राचीन भारतीय मूर्ति विज्ञान
चौखम्भा, संस्कृत सीरीज वाराणसी,
1970

4.	उपाध्याय, बलदेव	पुराण विमर्श चौखम्बा विद्याभवन वाराणसी, 1965
5.	काणे, पी०वी०	धर्म शास्त्र का इतिहास प्रथम से पंचम भाग पूना 1953 {हिन्दी अनुवादक} अर्जुन कश्यप चौबे सूचना विभाग, लखनऊ {उ०प्र०}
6.	कृष्ण देव	उत्तर भारत के मन्दिर अनु० ओम प्रकाश टण्डन नेशनल बुक ट्रस्ट इण्डिया, 1969
7.	गुप्त, परमेश्वरी लाल	गुप्त साम्राज्य
8.	चतुर्वेदी, परशुराम	वैष्णवधर्म, विवेक प्रकाशन, इलाहाबाद, 1953
9.	त्रिपाठी, कृष्ण मणि	पुराणपर्यालोचनम् सं० डा० विश्वनाथ पाण्डेय चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी, 1976
10.	थपलियाल, के०के०	सिन्धु सभ्यता उ०प्र० हिन्दी संस्थान, लखनऊ, 1976
11.	दिनकर, रामधारी सिंह	भारतीय संस्कृति के चार अध्याय
12.	दुबे, हरिनारायण	{1} पुराण समीक्षा इण्टरनेशनल इन्स्टीटयूट फार डेवेलपमेन्ट रिसर्च, इलाहाबाद, 1984 {2} कल्चरल डाटा आफ वामन पुराण इलाहाबाद विश्वविद्यालय में प्रस्तुत शोध प्रबन्ध

13. पाण्डे, चन्द्रदेव — साम्ब पुराण का सांस्कृतिक अध्ययन
शोध प्रबन्ध

14. बाशम, ए. एल. — अद्भुत भारत
अनु0- वेंकटेश चन्द्र पाण्डे
आगरा - 1978

15. बैनर्जी, आर. डी. — गुप्त युग
अनु0 डा0 आनन्द कृष्ण
हिन्दी प्रकाशन समिति,
वाराणसी, 1970

16. भण्डारकर, राम कृष्ण गोपाल — वैष्णव, शैव और अन्य धार्मिक मत
अनु0-महेश्वरी प्रसाद
भारतीय विद्या प्रकाशन
वाराणसी 1967

17. भट्टाचार्या, रामशंकर — पुराणगत वेद विषयक सामग्री का समीक्षात्मक अध्ययन, हिन्दी साहित्य सम्मेलन
इलाहाबाद 1965

18. मैक्डोनेल, ए. ए. — वैदिक माइथालोजी
(वैदिक पुराकथाशास्त्र)
अनु0 (रामकुमार राय)
चौखम्बा विद्याभवन,
वाराणसी, 1984

19. मिश्र, इन्दुमती — प्रतिमा विज्ञान
मध्य प्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी
भोपाल

20. मिश्र, जयशंकर — प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास
बिहार हिन्दी ग्रन्थ अकादमी
1974

21. राय, उदय नारायण — (1) गुप्त सम्राट और उनका काल, लोक भारती प्रकाशन, इलाहाबाद 1976

(2) शालभंजिका, लोक भारती प्रकाशन, इलाहाबाद 1980

(3) प्राचीन भारत में नगर तथा नगर जीवन, इलाहाबाद 1965

(4) हमारे पुराने नगर, हिन्दुस्तानी एकेडमी, इलाहाबाद 1969

22. राय, सिद्धेश्वरी नारायण — पौराणिक धर्म और समाज, पञ्चनंद पब्लिकेशंस, इलाहाबाद 1968

23. रानाडे, रामचन्द्र दत्तात्रेय — उपनिषद दर्शन का रचनात्मक सर्वेक्षण, अनु0 - रामानन्द तिवारी, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर 1989

24. लाहा, विमल चरण — प्राचीन भारत का ऐतिहासिक भूगोल, अनु0 - रामकृष्ण द्विवेदी, उ0प्र0 हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, लखनऊ, 1972

25. वर्मा, एस. बिहारी लाल — भारत में प्रतीक पूजा का आरम्भ और विकास, बिहार हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, पटना ।

26. सिंह, भगवान, — गुप्तकालीन हिन्दू देव प्रतिमायें, रामानन्द विद्याभवन, दिल्ली 1982

27. श्रीवास्तव, बलराम — पल्लव इतिहास और उसकी आधार सामग्री

28. शर्मा, ज्वाहरलाल — श्रीमद्द भागवत का सांस्कृतिक अध्ययन
राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी
जयपुर .

29. शास्त्री, नीलकंठ — (1) दक्षिण भारत का इतिहास
अनु० (डा० वीरेन्द्र वर्मा)
बिहार हिन्दी ग्रन्थ अकादमी
पटना, 1972

(2) चोलवंश

30. शुक्ल, बदरी नाथ — मार्कण्डेय पुराण, एक अध्ययन
चौखम्बा विद्याभवन,
वाराणसी, संवत 2018

आधुनिक शोध ग्रन्थ (अंग्रेजी)

1. Agrawal, V.S. — 1. Vaman Purana - A study, Varanasi, 1964.
   2. Matsya Purana - A study - Varanasi, 1963.

2. Ali S.M. — The Geography of the Puranas, New Delhi 1966.

3. Altekar, A.S. — Position of women in Hindu Civilization The culture publication House, B.H.U. Benaras, 1938.

4. Banerji, J.N. — Development of Hindu Iconography Mushiram Manoharlal Publishers Pvt. Ltd. 1985.

5. Basham, A.L. — The wonder that was India, London, 1954

6. Barnett, L.D. — Hindu Gods and Heroes ESS ESS Publications Delhi 1977.

7. Barth, A. — The Religions of India Translated by Re.J. Wood Light & Life Publishers Delhi 1978.

8. Bhandarkar, R.G. — Vaisnavism, Saivism and Minor Religious systems, strassburg, 1913.

9. Bhattacharya, N.N. History of Shakta Religion
Mushiram Manoharlal Publishers Pvt.Ltd.
Delhi 1974.

10. Chowdhary, H.C. Roy Materials for the study of the early History of the vaisnava sect.
Oriental Books Reprint Corporation
Delhi.

11. Desai, Y. Nileshawari Ancient Indian Society, Religion, and Mythology as depicted in the mārk- Purāṇa.
M.S. Boroda, 1968.

12. Rarquhar, J.N. An outline of the Religious literature of India, London, 1920.

13. Hazra, R.C.
1. Studies in the Upa Puranas
Vol. I 1960
Vol. II 1963
2. Puranic Records on Hindu Rites and Customs, Dacca, 1940.

14. Hopkins, E.W.
1. Religions of India, London, 1889,
2. Epic Mythology, London, 1915.

15. Kantawala, S.G. Cultural History from the Matsya Purana, M.S. University, Baroda 1964.

16. Keith, A.B. and Macdonell, A.A. Vedic Index, London, 1912.

17. Kosambi, D.D. The culture and civilization of Ancient India.

18. Lalye, P.G. Studies in Devi Bhagvata Bombay 1973.

19. Law, B.C. Historical Geography of Ancient India 1954

20. Majumdar, R.C.
1. Classical Age Bhartiya Vidya Bhavan Bombay, 1954.
2. Age of Imperial Unity Bhartiya Vidya Bhavan Bombay, 1951.
3. Vedic Age, London, 1951.

21. Pargite , E.F.
1. The Mārkaṇḍeya Purāṇa (English Translation) Biblothica Indica Asiatic Society of Bengal Calcutta, 1904.
2. Ancient Indian Historical Tradition Oxford, 1922.

22. Pande, G.C. Studies in the origins of Buddhism Allahabad, 1957.

23.	Pandey, L.P.	Sun worship in Ancient India, 1971.
24.	Parimoo, Ratan	(edi) Vaisnavism in Indian Arts and culture, New Delhi, 1987. (A collection of papers on 'Impact of Vaishavism on the Indian Arts).
25.	Pusalkar, A.D.	Studies in the Epics and Puranas Bombay, 1955.
26.	Roy,S.N.	Historical and cultural studies in the Puranic Publications, Allahabad, 1978.
27.	Rao, Gopinath	Elements of Hindu Iconography.
28.	Sahay, Bhagvant	Iconography of Minor Hindu and Buddhist deities.
29.	Singh, M.R.	Geographical Data in the early puranas, A critical study. Punthi Pustak, Calcutta, 1972.
30.	Sircar, D.C.	Select Inscriptions, Calcutta, 1942.
31.	Srivastava, V.C.	Sun worship in Ancient India Indological Publications Allahabad, 1972.
32.	Srivastava, B.	Iconography of Shakti, Chawkhamba Vishwabharti, 1978.

33. Thomas, P. Hindu Religion, Customs and Manners D.B. Tara Porevala Sons & Co. Pvt. Ltd. 1971, Bombay.

34. Wilson, H.H. VishnuPurana (Traslation) Londen.

35. Winternitze, M. A History of Indian Literature Translated by Srinivasa Sharma Moti Lal Banarsidas Delhi 1981.

Journals -

1. Annals of Bhandarkar Oriental Research Institute

2. Archacological Survey Reports

3. Indian Historical Quarterly

4. Journals of Bombay Branch of Royat Asiatic Society

5. Journal of Allahabad University Studies

6. Journal of Bihar Oriental Society

7. Journal of Bihar & Orissa Research Society

8. Journal of Ganga Nath Jha Research Institute, Allahabad

9. Journal of U.P. Historical Society,

10. Journal of Royal Asiatic Society of Bengal

11. Puraham, All India Kashi Raj Trust Varanasi

12. Kalyan (कल्याण) Geeta-Press, Gorakhpur.

13. Hindustani, (हिन्दुस्तानी) Hindustan Acadamy Allahabad.

अभिलेख -

1- गुप्त अभिलेख, उपाध्याय वासुदेव, बिहार हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, पटना, 1974 ई0

2- प्राचीन भारतीय अभिलेखों का अध्ययन, उपाध्याय वासुदेव, दिल्ली 1974 ई0

3- सेलेक्ट इंसक्रिप्शन्स, सरकार, डी.सी., कलकत्ता, 1965

चित्र संख्या - 1
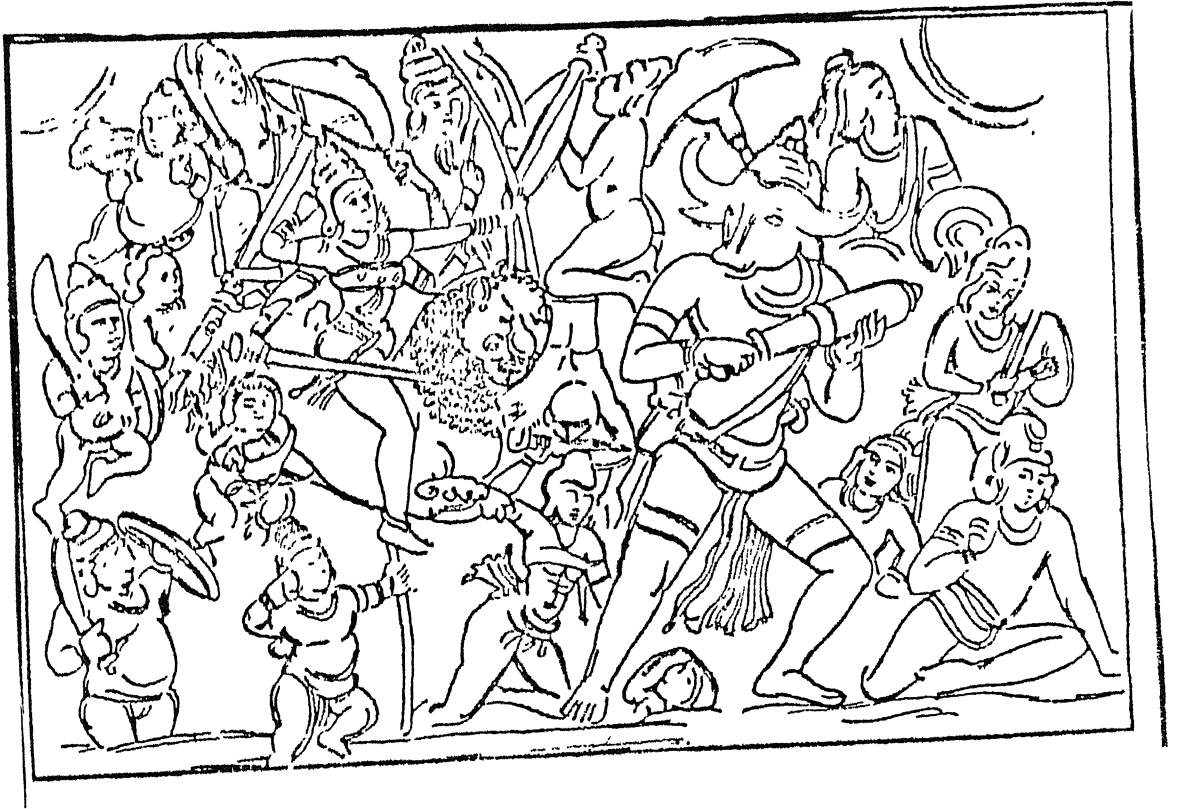
चित्र संख्या - 2

चित्र संख्या - 3

चित्र संख्या - 4

चित्र संख्या - 5

चित्र संख्या - 7
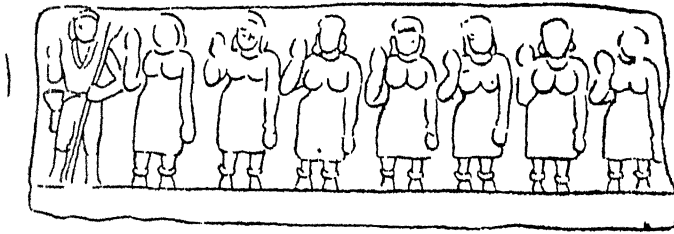
चित्र संख्या - 6

चित्र संख्या - 8

चित्र संख्या - 9

चित्र संख्या - 10

चित्र संख्या - 11
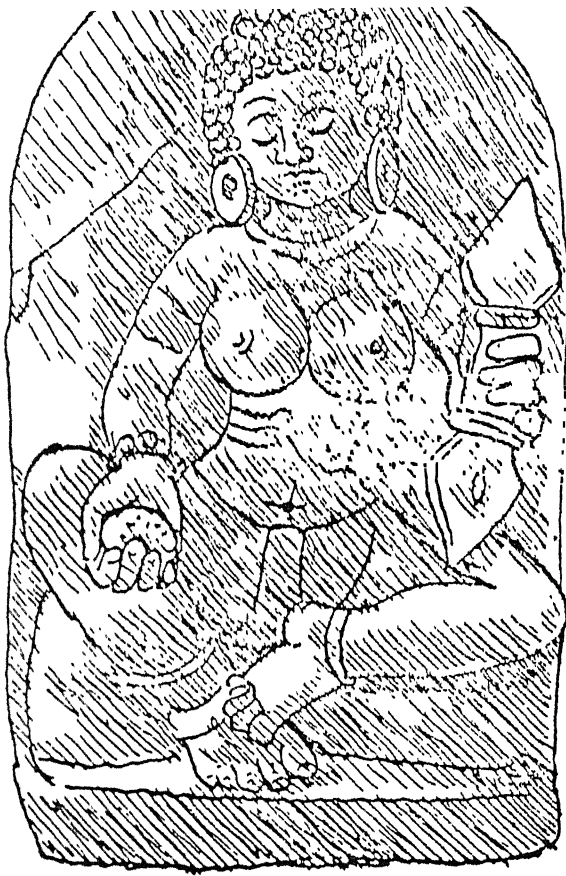
चित्र संख्या - 12
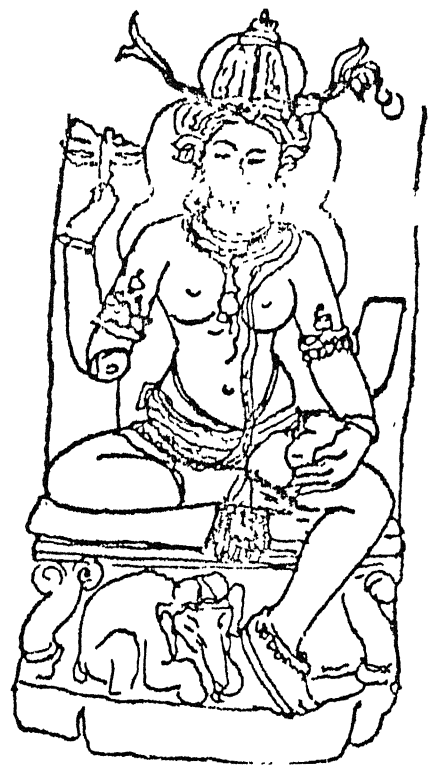
चित्र संख्या - 13

चित्र संख्या - 14

चित्र संख्या - 15
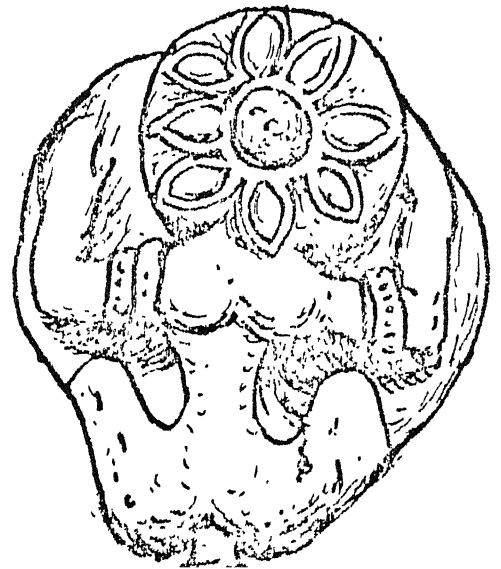
चित्र संख्या – 16 →

(　　　　)

PL. 1b
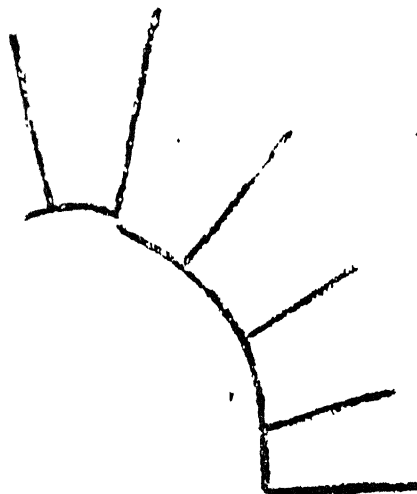
← चित्र संख्या – 17

चित्र संख्या - 18

चित्र संख्या - 19